सम्पादन

कमला प्रसाद

मैनेजर पाण्डे

ज्ञान रंजन

'पहल' द्वारा प्रकाशित

वितरक : सम्भावना प्रकाशन, हापुड़

मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र



मुद्रक : गोयल प्रिन्टर्स, इलाहाबाद
आवरण एवं सज्जा : इम्पैक्ट, इलाहाबाद; शशांक,
नवम्बर १९७७ : प्रथम संस्करण
मूल्य : ३५.००
वितरक : सम्भावना प्रकाशन, हापुड़

MARXVADI SAUNDARYASHASTRA

Editor : Kamla Prasad
Manager Pandey
Gyan Ranjan

"हाथों के दिन आएँगे, कब तक आएँगे,
यह तो कोई नहीं बताता। करने वाले
जहाँ कहीं भी देखा अब तक डरने वाले
मिलते हैं। वे सुख की रोटी कब खाएँगे,
सुख से कब सोएँगे, कब उसको पाएँगे
जिसको पाने की इच्छा है। हरने वाले
हर हर कर अपना घर भरने वाले
कहाँ नहीं हैं। हाथ कहाँ से क्या लाएँगे।"

—त्रिलोचन शास्त्री

प्रगतिशील धारा के कवि
त्रिलोचन शास्त्री को समर्पित

साठ वर्ष की सार्थक यात्रा पूरी करने पर
हार्दिक अभिनन्दन।

क्रम

खण्ड—तीन : 'विचारक'

परिशिष्ट

प्रकाशकीय



पश्चिमी देशों की भाँति हमारे देश के रचना धर्म पर अवास्तविक शून्यवादी अवधारणायें लम्बी परम्परा के मार्फत छायी रही हैं। परम्पराओं ने शाश्वत मूल्यों के नाम पर सामाजिक दर्शन के साथ कला दर्शन को निराकार बना दिया था। धारणा बन गई थी कि निराकारता ही अद्वैत और चिरन्तन हो सकती है। चिरन्तन मूल्यों से प्राप्त आनन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा जाता था। जाहिर है कि ये मूल्य भौतिक कष्ट का एहसास गैर मानवीय तरीके से कराते थे सन्तत्व के अधीन चलता कलाशास्त्र इस बात पर जोर दिया करता था कि जीवन की भौतिक सच्चाइयों के जो बिम्ब छायायें और आकृतियाँ चेतनी में रच गई है उन्हें मिटाने के बाद और इस तरह मानस को बिम्बहीन, शून्य और अमूर्त बनाकर ही शाश्वत हुआ जा सकता है। जीवन की यथार्थता के भीतर शून्यता का अभ्यास सम्भव नहीं होता–इसलिये इस जीवन दर्शन ने पलायन की संस्कृति को मान्यता दी। जिन्दगी से तटस्थ होना, संकट से मानसिक मुक्ति तथा होने के बावजूद न होने की प्रक्रिया ने नागरिक को गैर जिम्मेदार बनाया था। जमाने की मानवीय तड़पन- गुलामी शोषण का खुला व्यापार और हत्या चलती रहती थीं। कलाकार उन्हीं शोषकों के अधीन अथवा जंगली साधना–शिविरों में ब्रह्मानन्द सहोदर की कल्पना करता था। आध्यात्म का ऐसा मुलम्मा रचनाकार पर चढ़ा कि वह अपनी उपस्थिति ही भूल गया जीवन दृष्टि और मूल्य सत्ता के नाम पर पलायनवादी संस्कृति प्रभावशील रही। सांख्य, शैव, न्याय, वैष्णव अथवा शाक्त संस्कृतियाँ रचना शास्त्र को जन्म दे रही थीं। यही कारण है कि इस परम्परा की रचनायें हमें मानव जीवन की संवेदनशील जीवन्त परम्परा का बोध नहीं करातीं। दुर्भाग्य है कि भारतीय कलाशास्त्र के रचयिता गायक वे रहे हैं जिनका समाज शास्त्र से कोई लेन-देन नहीं था और वे रचना का नेतृत्व उन धीरोदात्त नायक को सौंपते थे जो विरासत में शोषकों की परम्परा से आया है।

मार्क्सवाद केवल जर्मनी अथवा रूस का दर्शन नहीं है। वह किसी एक व्यक्ति का चिंतन नहीं और न किसी देश के ही इतिहास का निचोड़। मार्क्स ने आदिम साम्य सभ्यता से लेकर प्राकृतिक, सामाजिक और मानविकी के समूचे विकास का सूक्ष्म विश्लेषण कर विकास के सामान्य नियमों की खोज की है। डार्विन ने इतिहास की विकास गति को पहली बार पहचाना था किन्तु उसकी समझ में वे क्रान्तिकारी शक्तियाँ नहीं आई थीं जो विकास नियमों को तीव्र करें, दिग्भ्रम को प्रमुख धारा से जोड़े, प्रतिगामी को प्रगतिशील करें और इस तरह मानवीय विकासधारा में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला सकें। मार्क्स की शोध प्रक्रिया समूचे ज्ञान बोध की व्याख्या और द्वन्द्व से तैयार हुई थी। भारतीय चिंतन और आध्यात्म परम्परा का उन्हें बारीक बोध था। इसलिये यह अध्ययन आधुनिक और समीचीन है। ज्ञान के विकास में सबसे अधिक विश्वसनीय क्रान्तिकारी। वैज्ञानिक होने के कारण दुनिया की दो तिहाई जनता ने उसे जीवन दर्शन के रूप में स्वीकृति दी देश, काल स्थिति और स्थान की संकीर्णताओं के बजाय इनके द्वन्द्व से सामान्य नियमों को खोज कर लेनिन, माओ, फिडलकैस्त्रो, हो ची मिन्ह आदि ने धरती के विशिष्ट भूखण्डों में मनुष्य की नई संस्कृति को जमीन में उतारा और भाववादी पलायन जन्य दृष्टियों को अमूर्त, अपर्याप्त, अव्यावहारिक करार दिया। भारत में भी स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान दूसरे दशक में यह विचार दृष्टि आ चुकी थी। स्वप्नलोक के कवि टैगोर, सुब्रमन्यम कवि भारती और प्रेमचन्द पर इसका तत्काल प्रभाव पड़ा था। इनके सहित अनेक रचनाकार क्रान्ति के स्वप्न देखने लगे थे। और अपनी बेलाग लेखनी से ब्रिटिश साम्राज्यवाद और देशी सामन्तों के खिलाफ सर्वहारा को संगठन की आत्मशक्ति प्रदान कर रहे थे। तीसरे दशक के समाप्त होते-होते रचनाकारों में अभूतपूर्व लहर दौड़ी। भावुकता के स्तर पर ही सही सख्यातीत रचनाकार जन्मे। सज्जाद जहीर, मुल्कराज आनन्द और प्रेमचन्द के प्रयास से प्रगतिशील लेखक संघ का जन्म हुआ। तत्काल बुर्जुआ सौन्दर्यवाद के खिलाफ जनवादी सौन्दर्य के पक्षधरों ने संकल्प लिया, "जीवन में एक नई सुन्दरता की तलाश लेखकों को प्रेरित करेगी कि वे उस सामाजिक व्यवस्था का उखाड़ फेंकें जिसमें एक व्यक्ति हजार व्यक्तियों पर अत्याचार कर सकता है। मानवीय आत्म सम्मान उन्हें प्रेरित करेगा कि वे पूंजीवाद, सैनिकवाद तथा साम्राज्यवाद के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा ऊंचा करें। फिर हमें इस सब के विरुद्ध अपनी गैर रजामन्दी को कागज पर व्यक्त करके ही संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिये, बल्कि हमें ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के लिये सक्रिय रूप से काम करना चाहिये जो सुन्दरता, सुरुचि तथा मानवीय महिमा का निषेध नहीं करती।" (प्रेमचन्द, अध्यक्षीय भाषण), संकल्प की नई उत्तेजना और दृष्टिकोण के साथ आरोह, अवरोह से गुजरते प्रगतिशील लेखन सम्प्रति राष्ट्रीय रचना कर्म के भीतर एक अनिवार्य धारा बन गया। पाँचवें दशक में इस धारा को राजनीतिक आक्रोश का शिकार होना पड़ा। छठवें दशक में आत्मवादी, प्रतिगामी और बुर्जुआ रचनाकारों ने संगठित हमला किया किन्तु अजय जनवादी सौन्दर्य दृष्टि रचनाकारों में जीवित रही। अटूट, दृढ़, जीवनी शक्ति का प्रमाण मुक्तिबोध की रचनाओं के प्रकाशनोपरान्त और बुलन्दी से मिला। सातवें और आठवें दशकों में यह शक्ति इतनी प्रभावशील हो गई कि बुर्जुआ कला के योजनाकार सांसत में पड़ गये। अतएव आज हम जहाँ खड़े हैं

हमारे पास मार्क्सवादी रचनाकारों की समर्थ श्रृङ्खला है। अब जरूरत इस बात की है कि हम समूची विरासत को पहचाने, आत्मलोचन करें और बुर्जुआ संस्कृति की रक्षा के लिये किये जा रहे तावड़तोड़ प्रयासों को आमूल नष्ट करने का वीड़ा लें। बुर्जुआ संस्कृति के जबरदस्त जमाव के बीच मार्क्सवादी कला दृष्टि को प्रतिष्ठित करने का काम बेहद जटिल है। तमाम संस्कृति केन्द्रों, प्रयोगशालाओं और रचना प्रसार माध्यमों में उनका कब्जा है। फिर भी सच्चाई के अटूट विश्वासों के जरिये उन्हें परास्त करना है। "मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र" की यह पुस्तक ऐसे ही प्रयास का एक अंग है।

"मार्क्सवादी सौन्दर्य दृष्टि" रचना के क्षेत्र में कोई आरोप नहीं है। अलवत्ता वह मनुष्य की शक्ति पर अटूट आस्था का सन्देश है। यह दृष्टि अस्वीकार करती है कि रचनाकार पैदा होते हैं। अज्ञात सत्ता रचयिता को शक्ति नहीं देती वह मनुष्य ही है जो शक्ति अर्जित करता है। वाह्य सत्ता और चेतना सत्ता के संघर्ष का रासायनिक सहयोग स्फूर्ति ऊर्जा जन्मता है। ऊर्जा रचना शक्ति है। सतर्क सर्जक ऊर्जा की क्रमागत स्थितियों को जानता है। क्रिया उन लेखकों में भी घटती है जो स्वयंभू होने का दावा करती हैं, पर उन्हें अपनी चेतना की प्रक्रिया का बोध नहीं होता। अनियंत्रित आन्तरिक प्रक्रिया उसे चाहे जहाँ पहुँचा देती है। मानव जाति के विकास के बीच अपनी शक्ति की पहचान न रखने के कारण विभ्रम से उत्पन्न अमूर्त चेतना स्वयंभू हो जाती है। बुर्जुआ चिन्ता की कोशिश होती है कि विभ्रम की स्थितियाँ बरकरार रहें। इसके विपरीत प्रगतिशील लेखक का दृढ़ विश्वास है कि जैसे श्रमिक का उत्पादन है अनाज, कपड़ा अन्य वस्तुयें, उसी तरह लेखक श्रमिक का उत्पादन रचना है। वह उसके सोच, श्रम और वैकल्पिक प्रयास का प्रमाण है। जैसे सर्वहारा उत्पादन की प्रक्रिया का प्रशिक्षण प्राप्त करता है, उसी तरह रचनाकार लेखक कर्मशाला में दीक्षित होता है। दीक्षा की सहेतुक कोशिश के कारण मार्क्सवादी कला दृष्टि का आन्नद न ब्रह्मानन्द है और न स्वपर की चेतना बुद्धि। यह दृष्टि स्वपर में पूरी तरह शरीक भौतिकतोप और वास्तविक स्वप्नों का एहसास देती है।

मुक्तिबोध ने 'एक साहित्यिक की डायरी' में रचना की बुनावट के रहस्यमय स्वयंभूवाद को तोड़ते हुये लिखा, "कला का यह लक्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव क्षण। दूसरा क्षण है अनुभव का अपने कसकते दुखते हुये मूलों से पृथक हो जाना और एक फैंटेन्सी का रूप धारण कर लेना। मानो वह फैन्टेसी अपनी आँखों के सामने ही खड़ी हो। तीसरा और अंतिम क्षण है इस फैन्टेसी के शब्द बद्ध होने की प्रक्रिया का आरम्भ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक की गतिमानता।" (पृष्ठ १९), हमारी धारणा है कि मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के सन्दर्भ में ये सूत्रवाक्य हैं। हमने इन सूत्रों को कविता/कहानी। आलोचना कर्मशालाओं (Work shop) में रचनाकारों के बीच अनुभव की जमीन में उतारने की कोशिश की हैं। प्रतिबद्ध रचनाकारों ने गाँवों की कराहती आवाज को केवल सुना नही संवाद दिया, जमींदारों के आंतकवश निरीहों के मनोजगत में घुमड़ती भयानक छायाओं को पहचाना, वेदनाओं की किस्में और जुल्म के नये नये रूपों को आँखों से देखा। लोगों ने आपस में बैठकर रात-दिन बहस की और तय किया कि उनके शोषण के कारण क्या हैं, उनकी ये स्थितियाँ क्यों हैं।

जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव क्षण सामने था। अनुभव के क्षण में आवेग, हलचल, और बेचैनी थी। यथास्थिति और मोह टूट चुके थे। इतिहास, विज्ञान और मनोजगत के अध्ययन, चिन्तन और पूर्व अनुभव की स्थितियां उनकी चेतना को ठोस और व्यापक बना रही थीं। वर्ग भेद का समाजशास्त्र खुल चुका था, निजी अनुभव इतिहास यात्रा में तैर रहे थे। यह कला का दूसरा क्षण था। जब रचनाकार कसकते दुखते मूलों से पृथक था। मार्क्सवादी सौन्दर्य शास्त्र की शब्दावली में अपने से पृथकता अथवा तटस्थता, निर्वैयाक्तिक होकर व्यापक जनसमाज का अंग बनने के अर्थ में है। स्थिति की विशिष्टता समाप्त कर तमाम सामाजिक रिश्तों में अपने को पाना जैसे इतिहास उसे देख रहा हो। तटस्थता की स्थिति में विज्ञान निजता को जांचता है। प्रयोगशाला में वैज्ञानिक जैसे रासायनिक प्रक्रिया की बारीकी पकड़ता है और इसके लिये सतर्क रहता है कि रंचभर भूल निर्णय को अवास्तविक बना देगी, ठीक उसी तरह अपनी चेतना के निरीक्षण परीक्षण और नियमन के क्षणों में रचनाकार वैज्ञानिक हो जाता है। सवाल उठता है कि क्या भावनायें संवेदनायें-वैज्ञानिक ढंग से जानी पहचानी जा सकती हैं। वैसे इसका उत्तर मार्क्सवादी चिन्ताधारा में पीछे के तमाम रचनाकारों के द्वारा दे दिया गया है परन्तु हम यहाँ कहना चाहेंगे कि आज कला विज्ञान की ही तरह वास्तविकताओं की प्रस्तुति है। वाह्य संसार की आकृतियां और उनकी विम्बयात्राएँ चेतना रचती हैं। इतिहास की लम्बी यात्रा के बाद चेतना ने अपन गुणात्मक स्वरूप कायम किया है। इसलिये वह अब वाह्य सता से लगातार द्वन्द्व करती हैं और उन्हें क्रान्तिकारी ढंग से परिवर्तित करती है। चेतना और वाह्य सता का द्वन्द्व एवं चेतना और चेतना का द्वन्द्व इतिहास का नियम है। मार्क्सवादी सौन्दर्य दृष्टि ने आदमी की सहजात वृत्तियों, भावनाओं, संचारी भावों, अनुभावों, कल्पनाओं का ऐसा विश्लेषण किया है कि अब आन्तरिक छद्म छिप नहीं सकता। हीगेल ने भ्रम और वास्तविकता के द्वन्द्व पर नजर रखी थी जिसे मार्क्स ने नतीजे पर पहुँचाया। पूंजीवाद, सैन्यवादी अथवा साम्राज्यवादी व्यवस्था के भीतर जन्मा जनवादी रचनाकार अपने मानसिक सांस्कृतिक रचाव से आत्म संघर्ष के द्वारा मुक्ति पाता है। आत्म संघर्ष व्यक्तिवादी रचनाकार का भी होता है परन्तु वह समाज से कटाव का होता है। जब कि जनवादी रचनाकार सामाजिक सम्पृक्ति के लिये संघर्ष से गुजरता है। सामाजिक संघर्ष का सीधा अर्थ है—पूंजीवादी व्यवस्था के भीतर चल रहे शोषक और शोषित के बीच का संघर्ष। रचनाकार प्रयत्क्ष संघर्ष में भी शरीक होता है और अनुभव की जीवन्तता भोगे हुये यथार्थ से लाता है। कला के दूसरे क्षण अथच आत्म संघर्ष, आत्म विस्तार और तटस्थता से गुजरने के साथ ही हमारे लेखक साथियों ने अपनी चेतना को समेटा था। उन्होंने पाया कि संश्लेषण की प्रक्रिया का द्वन्द्व, विम्ब, प्रतीक, फैन्टसी रचता है जो उनका विकल्प प्रतीक हो सके। दूसरे क्षण का व्यापक मानसिक साक्षात्कार अपना विकल्प खोजता हुआ प्रतीक, विम्ब और फन्तासियों के विकल्प तैयार करता है। ये विकल्प अपनी सारवस्तु में वास्तविक होते हैं। ढांचे के तौर पर चेतना में गड्डमड्ड अवचेतनी ढेर से बनते हैं इसलिये वे अवास्तविक लगते हैं। मुक्तिबोध साक्षात्कार की त्रासदी के बारे में लिखते हैं—

सुन रहा हूँ मै वही

पागल प्रतीकों में कही जाती हुई

वह ट्रेजडी

जो बावड़ी में अड़ गई। (चाँद का मुह टेढ़ा है पृष्ठ १४)

ये पागल प्रतीक सहसा उसी विचार पूर्ण कथानक की संवेदना से घुल कर बनते हैं। इनको शब्दों में बाँधने में कला का तीसरा क्षण है। लेखकों ने तीसरे क्षण में कमजोरी महसूस की थी। प्रचलित शब्द नई ज्ञान किरणों को बाँध नहीं पा रहे थे।

प्रारम्भ में अनुभव के लिये सतही यथार्थ सामने होता है किन्तु उसके नजदीक जाकर शामिल होते ही इतिहास के यथार्थ से उसकी संगति होती है। इतिहास का यथार्थ उसे व्यापक बनाता है और इस तरह रचनाकार निरन्तर यथार्थ के द्वारा ही ज्ञान के वास्तविक संसार की ओर बढ़ता है। ज्ञान का वास्तविक संसार समूचे उन्मेष से रचना का जनक बन जाता है।

भाववादी सौन्दर्य दृष्टि में सुन्दर का अर्थ ढांचे में निहित है। चेतना की सुन्दरता प्रकारान्तर से वहाँ एकान्त, उदासीनता और आभिज्य संस्कृति का सहयोग है। इन कवियों ने मध्यवर्ग की मानसिक बीमारी, आत्महीनता, आत्मरति को छिपाने के लिये विचारों की केन्द्रीयता से लेखन को काटकर छन्द, प्रतीक और शब्दों में प्रयोग किया है। इनकी लम्बी कवितायें भी पाठक को अपनी मांग से नहीं जोड़ती क्यों कि वे उद्देश्यहीनता से आक्रान्त हैं। यथा-स्थितियों को कायम रखने, सामन्ती पूँजीवादी सरोकारों का विस्तार अथवा महाजनी सभ्यता को फैलाने में वह नियति फलीभूत होती है। हिन्दुस्तान की बहुसंख्यक संस्कृति अभी तक इसी रीतिवादी रूपवादी सौन्दर्य दृष्टि को ढो रही है। विश्वविद्यालय की चाहारदीवारी में केशव, बिहारी, मतिराम, ठाकुर सौन्दर्य के कवि हैं। मध्य युग का सौन्दर्य शरीरी और अशरीरी दोनों है। चतुर कवियों ने कुण्ठाओं को अशरीरी आध्यात्मवादी परिणति दी है। कृष्ण राधा के नाम पर केलि प्रसंगो की सुन्दरता को उन्होंने व्यक्त किया है। उस काल की सामाजिक विसंगतियाँ अन्याय और शोषण से उनका सरोकार नहीं था क्यों कि वे उसी व्यवस्था के सौन्दर्य गायक थे। यही सौन्दर्य दृष्टि तमाम आगत पीढ़ी को भ्रष्ट कर रही है। मार्क्सवादी सौन्दर्य दृष्टि को समानान्तर खड़ा करने तथा रचना और जन संघर्ष के अलगाव को समाप्त करने के लिये स्फुट लेखन के बीच पहल का यह अंक तैयार हुआ है। हिन्दी में प्रगतिशील लेखन के शुरूआत से ही राहुल, शिवदान सिंह चौहान, राम विलास शर्मा, शमशेर, मुक्तिबोध, रमेश कुन्तल मेघ, शिव कुमार मिश्र, नामवर सिंह, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय आदि ने मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र को व्यवस्थित करने की चेष्टा की है। परन्तु पहल की यह चेष्टा इसलिये अलग है कि यह हिन्दी को शानदार जनवादी लेखन परम्परा के बाद की गई है। अनजाने ही हमारे लेखकों के दिमाग में छाये मध्यकालीन बोध से टकराने और उन्हें रचनाकर्मशाला की प्रक्रिया में उतारने

में इस अंक की महत्वाकांक्षी योजना सहायक हो सकती है। इससे प्रेरित हो हम यदि रचनाकार की विरासत में प्राप्त मानसिक बुनावट समझ सकें तो हम साहित्य के इतिहास की मानवीय खोज कर सकेंगे।

—कमला प्रसाद

…."भौतिकवादी दर्शन, स्वर्ग से पृथ्वी की ओर उतरता है—मतलब मांस-मज्जा-युक्त मनुष्य तक पहुंचने के लिए, जमीन पर; स्थूल रूप में विश्वास करता है, अर्थात् हम जिस जमीन पर खड़े हैं, जिससे हमारी भौतिक आवश्यकताएँ पूरी हो रही हैं—साहित्य उसका पूरक होता है।"….

"हाथ केवल श्रम का साधन ही नहीं, श्रम की सृष्टि भी है। हाथ के स्पर्श के जादू से 'राफेल के चित्र', 'थोरवाल्डसन की मूर्तियां' और 'पागानिनी का संगीत' अस्तित्व में आया।"

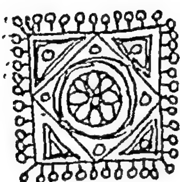
—कार्ल मार्क्स

मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र

समग्र चिन्तन

खण्ड एक
'बुनियादी स्रोत'

△ कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगल्स
△ व्ला० इ० लेनिन △ माओ त्से तुङ



कला और समाज

—कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स

एक

संस्कृति के इतिहास की भौतिकवादी धारणा

"अपने जीवन के सामाजिक उत्पादन में मनुष्य ऐसे निश्चित सम्बन्धों में बँधते हैं जो अपरिहार्य एवं उनकी इच्छा से स्वतंत्र होते हैं। उत्पादन के ये सम्बन्ध, उत्पादन की भौतिक शक्तियों के विकास की एक निश्चित मंजिल के अनुरूप होते हैं। इन उत्पादन सम्बन्धों का पूर्ण समाहार ही समाज का आर्थिक ढांचा है—वह असली बुनियाद है जिस पर कानून और राजनीति का ऊपरी ढाँचा खड़ा हो जाता है और जिसके अनुकूल ही सामाजिक चेतना के निश्चित रूप होते हैं। भौतिक जीवन की उत्पादन-पद्धति जीवन की आम सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक प्रक्रिया को निर्धारित करती है।

मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती, बल्कि उल्टे उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना को निर्धारित करता है। अपने विकास की एक खास मंजिल पर पहुँचकर समाज की भौतिक उत्पादन शक्ति तत्कालीन उत्पादन सम्बन्धों से या उसी चीज को कानूनी शब्दावली में यों कहा जा सकता है—उन सम्पत्ति सम्बन्धों से टकराती है, जिनके अंतर्गत वे उस समय तक काम करती होती हैं। ये सम्बन्ध उत्पादन शक्तियों के विकास के अनुरूप न रह कर उनके लिए बेड़ियाँ बन जाती है। तब सामाजिक क्रांति का एक नया युग शुरू होता है।

आर्थिक बुनियाद के बदलने के साथ समस्त वृहदाकार ऊपरी ढाँचा भी कमोबेश तेजी से बदल जाता है। ऐसे रूपांतरणों पर विचार करते हुए एक भेद हमेशा ध्यान में रखना चाहिए कि एक ओर तो उत्पादन की आर्थिक परिस्थितियों का भौतिक रूपांतरण है, जो प्रकृति विज्ञान की अचूकता के साथ निर्धारित किया

जा सकता है। दूसरी ओर वे कानूनी, राजनीतिक, धार्मिक, सौंदर्यबोधी या दार्शनिक—संक्षेप में, विचारधारात्मक रूप हैं, जिनके दायरे में मनुष्य अपने संघर्ष के प्रति सचेत होते हैं और उससे निर्णायक स्थिति तक संघर्ष करते हैं। जैसे किसी व्यक्ति के बारे में हमारी राय इस बात पर निर्भर नहीं होती कि वह अपने बारे में क्या सोचता है, उसी तरह हम ऐसे रूपांतरण के युग के बारे में स्वयं उस युग-चेतना के आधार पर निर्णय नहीं कर सकते। इसके विपरीत, भौतिक जीवन के अंतर्विरोधों के आधार पर ही, समाज की उत्पादन-शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों की मौजूदा टक्कर के आधार पर ही इस चेतना की व्याख्या की जानी चाहिए।"[1]

"भावों, विचारों तथा चेतना की उत्पत्ति प्रारंभ-काल से ही मानव-प्राणियों की भौतिक-क्रियाशीलता तथा उनके भौतिक आदान-प्रदान के साथ, वास्तविक जीवन की भाषा के साथ सीधे-सीधे जुड़ी हुई है। मनुष्यों के विचारों की उत्पत्ति, उनका चिंतन, उनका आत्मिक समागम—ये सब यहाँ सीधे-सीधे उनकी भौतिक परिस्थितियों के परिणाम के रूप में सामने आते हैं। राजनीति, कानूनी नियमों, नैतिकता, धर्म, अधिभूतवाद आदि की भाषा में व्यक्त किसी कौम की मानसिक उत्पत्तियों के सम्बन्ध में भी यही चीज लागू होती है। मनुष्य के विचारों, भावों आदि के निर्माता मनुष्य ही हैं, किंतु ये मनुष्य वास्तविक सक्रिय मनुष्य—ऐसे मनुष्य होते हैं, जो अपनी उत्पादक शक्तियों के एक निश्चित विकास से तथा उन उत्पादक शक्तियों के अनुरूप होने वाले अधिकतम दूर तक के आदान-प्रदान से परिचालित होते हैं। चेतना, सचेत सत्ता के अतिरिक्त और कोई चीज कभी नहीं हो सकती, और मानवों की सत्ता ही उनकी वास्तविक जीवन-क्रिया है।"

"चेतना आरम्भ से ही समाज की एक उपज है, और जब तक मनुष्यों का अस्तित्व रहेगा तब तक वह ऐसी ही बनी रहेगी। निःसंदेह, प्रारम्भ में चेतना इन्द्रियों से जानी जा सकने वाली केवल एकदम आस-पास की चीजों की तथा अन्य पुरुषों तथा अपने से बाहर की वस्तुओं के साथ सीमित सम्बन्ध की चेतना होती है। साथ ही साथ वह प्रकृति की भी चेतना होती है।"[2]

दो

"राजनीति, न्याय, दर्शन, धर्म, साहित्य, कला आदि का विकास आर्थिक विकास पर आश्रित है। परन्तु ये सब एक दूसरे को तथा आर्थिक आधार को भी प्रभावित करते हैं। बात यह नहीं है कि आर्थिक परिस्थिति ही कारण है, एक मात्र सक्रिय कारण, जब कि बाकी सभी चीजें निष्क्रिय परिणाम हैं। बल्कि बात यह है कि आर्थिक अनिवार्यता के आधार पर, जो सदा अंततः प्रभावी होती है, अन्योन्य क्रिया चलती है। मनुष्य अपने इतिहास की रचना स्वयं करते हैं, पर वे ऐसा परिवेश-विशेष में ही करते हैं, जिससे वह प्रतिबद्ध और सीमित है, और पहले से मौजूद वास्तविक सम्बन्धों के आधार पर करते हैं, जिनमें अंततः आर्थिक सम्बन्ध हो, वे अन्य सम्बन्धों—राजनीतिक तथा विचारधारात्मक सम्बन्धों—से चाहे जितने प्रभावित हों, निर्णायक ठहरते हैं, और उनमें मुख्य सूत्र के रूप में अन्तर्व्याप्त रहते हैं, और हमें समझ प्रदान करते हैं।"[3]

"इतिहास की भौतिकवादी धारणा के अनुसार इतिहास का चरम निर्णायक तत्त्व वास्तव में जीवन का उत्पादन और पुनरुत्पादन है। इससे अधिक न मार्क्स ने और न मैंने ही कभी कहा है। अतः यदि कोई इसे तोड़-मरोड़ कर यों कहे कि आर्थिक तत्त्व ही एक मात्र निर्णायक तत्त्व है, तो वह हमारी प्रस्थापना को निरर्थक, अमूर्त्त और गूगी शब्दावली मात्र बना देता है। आर्थिक परिस्थिति बुनियाद है, पर ऊपरी ढांचे के विविध तत्त्व—वर्ग संघर्ष के राजनीतिक रूप और परिणाम—ऐतिहासिक संघर्षों के क्रम पर अपना प्रभाव डालते हैं और बहुत जगह तो उनके रूप के निर्धारण में इनका ही पलड़ा भारी रहता है। इन सारे तत्त्वों की अन्योन्य क्रिया चलती है जिसमें आकस्मिक घटनाओं के अनंत समूह के मध्य से (अर्थात् ऐसी चीजों और घटनाओं के अनंत समूह के मध्य से जिनका आंतरिक सम्बन्ध इतना दूरवर्ती अथवा अप्रमेय होता है कि हम उसे अनुपस्थित अथवा नगण्य मान ले सकते हैं।) आर्थिक गति अंततोगत्वा अनिवार्य गति के रूप में प्रकट होती है। ऐसा न हो तो इच्छानुसार इतिहास के किसी युग में इस सिद्धान्त को घटित करना गणित के सरलतम समीकरण के हल करने से भी अधिक आसान होता।"[४]

तीन

कला और सामाजिक विकास का असमान सम्बन्ध

"विकास की धारणा को समग्रतः अमूर्त्त रूप में नहीं समझना चाहिए। ठोस सामाजिक सम्बन्धों के भीतर विकास की असमानता को समझना बहुत कठिन नहीं है।

जहाँ तक कला का सम्बन्ध है, यह एक जानी-पहचानी बात है कि कला की कुछ सर्वोत्तम सर्जनाओं का अपने समय के सामाजिक विकास से कोई सीधा सम्बन्ध दिखाई नहीं पड़ता है। उनका अपने समय के भौतिक आधार के संगठन के ढांचे से भी मेल नहीं बैठता। उदाहरण के लिए हम यूनान से आधुनिक राष्ट्रों की तुलना कर सकते हैं। यह भी स्वीकार किया जाता है कि कला के कुछ रूप—जैसे महाकाव्य अपने युग प्रवर्त्तक क्लैसिक रूप में कला-उत्पादन के वर्तमान दौर में पैदा नहीं हो सकते। दूसरे शब्दों में कला के क्षेत्र के भीतर भी कुछ विशेष प्रकार की रचनाएँ कला के विकास के प्रारंभिक दौर में ही संभव होती हैं। अगर कला के क्षेत्र में विभिन्न कला-रूपों के संदर्भ में यह स्थिति है तो सारी कलाओं और समाज के सामान्य विकास से उनके सम्बन्ध के प्रसंग में भी यही स्थिति दिखाई दे सकती है। वास्तव में मुख्य कठिनाई इन अंतर्विरोधों को प्रतिपादित करने की है। जैसे ही, उन्हें विशिष्ट प्रश्नों के रूप में प्रस्तुत कर दिया जायगा, उनकी व्याख्या संभव हो जाएगी।

उदाहरणार्थ हम यूनानी कला और शेक्सपियर का आधुनिक युग से सम्बन्ध देख सकते हैं। यह अच्छी तरह ज्ञात है कि यूनानी माइथोलॉजी, यूनानी कला का स्रोत ही नहीं, उसका आधार भी है। क्या आज के स्वचालित मशीनों, रेलवे और बिजली के तार के जमाने में प्रकृति और सामाजिक सम्बन्धों के बारे में वैसी धारणा सम्भव है जिससे यूनानी कल्पना और माइथोलॉजी का निर्माण हुआ था?

रावर्ट एण्ड कम्पनी के सामने वल्कन का क्या अस्तित्व है ? बिजली की छड़ के सामने जुपिटर और बैंक के सामने हर्मीज की क्या सार्थकता होगी ? मिथक वास्तव में कल्पना के सहारे कल्पना में ही प्रकृतिक शक्तियों पर मानवीय प्रभुत्व कायम करने के प्रयास के परिणाम होते हैं। इसलिए जब मनुष्य प्राकृतिक शक्तियों पर वास्तविक विजय प्राप्त कर लेता है तो मिथकों का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। प्रकाशन गृहों की गली में यश की देवी के लिए कहाँ जगह है। यूनानी कला के साथ, यूनानी माइथोलॉजी का अस्तित्व अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है। इसका तात्पर्य यही है, कि तत्कालीन समाज के स्वभाव और स्वरूप की अनभिप्रेत कलात्मक ढंग से अभिव्यक्ति, लोकप्रिय कल्पना के मिथकों के रूप में हुई है। यही उसका उपादान है। केवल यूं ही ग्रहण की गई मिथक माला या प्रकृति की आकस्मिक और अनभिप्रेत कलात्मक अभिव्यक्ति यूनानी कला का मुख्य उपादान नहीं है। मिस्र की माइथोलॉजी से यूनानी कला का जन्म नहीं हो सकता, फिर भी हर हालत में माइथोलॉजी का होना आवश्यक था। उस समय ऐसे किसी सामाजिक विकास की सम्भावना नहीं थी जिसमें प्रकृति के साथ किसी भी तरह के मिथकीय सम्बन्ध के लिए कोई जगह न हो और जिसमें कलाकार की कल्पना को मिथकों के प्रभाव से मुक्त रहने की मांग की जाय। इसको हम दूसरी तरह भी देख सकते हैं। क्या बन्दूक और तोप के जमाने में किसी एचलिस की कोई संभावना है ? क्या छापेखाने के युग में 'इलियड' की कल्पना की जा सकती है ? क्या छपाई की सुविधा ने कविता को गाने, पाठ करने ओर ध्यान मग्न हो कर सुनने की प्रक्रिया का अस्तित्व ही मिटा नहीं दिया है ? और इस प्रकार क्या महाकाव्यात्मक कविता की अपेक्षित परिस्थितियाँ प्रायः समाप्त नहीं हो गई हैं ?

लेकिन वास्तविक कठिनाई यह समझने की नहीं है कि यूनानी कला और विशेषतः महाकाव्य का उस युग के सामाजिक विकास के कुछ रूपों से क्या सम्बन्ध है, बल्कि समस्या यह है कि हमें अब भी उनसे सौंदर्यबोधी आनन्द क्यों मिलता है ? और कुछ अंश तक वे अब भी कला के प्रतिमान और दुर्लभ आदर्श क्यों बने हुए हैं ?

एक व्यक्ति अगर बचकानेपन का शिकार न हो जाय तो वह दुबारा अपना बचपन प्राप्त नहीं कर सकता। लेकिन क्या वह अपने बचपन के भोलेपन का आनन्द अनुभव नहीं करता और जवानी में भी बचपन के भोलेपन की सच्चाई का पुनः स्मरण नहीं करना चाहता ? क्या बच्चे के स्वभाव के माध्यम से प्रत्येक युग का चरित्र अपने सच्चे स्वरूप के साथ प्रकट नहीं होता ? क्या मानवता का यह ऐतिहासिक बचपन, जहाँ इसका सुंदरतम विकास हुआ था, पर अप्रत्यावर्त्तनीय युग के रूप में शाश्वत आकर्षण का कारण नहीं बन सकता ? कुछ जन्मजात बदमाश बच्चे होते हैं और कुछ अकाल प्रौढ़ बच्चे भी होते हैं। अधिकांश पुरानी जातियों को इन दोनों में से किसी न किसी कोटि में रखा जा सकता है। यूनानी सामान्य बच्चे थे। उनकी कला में निहित आकर्षण का, उनकी अविकसित सामाजिक अवस्था से—जिस मेंवह कला पैदा हुई थी—कोई अन्तर्विरोध प्रकट नहीं होता। इसके विपरीत, यह आकर्षण उस सामाजिक व्यवस्था की अविकसित अवस्था का ही परिणाम है; और इसका इस तथ्य से गहरा सम्बन्ध है कि जिस अविकसित सामाजिक अवस्था से यह कला पैदा हुई थी,—और केवल उसी में यह पैदा हो सकती थी—उसकी पुनः वापसी संभव नहीं है।"[५]

चार

सौंदर्यबोध और कला का विकास

"मनुष्य का जीवनाधार अजैव प्रकृति ही है और मनुष्य पशु की तुलना में जितना अधिक सार्वभौम होता है, उतना ही सार्वभौम मनुष्य का जीवनाधार बनने वाली प्रकृति भी होती है। जिस तरह पेड़-पौधे, जानवर, पत्थर, हवा, प्रकाश आदि सिद्धान्त के क्षेत्र में मानवीय चेतना के अंग बनते हैं—अंशतः प्राकृतिक विज्ञान के रूप में और अंशतः कला की वस्तु के रूप में—और मनुष्य के आत्मिक पोषण के साधन सिद्ध होते हैं, वैसे ही ये व्यवहार के क्षेत्र में भी मानव-जीवन और मानवीय क्रिया के अंग होते हैं।

मनुष्य अपने व्यावहारिक कार्यों से एक वस्तुपरक दुनिया का निर्माण करता है, अजैव प्रकृति को रूपाकार देता है, और इस प्रकार वह अपने को प्राणी-जगत का एक सचेत सदस्य सिद्ध करता है; एक ऐसा सचेत प्राणी जो शेष प्राणियों को अपनी सत्ता का अनिवार्य अंग मानता है और अपने को प्राणी-जगत का अंग समझता है। पशु भी उत्पादन करते हैं, वे भी घोंसला और मांद बनाते हैं; लेकिन पशु अपनी या अपनी संतानों की तात्कालिक आवश्यकता के अनुसार उत्पादन करते हैं। वे एकांगी उत्पादन करते हैं, जब कि मनुष्य का उत्पादन सार्वभौम होता है। पशु तात्कालीन भौतिक अथवा शारीरिक आवश्यकताओं के कारण उत्पादन करते हैं, लेकिन मनुष्य जब शारीरिक आवश्यकताओं से मुक्त होता है तब भी उत्पादन करता है, बल्कि वह शारीरिक आवश्यकताओं से मुक्त होने पर भी सच-मुच उत्पादन करता है। पशु का उत्पादन केवल पशु तक ही सीमित होता है, जबकि मनुष्य के उत्पादन का सम्बन्ध सारी प्रकृति से होता है। पशु के उत्पादन का सम्बन्ध उसके शरीर से होता है, जबकि मनुष्य अपने उत्पादन का उससे स्वतन्त्र होकर सामना करता है। पशु अपनी जाति की आवश्यकता और माप के अनुरूप वस्तुओं का स्वरूप निर्मित करता है, जबकि मनुष्य यह जानता है कि प्रत्येक तरह के प्राणियों के माप के अनुरूप कैसे निर्माण किया जाय और वस्तु में निहित माप का किस प्रकार हर जगह विनियोग किया जाय। इस तरह मनुष्य सौंदर्य के नियमों के अनुसार भी वस्तुओं का निर्माण करता है।"[६]

कला के विकास में श्रम की भूमिका

"अर्थशास्त्रियों का दावा है कि श्रम समस्त सम्पदा का स्रोत है। वास्तव में वही स्रोत है, लेकिन प्रकृति के बाद प्रकृति ही इसे वह सामग्री प्रदान करती है, जिसे वह सम्पदा में परिवर्तित करता है। पर वह इससे भी कहीं बड़ी चीज है। वह समूचे मानव-अस्तित्व की पहली मौलिक शर्त है और इस हद तक पहली मौलिक शर्त है कि एक अर्थ में हमें यह कहना होगा कि स्वयं मानव का सृजन भी श्रम ने ही किया है।

मानव हाथों द्वारा पत्थर की पहली छुरी बनाये जाने से पहले शायद एक ऐसी अवधि गुजरी होगी, जिसकी तुलना में ज्ञात ऐतिहासिक-अवधि नगण्य सी लगती है। किन्तु निर्णायक कदम उठाया जा चुका था। हाथ मुक्त हो गया था और अब से वह अधिकाधिक दक्षता एवं कुशलता प्राप्त कर सकता था। इस प्रकार उपलब्ध उच्चतर नम्यता आनुवंशिक होती थी और पीढ़ी दर पीढ़ी बढ़ती जाती थी।

अतः हाथ केवल श्रम का साधन ही नहीं है, वह श्रम की उपज भी है। श्रम के द्वारा ही, नित नई क्रियाओं के लिए अनुकूलन के द्वारा ही, इस प्रकार उपार्जित मांस पेशियाँ, स्नायुओं—और दीर्घतर अवधि में हड्डियों— के विशेष विकास की आनुवंशिक के द्वारा ही, तथा इस अतानुवंशिक पटुता के नये, अधिकाधिक जटिल क्रियाओं में नित पुनरावृत्त उपयोग के द्वारा ही, मानव हाथ ने वह उच्च पूर्णता प्राप्त की है, जिसकी बदौलत राफेल की सी चित्रकारी, थोर्वाल्द सेन की-सी मूर्तिकारी और पागानीनी का-सा संगीत अविर्भूत हो सका।"[७]

पाँच

वर्ग समाज में कला

"सत्ताधारी वर्ग के विचार हर युग में सत्ताधारी विचार हुआ करते हैं; अर्थात् जो वर्ग समाज की सत्ताधारी भौतिक शक्ति होता है, वह साथ ही उसकी सत्ताधारी बौद्धिक शक्ति भी होता है। जिस वर्ग के पास भौतिक उत्पादन के साधन होते हैं, उसका साथ ही साथ बौद्धिक उत्पादन पर भी नियंत्रण होता है, और इस तरह साधारणतया जिन लोगों के पास बौद्धिक उत्पादन के साधन नहीं होते उनके विचार इस वर्ग के अधीन रखे जाते हैं। सत्ताधारी विचार प्रभुत्वशाली भौतिक सम्बन्धों की, यानी विचारों के रूप में ग्रहण किये जाने वाले प्रभुत्वशाली भौतिक सम्बन्धों की बौद्धिक अभिव्यक्ति के अलावा और कुछ नहीं है; अतः वे उन सम्बन्धों की अभिव्यक्ति हैं, जो एक वर्ग को सत्ताधारी बनाते हैं; इसलिए वे उसके प्रभुत्व के विचार हुआ करते हैं। जिन लोगों को लेकर सत्तारूढ़ वर्ग बनता है, उनके पास अन्य बातों के अलावा चेतना भी होती है, इसलिए वे सोचते हैं। इसलिए वे जहाँ तक एक वर्ग के रूप में शासन करते हैं तथा एक युग का विस्तार और परिधि निर्धारित करते हैं, उस हद तक यह स्वतः स्पष्ट है कि वे यह कार्य पूरे फैलाव के साथ करते हैं, इसलिए अन्य बातों के साथ चिंतकों, विचारों को पैदा करने वालों के रूप में भी शासन करते हैं और अपने युग के विचारों की रचना तथा वितरण का नियमन करता है, इस प्रकार उनके विचार युग के सत्ताधारी विचार होते हैं।"[८]

पूंजीवादी-व्यवस्था और विश्व-साहित्य

"पूंजीपति वर्ग ने इतिहास में बहुत ही क्रांतिकारी भूमिका अदा की है।

पूंजीपति वर्ग ने, जहाँ पर भी उसका पलड़ा भारी हुआ, वहाँ सभी सामंती, पितृसत्तात्मक और 'काव्यात्मक' सम्बन्धों का अन्त कर दिया। उसने मनुष्य को अपने 'स्वाभाविक बड़ों' के साथ बांध रखने वाले नाना प्रकार के सामंती सम्बन्धों को निर्ममता से तोड़ डाला; और नग्न स्वार्थ के, 'नकद पैसे-कौड़ी' के हृदय-शून्य व्यवहार के सिवा मनुष्यों के बीच और कोई दूसरा सम्बन्ध बाकी नहीं रहने दिया। धार्मिक श्रद्धा के स्वर्गोपम आनंदातिरेक को, वीरोचित उत्साह और कूप-मण्डूकता पूर्ण भावुकता को उसने आना-पाई के स्वार्थी हिसाब-किताब के बर्फीले पानी में डुबा दिया है। मनुष्य के वैयक्तिक मूल्य को विनिमय मूल्य बना दिया है, और पहले के अनगिनत पदत्त और हासिल किये गये स्वातन्त्र्यों की जगह अब उसने उस एक निर्लज्जतापूर्ण स्वातन्त्र्य की स्थापना की है जिसे मुक्त व्यापार कहते हैं।

जिन पेशों के सम्बन्ध में अब तक लोगों के मन में आदर और श्रद्धा की भावना थी, उन सब का प्रभामंडल पूंजीपति वर्ग ने छीन लिया। वकील, डाक्टर, पुरोहित, कवि और वैज्ञानिक, सभी को उसने अपना वेतनभोगी मजदूर बना दिया है।

पूंजीवादी समाज-व्यवस्था में पुरानी स्थानीय राष्ट्रीय पृथकता और आत्म-निर्भरता का स्थान चौतरफा अन्त:सम्पर्क ने, समस्त राष्ट्रों की परस्पर निर्भरता ने ले लिया है। भौतिक उत्पादन की तरह बौद्धिक उत्पादन में समस्त जगत में भी यही परिवर्तन घटित हुआ। अलग-अलग राष्ट्रों की बौद्धिक कृतियाँ सार्वभौमिक सम्पत्ति बन गई हैं। राष्ट्रीय एकांगीपन और संकुचित दृष्टिकोण दोनों अधिकाधिक असंभव होते जा रहे हैं, और अनेक राष्ट्रीय और स्थानीय साहित्यों से एक विश्व-साहित्य उत्पन्न हो रहा है।"[९]

निम्न पूंजीवादी प्रवृत्ति के लेखक

"हमें यह संकीर्ण बुद्धियुक्त धारणा नहीं बना लेनी चाहिए कि निम्न पूंजीपति वर्ग सिद्धान्त रूप से स्वार्थी वर्ग हित लादना चाहता है, बल्कि उसे यह विश्वास है कि उसकी मुक्ति की विशेष अवस्थाएँ हैं, जिनके दायरे में ही समाज का उद्धार किया जा सकता है और वर्ग-संघर्ष से, बचा जा सकता है। अपनी-अपनी शिक्षा-दीक्षा और वैयक्तिक स्थिति के अनुसार उनमें आकाश-पाताल का अन्तर हो सकता है। जो चीज उन्हें निम्न पूंजीपति वर्ग का प्रतिनिधि बनाती है कि वे अपने मस्तिष्क में उन सीमाओं के बाहर नहीं जाते, जिनके बाहर निम्न-पूंजीपति अपने जीवन में नहीं जाते; अत: सिद्धान्तत: वे उन्हीं समस्याओं और समाधानों की ओर प्रेरित होते हैं जिनकी ओर निम्न पूंजीपति वर्ग अपने भौतिक हित और सामाजिक स्थिति द्वारा व्यवहारत: प्रेरित होते हैं। सामान्यत: यही किसी वर्ग के राजनीतिक और साहित्यिक प्रतिनिधियों और उस वर्ग का जिसका वे प्रतिनिधित्व करते हैं, सम्बन्ध होता है।"[१०]

छ:

कला और यथार्थ

"मेरे विचार से, यथार्थवाद के अंतर्गत विस्तार की सच्चाई के अतिरिक्त प्रतिनिधि परिस्थितियों में प्रतिनिधि चरित्रों का सच्चा पुन: सृजन होना चाहिए। तुम्हारे उपन्यास के पात्रों में तुम्हारे चित्रण के अनुरूप प्रतिनिधिकता है, लेकिन वे जिन परिस्थितियों में जीते और काम करते हैं, उनमें पर्याप्त प्रतिनिधिकता नहीं है, इस उपन्यास में मजदूर वर्ग एक निष्क्रिय भीड़ के रूप में दिखाई देता है, जो खुद अपनी मदद करने में असमर्थ है, और अपनी मदद करने की कोशिश करता हुआ भी नहीं दिखाई देता। उसको, उसकी दुर्दशा से बाहर निकालने के सारे प्रयत्न बाहर और ऊपर से होते हैं, यह बात सेंट साइमन और रॉबर्ट ऑवेन के जमाने में (अट्ठारह सौ या अट्ठारह सौ दस में) सच हो सकती थी, लेकिन १८८७ में यह सच्चा नहीं प्रतीत होता है।

मैं तुम्हारे उपन्यास की आलोचना इसलिए नहीं कर रहा हूँ कि वह एक ऐसा विशुद्ध समाजवादी उपन्यास नहीं है, जिसमें लेखक के सामाजिक और राजनीतिक विचारों को विशेष महत्व दिया जाता है। मेरा मतलब ऐसा एक दम नहीं है।

किसी रचना में लेखक के विचार जितने अधिक छिपे रहते हैं, रचना उतना ही बेहतर कलाकृति होती है। मैं जिस यथार्थवाद की बात कर रहा हूँ वह लेखक के विचारों के विपरीत भी प्रकट हो सकता है। इस बात को समझने के लिए बालजॉक का उदाहरण लिया जा सकता है। बालजॉक राजनीतिक दृष्टि से लिजिट्मिस्ट था। उसकी महान् रचनाएँ एक अच्छे समाज के अपूरणीय विनाश पर लिखे गये शोक-गीत के समान हैं। उनकी सारी सहानुभूति उस वर्ग के साथ है, जिसका विनाश निश्चित है। लेकिन अपनी सारी सहानुभूति के बावजूद उसके व्यंग्य में पैनापन सबसे अधिक तभी प्रकट होता है, जब वह सामंत वर्ग के पुरुषों और स्त्रियों का चित्रण करता है। अपने उपन्यास में उसने जिन लोगों की खुली प्रशंसा की है, वे राजनीतिक दृष्टि से उसके सबसे बड़े विरोधी हैं, और जो अपने जमाने की आम जनता के प्रतिनिधि हैं। इसप्रकार बालजॉक अपने राजनीतिक पूर्वाग्रहों और वर्गीय सहानुभूति के विरीत जाने को मजबूर होता है। उसने अपने प्रिय सामंतों के पतन की अनिवार्यता को पहचान लिया था और उनका वह उसी रूप में चित्रण करता है। उसने भविष्य की वास्तविक उन वास्तविक शक्तियों को भी पहचान लिया था, जो उस समय उपलब्ध हो सकते थे। मैं इसे यथार्थवाद की एक महानतम विजय मानता हूँ और इसे बालजॉक की एक महान विशेषता समझता हूँ।"[११]

प्रवृत्यात्मक लेखन और यथार्थ

,'मैं प्रवृत्यात्मक कविता का विरोधी नहीं हूँ। ट्रेजडी के जनक एस्चिलस और कॉमिडी के जनक एरिस्टोफेनीज दोनों ही निश्चित् रूप से प्रवृत्यात्मक कवि थे, यही स्थिति दांते और सार्वेन्टीज की भी है। आधुनिक रूस और नार्वे के उपन्यासकार भी ऐसे ही लेखक हैं।

लेकिन मैं मानता हूँ कि लेखकीय प्रवृत्ति बिना किसी संकेत के स्वतः परिस्थितियों और कार्यों से प्रकट होनी चाहिए। लेखक इस बात के लिए बाध्य नहीं है कि वह जिन सामाजिक संघर्षों का चित्रण करता है, उनका भावी ऐतिहासिक समाधान भी पाठकों के सामने प्रस्तुत करे। हमारी वर्तमान परिस्थिति में उपन्यासों के पाठक अधिकांशतः बूर्ज्वा समुदाय के ही हैं जिनसे हमारा कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, इसलिए मैं समझता हूँ कि समाजवादी प्रवृत्ति का कोई उपन्यास तभी अपना उद्देश्य पूरा कर सकता है जब उसमें विवेकपूर्ण ढंग से वास्तविक सम्बन्धों का चित्रण हो, वह बूर्ज्वा वर्ग के बीच फैले हुए पुराने भ्रमों को तोड़ सके, बूर्ज्वा जगत के आशावाद को ध्वस्त कर सके और वर्तमान व्यवस्था के शाश्वत होने के बारे में संदेह उत्पन्न कर सके। लेकिन साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि लेखक कोई समाधान प्रस्तुत न करे या किसी का विशेष पक्ष न ले।"[१२]

सात

कलात्मक सर्जन और आस्वादन

"उत्पादन केवल आवश्यकता को संतुष्ट करने के लिए वस्तु ही उपलब्ध नहीं कराता, बल्कि वह वस्तु की आवश्यकता भी पैदा करता है। जब उपभोग अपने आरम्भिक बुनियादी अपरिष्कृत दशा और तात्कालिकता से मुक्त हो जाता है—

यह ऐसी दशा में तभी रह सकता है जब उत्पादन भी उसी दशा में हो—तब वह स्वयं वस्तु से उत्पन्न एक इच्छा बन जाता है। वस्तु की आवश्यकता की कामना वस्तु के बोध से प्रभावित होती है। एक कलावस्तु कलात्मक अभिरुचि से सम्पन्न ऐसा पाठक या दर्शक समुदाय तैयार करती है जो सौन्दर्यानुभूति के योग्य होता है। इस प्रकार उत्पादन केवल चेतना के लिए वस्तु ही उत्पन्न नहीं करता बल्कि वह वस्तु के लिए चेतना भी पैदा करता है।" १३

आठ

परम्परा और हम

"मनुष्य अपना इतिहास स्वयं बनाता है, पर अपने मन चाहे ढंग से नहीं। वह उसे अपनी मनचाही परिस्थितियों में नहीं अपितु ऐसी परिस्थितियों में बनाता है, जो उसे अतीत से प्राप्त और अतीत द्वारा संप्रेषित होती है, और जिनका उसे सीधे-सीधे सामना करना पड़ता है। सभी मृत पीढ़ियों की परम्परा जीवित मानव के मस्तिष्क पर एक दुःस्वप्न के समान सवार रहती है। और ठीक ऐसे समय, जब ऐसा लगता है कि वे अपने को तथा अपने इर्द-गिर्द की सभी चीजों को क्रांतिकारी रूप से बदल रहे हैं, और किसी ऐसी वस्तु का सृजन कर रहे हैं, जिसका आज तक अस्तित्व न था, क्रान्तिकारी संकट के ठीक ऐसे अवसरों पर वे अतीत के प्रेतों को अपनी सेवा के लिए उत्कंठापूर्वक बुलावा दे बैठते हैं और उन से अतीत के नाम अतीत के रणनाद और अतीत के परिधान मानते हैं ताकि विश्व इतिहास की नवीन रंगभूमि को इस प्राचीन सम्मानित वेश में और इस मँगनी की भाषा में सजाकर पेश कर सके।" १४

नौ

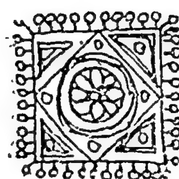
लेखक और स्वतन्त्रता

"निश्चय ही किसी लेखक को जीने और लिखने के लिए जीविका की व्यवस्था करनी पड़ती है, लेकिन उसे केवल जीविका के लिए, 'निश्चय ही, जीना और लिखना नहीं चाहिए'।

लेखक अपनी रचना को किसी भी तरह केवल साधन नहीं मानता, उसकी रचनाएँ स्वयं साध्य हैं। वह उन्हें अपने या दूसरों के लिए साधन एकदम नहीं समझता, इसलिए जब जरूरी होता है तो वह अपनी रचनाओं के अस्तित्व के लिए अपने अस्तित्व का बलिदान कर देता है। वह धर्मोपदेशक की तरह इस बात में विश्वास करता है कि "मनुष्यों से अधिक ईश्वर की आज्ञा मानो", और मनुष्यों में वह स्वयं भी अपनी मानवीय जरूरतों और इच्छाओं के साथ शामिल होता है। प्रेस की स्वतन्त्रता की पहली शर्त यह है कि उसे व्यापार नहीं होना चाहिए। जो लेखक अपने लेखन को व्यावसायिक बनाता है, उसे भौतिक जरूरतों का साधन समझता है, वह अपनी आन्तरिक स्वतन्त्रता के अभाव में बाहरी स्वतन्त्रता से भी वंचित किये जाने के काबिल होता है।"१५

सन्दर्भ

१. कार्ल मार्क्स—'राजनीतिक अर्थशास्त्र की समीक्षा' की भूमिका से, संकलित रचनाएँ भाग-२ पृष्ठ ६-१० ।
२. कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स—'जर्मन विचारधारा' के प्रथम अध्याय से, संकलित रचनाएँ खण्ड-१ भाग-१, पृष्ठ २६ ।
३. डब्लू बोरगियस के नाम एंगेल्स के एक पत्र से, संकलित रचनाएँ भाग-४ पृष्ठ १६६ ।
४. जोजेफ ब्लख के नाम एंगेल्स के एक पत्र से, संकलित रचनाएँ भाग-४ पृष्ठ १५१ ।
५. कार्ल मार्क्स—'राजनीतिक अर्थशास्त्र की समीक्षा' (अंग्रेजी सं०) पृष्ठ २१५-१६ ।
६. कार्ल मार्क्स—१८४४ की आर्थिक-दार्शनिक पाण्डुलिपि के पृष्ठ ७०-७२ से ।
७. फ्रेडरिक एंगेल्स—'वानर के नर बनने की प्रक्रिया में श्रम की भूमिका' से, संकलित रचनाएँ भाग-३ पृष्ठ ७-६ ।
८. कार्ल मार्क्स और एंगेल्स—'जर्मन विचारधारा' के प्रथम अध्याय से, संकलित रचनाएँ खण्ड १ भाग-१ पृष्ठ ५५ ।
९. मार्क्स एवं एंगेल्स—'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा-पत्र' से ।
१०. कार्ल मार्क्स—'लूई बोनापार्ट की अठारहवीं ब्रूमेर' से, संकलित रचनाएँ भाग-१ पृष्ठ १६८ ।
११. फ्रेडरिक एंगेल्स—मार्गरेट हार्कनेस के नाम पत्र से संकलित चिट्ठी-पत्री (अंग्रेजी संस्करण) पृष्ठ ३७६-८० ।
१२. फ्रेडरिक एंगेल्स—मिना काउत्स्की के नाम पत्र संकलित चिट्ठी-पत्री (अंग्रेजी सं०) पृष्ठ ३६८ ।
१३. कार्ल मार्क्स—राजनीतिक अर्थशास्त्र की समीक्षा (अंग्रेजी सं०) पृष्ठ १६७ ।
१४. कार्ल मार्क्स—लूई बोनापार्ट की अठारहवीं ब्रूमेर—संकलित रचनाएँ भाग-१ पृष्ठ १३३-३४ ।
१५. कार्ल मार्क्स—प्रेस की स्वतंत्रता सम्बन्धी बहस से—संग्रहीत रचनाएँ (अंग्रेजी सं०) पृष्ठ १७४-७५ ।



कला और सर्वहारा

—लेनिन

एक

"लोग राजनीति में सदा बल और आत्म छलना के नादान शिकार हुए हैं, और तब तक होते रहेंगे जब तक वे हर नैतिक, धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक कथन, घोषणा और वायदे के पीछे किसी न किसी वर्ग के हितों का पता लगाना नहीं सीखेंगे। सुधारों और छोटे-मोटे हेर-फेर के समर्थक जब तक यह नहीं समझ लेंगे कि हर पुरानी संस्था, वह कितनी ही बर्बरतापूर्ण क्यों न प्रतीत होती हो, कुछ न कुछ शासक वर्गों के बल-बूते पर ही कायम रहती है, तब तक पुरानी व्यवस्था के संरक्षक उन्हें बेवकूफ बनाते रहेंगे। इन वर्गों के प्रतिरोध को चकनाचूर करने का केवल एक तरीका है और वह यह कि जिस समाज में हम रह रहे हैं उसी में उन शक्तियों को खोजना और उन्हें संघर्ष के लिए जागृत तथा संगठित करना होगा, जो पुरातन को तोड़कर नये का निर्माण कर सकने वाली शक्ति बन सकें और जिन्हें अपनी सामाजिक स्थिति के कारण ऐसी शक्ति बनना चाहिए।"[1]

दो

"प्रत्येक जातीय संस्कृति में जनवादी और समाजवादी संस्कृति के तत्व विद्यमान होते हैं क्योंकि प्रत्येक जाति में श्रमजीवी और शोषित जनता होती है जिसके जीवन की परिस्थितियाँ अनिवार्य रूप से जनवाद और समाजवाद की विचारधारा को जन्म देती हैं। किन्तु प्रत्येक जाति में एक पूंजीवादी संस्कृति भी होती है जो बीज रूप में नहीं होती, बल्कि प्रभुत्वशील संस्कृति के रूप में छायी

रहती है। इसलिए आम 'जातीय संस्कृति' भूपतियों, पादरियों और पूंजीपतियों की संस्कृति होती है। जनवाद की और विश्व मजदूर आंदोलन की अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति का नारा देने में हम प्रत्येक जातीय संस्कृति से केवल उसके जनवादी और समाजवादी तत्व लेते हैं; हम केवल इन्हीं तत्वों को ग्रहण करते हैं और प्रत्येक जाति की पूंजीवादी संस्कृति तथा पूंजीवादी राष्ट्रवाद के पूर्णतया विरोध में उनको ग्रहण करते हैं।"[२]

"क्रांतिकारी सर्वहारा वर्ग की विचारधारा के रूप में मार्क्सवाद ने ऐतिहासिक महत्व प्राप्त किया है, क्योंकि पूंजीवादी युग की अत्यन्त मूल्यवान उपलब्धियों को ठुकराने के बजाय, मार्क्सवाद ने दो हजार वर्षों से अधिक के मानव विचारों तथा संस्कृति के विकास के फलस्वरूप उपलब्ध प्रत्येक कीमती तत्व को आत्मसात किया है और नवीन रूप दिया है। सर्वहारा अधिनायकत्व के व्यावहारिक अनुभवों से जो हर प्रकार के शोषण के विरुद्ध सर्वहारा वर्ग का आखिरी संघर्ष है—प्रेरणा लेकर, केवल उक्त आधार पर उस दिशा में और आगे के काम को सच्ची सर्वहारा संस्कृति का विकास माना जा सकता है।"[३]

तीन

"कला जनता की थाती है। उसकी जड़ें मेहनतकश जनता के बीच गहरी होनी चाहिए। इसी जनता द्वारा उसे समझा और प्यार किया जाना चाहिए। उसे जनता की भावनाओं, विचारों और इच्छाओं को एकजूट करना और उदार बनाना चाहिए। उससे जनता की कर्मशीलता को जगाना चाहिए और उसके अन्दर कलात्मक प्रवृत्ति पैदा करनी चाहिए। क्या हमें थोड़ी-सी जनसंख्या को बढ़िया मीठी केक खिलाने की कोशिश करनी चाहिए, जबकि मजदूर-किसान जनता के पास काली रोटी भी नहीं है? कहने की जरूरत नहीं है कि मेरी इस बात को न सिर्फ शाब्दिक अर्थ में, बल्कि एक रूपक के रूप में भी समझना चाहिए। अपनी आँखों के सामने हमेशा मजदूर और किसानों को रखना चाहिए। उन्हीं के लिए हमें व्यवस्था करने का ज्ञान अर्जित करना चाहिए, हिसाब-किताब का काम सीखना चाहिए। यही बात कला और संस्कृति के क्षेत्र में भी लागू होती है।"[४]

चार

पार्टी-साहित्य का उसूल

"पार्टी-साहित्य का यह उसूल क्या है? बात महज इतनी ही नहीं है कि समाजवादी सर्वहारा वर्ग के लिए साहित्य व्यक्तियों अथवा दलों के लाभ का साधन नहीं हो सकता वास्तव में वह सर्वहारा वर्ग के साझे हेतु से स्वाधीन व्यक्तिगत हेतु में नहीं हो सकता। गैर पार्टी लेखक मुर्दाबाद! साहित्यिक महा-मानव मुर्दाबाद! साहित्य को सर्वहारा वर्ग के साझे हेतु का एक अंग होना चाहिए, समूचे मज़दूर वर्ग के समूचे वर्ग चेतन हरावल द्वारा संचालित अभिन्न,

महान सामाजिक जनवादी मशीन का 'दांता और पेंच' होना चाहिए। साहित्य को सामाजिक जनवादी पार्टी के संगठित, योजनावद्ध और समेकित काम का उपादान होना चाहिए।

एक जर्मन कहावत है कि "सभी तुलनाएँ लंगड़ी होती हैं"। उसी तरह पेंच के साहित्य की, मशीन के साथ जीवित आंदोलन की मेरी तुलना भी लंगड़ी है। हो सकता है कि ऐसे क्षोभोन्मादी बुद्धिजीवी भी मिलें, जो विचारों के उन्मुक्त संग्राम को, आलोचना की स्वतंत्रता को और साहित्यिक रचना की स्वतंत्रता इत्यादि को कम करने वाली, चेतना शून्य वनाने वाली, 'नौकरशाही वनाने वाली' ऐसी तुलना पर चीख-पुकार मचायें। असल में ये चीख-पुकारें महज पूंजीवादी वुद्धिजीवियों की खुद-परस्ती की अभिव्यक्ति होंगी। निर्विवाद है कि साहित्य यांत्रिक समीकरण को, समतलन को, अल्पमत के ऊपर बहुमत के प्रभुत्व को सबसे कम स्वीकार करता है। यह भी निर्विवाद है कि इस मामले में निजी पहल और वैयक्तिक प्रवृत्ति के लिए, चिंतन और कल्पना के लिए, रूप और अन्तर्वस्तु के लिए अधिक खुले वातावरण की जरूरत होती है। यह सब कुछ निर्विवाद है, लेकिन यह सब कुछ केवल यही प्रदर्शित करता है कि सर्वहारा के पार्टी-उद्देश्य के साहित्यिक पक्ष को यांत्रिक ढंग से उसके अन्य पक्षों का समरूपी नहीं समझा जा सकता। इससे पूंजीपति वर्ग और पूंजीवादी लोकतन्त्र के लिए वेगाना और अजीव इस प्रस्थापना का जरा सा भी खण्डन नहीं होता कि साहित्य को हर तरह से और लाजिमी तौर से सामाजिक जनवादी पार्टी के काम के अन्य पक्षों से अविभाज्य रूप से सम्वन्धित एक पक्ष वन जाना चाहिए।

मुद्रा की सत्ता पर आधारित समाज में, एक ऐसे समाज में जहाँ मेहनतकश गरीवी में जीते हों और मुठ्ठी भर लोग परोपजीवियों की तरह रहते हों, असली और सच्ची स्वतंत्रता नहीं हो सकती। लेखक महोदय, क्या आप अपने पूंजीवादी प्रकाशक से, पूंजीवादी रुचि वाले अपने पाठकों से स्वतंत्र हैं, जो आपसे उपन्यासों और चित्रों में अश्लीलता की, 'पवित्र' अभिनय कला के 'पूरक' के रूप में व्यभिचार की माँग करते हैं? यह नितांत स्वतंत्रता की वात पूंजीवादी अथवा अराजकतावादी (क्योंकि विश्व दृष्टिकोण के रूप में अराजकतावाद अन्दर से उलट दिया गया पूंजीवादी दर्शन है) लफ्फाजी है। समाज में रहकर समाज से कोई स्वतंत्र नहीं रह सकता। पूंजीवादी लेखक कलाकार अथवा अभिनेत्री की स्वतंत्रता तिजोरी की, भ्रष्टाचार की, व्यभिचार की नकावपोश 'अथवा मक्कारी के साथ नकावपोश' अधीनता है।

हम समाजवादी इस मक्कारी को वेनकाव करते हैं, झूठे लेवुलों को उखाड़ फेंकते हैं, इसलिए नहीं कि अवर्गीय साहित्य अथवा कला की उपलब्धि हो (वह तो केवल समाजवादी वर्गविहीन समाज में ही सम्भव है) वल्कि इसलिए कि वस्तुतः स्वतन्त्र और सर्वहारा वर्ग से खुले आम सम्वन्धित साहित्य को दिखावटी रूप से स्वतन्त्र पर वास्तव में पूंजीपति वर्ग से वंधे हुए साहित्य के मुकावले में खड़ा किया जाये।

वह स्वतंत्र साहित्य इसलिए होगा कि लालच और पदलोलुपता से नहीं, वल्कि समाजवाद के विचार और मेहनतकशों के प्रति सहानुभूति से उसे नित नूतन शक्ति प्राप्त होगी। वह स्वतंत्र साहित्य इसलिए होगा कि वह किसी परितृप्ता नायिका अथवा चर्बीग्रस्त उकताये हुए ऊपरी 'दस हजार लोगों' की नहीं,

बल्कि उन करोड़ों मेहनतकशों की सेवा करेगा जो देश की सेवा, उसका बल और उसका भविष्य है। वह स्वतंत्र साहित्य होगा जो मानव जाति के क्रांतिकारी चिंतन की अंतिम बात को समाजवादी सर्वहारा वर्ग के अनुभव तथा जीवंत कार्यों द्वारा सफल बनायेगा, जो अतीत के अनुभव (वैज्ञानिक समाजवाद, समाजवाद के आदिम कल्पना-परक रूपों से उसके विकास की निष्पत्ति) और वर्तमान के अनुभव (मजदूर साथियों का वर्तमान संघर्ष) के बीच स्थायी परस्पर सहयोगी क्रिया पैदा करे।"५

पाँच

रचना में यथार्थ बोध और विचारधारा का अंतर्विरोध

"टॉलस्टॉय की कृतियों, विचारों, सिद्धांतों तथा उनके द्वारा प्रतिपादित विचारधारा में तीव्र विरोधाभास मौजूद हैं। एक टॉलस्टॉय तो वह महान कलाकार हैं जिन्होंने रूसी जीवन के अद्वितीय रेखाचित्र ही नहीं खींचे हैं, वरन् विश्व-साहित्य को उत्कृष्टतम उपहार भी भेंट किये हैं। लेकिन दूसरे टॉलस्टॉय एक खब्ती जमींदार हैं जिनके दिमाग पर सदा ईर्ष्या सवार रहती है। एक ओर सामाजिक ढकोसले और पाखण्ड के विरुद्ध साफ और सच्चे दिल से किया हुआ इनका प्रतिवाद है, तो दूसरी ओर हमें 'टॉलस्टॉयवादी' के दर्शन होते हैं जो सदा विलाप करता है और सबके सामने छाती पीट-पीटकर चिल्लाता है; 'लोगों! मैं बड़ा पतित हूँ, मैं बड़ा पापी हूँ, परन्तु अब मैं आत्मोद्धार कर रहा हूँ। देखो, अब मैंने मांस खाना छोड़ दिया है, अब मैं केवल दूध-चावल पर ही गुजर कर लेता हूँ।' उनकी रचनाओं में एक ओर हम पूंजीवादी शोषण की कड़ी आलोचना पाते हैं, सरकार के हिंसा, राजशासन और अदालतों के स्वांग की कड़ी निंदा देखते हैं, उस गहरे विरोधाभास का नग्न चित्रण हम देखते हैं जिसमें एक तरफ सभ्यता की उपलब्धियाँ और समृद्धि का विकास है और दूसरी तरफ श्रमिक जनता की बढ़ती गरीबी, अधःपतन और क्लेश है। दूसरी ओर उनका यह अहमकाना उपदेश मिलता है कि "बुराई का प्रतिरोध हिंसा से मत करो"! एक तरफ अति गंभीर यथार्थवाद है जो सब तरह के पाखण्ड के परदे फाड़ डालता है तो दूसरी तरफ संसार की सबसे घिनौनी वस्तु-धर्म का प्रचार किया गया है।

अतः यह तो स्पष्ट है कि इन विरोधाभासों के कारण टॉलस्टॉय मजदूर आंदोलन को, समाजवाद के संघर्ष में उसकी भूमिका को तथा रूसी क्रांति को समझने में असमर्थ रहे। परन्तु टॉलस्टॉय के विचारों और सिद्धांतों में जो अन्तर्विरोध मिलते हैं वे आकस्मिक नहीं हैं। ये तो उन्नीसवीं सदी के अंतिम तीस सालों में स्वयं रूसी जीवन में व्याप्त विरोधाभासों को ही व्यक्त करते हैं। टॉलस्टॉय के विचारों में जो विरोधाभास हैं, उनका मूल्यांकन वर्तमान मजदूर आंदोलन और वर्तमान समाजवाद के दृष्टिकोण से नहीं करना चाहिए (ऐसे मूल्यांकन की आवश्यकता अवश्य है, पर वह पर्याप्त नहीं है); वरन् उस विरोध के दृष्टिकोण से करना चाहिए जो बढ़ते हुए पूंजीवाद, जनता की बढ़ती हुई गरीबी और भूमि से उसके सम्बन्ध-विच्छेद के विरुद्ध हुआ और जिसका पुराणपंथी रूसी देहात से पैदा होना अनिवार्य था। टॉलस्टॉय की महानता इस बात में

है कि बुर्जुआई क्रांति से पहले लाखों रूसी किसानों में जो भावनाएँ और विचार पनप रहे थे, उनकी उन्होंने सुन्दर अभिव्यक्ति की है। टॉलस्टॉय की मौलिकता इस बात में है कि समूचे तौर पर उनके विचार किसानों की बुर्जुआई क्रांति के रूप में हमारी क्रांति की विशेषताओं को व्यक्त करते हैं। इस दृष्टिकोण से देखने पर टॉलस्टॉय के विचारों में जो विरोधाभास हैं, वे सचमुच उन परिस्थितियों के प्रतिविम्ब हैं जिनमें हमारे किसानों को इस क्रांति में ऐतिहासिक पार्ट अदा करना पड़ा।

कलाकार के नाते टॉलस्टॉय को रूस में भी बहुत ही कम लोग जानते हैं। उनके महान साहित्य को सचमुच सभी लोगों तक पहुँचाने के लिए यह आवश्यक है कि उस सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ युद्ध छेड़ दिया जाय जिसकी बदौलत करोड़ों इंसान अज्ञान, जुल्म, गुलामाना मशक्कत और दरिद्रता के शिकार बने हुए हैं। तात्पर्य यह है कि एक समाजवादी क्रांति की जरूरत है। टॉलस्टॉय ने वह ललित साहित्य लिखा है जिसकी कद्र जनता उस समय करेगी जब वह जमींदारों और पूँजीपतियों का तख्ता उलटकर अपने लिए मनुष्योचित सामाजिक जीवन की व्यवस्था कर लेगी। टॉलस्टॉय उल्लेखनीय ओज के साथ वर्तमान व्यवस्था में पद्दलित आम जनता के उद्गारों को व्यक्त करने, उसकी दशा का वर्णन करने तथा उसके विरोध एवम् रोष की स्वतः स्फूर्ति भावनाओं को मुखरित करने में समर्थ हुए। टॉलस्टॉय मुख्यतः अट्ठारह सौ इकसठ से उन्नीस सौ चार तक के युग के थे और उन्होंने एक कलाकार, विचारक एवं कृतियों में समूची प्रथम रूसी क्रांति की ऐतिहासिक विशेषताओं को, उसको उपदेशक के नाते अपनी क्षमताओं और त्रुटियों को आश्चर्यजनक स्पष्टता के साथ उभारा है।

टॉलस्टॉय ने पुरजोर ढंग से और सच्चे दिल से शासक-वर्गों को लथेड़ा है और धर्म, अदालत, सैनिकवाद, "वैध" विवाह और बुर्जुआई पण्डिताई जैसी उन सब संस्थाओं के—जिनके सहारे आज का समाज चल रहा है—अंदर के झूठ का खूब भण्डाफोड़ किया है। परन्तु उनके सिद्धांत आधुनिक व्यवस्था की कब्र खोदने वाले—सर्वहारा—के जीवन, श्रम और संघर्ष के बिलकुल उल्टे बैठते हैं। तो फिर टॉलस्टॉय के उपदेश में किनका दृष्टिकोण प्रतिबिम्बित हुआ है? टॉलस्टॉय रूस के उस विशाल जनसमुदाय के प्रवक्ता थे, जो आधुनिक जीवन के स्वामियों से घृणा तो करने लग गया था, पर जो समझ-बूझकर उनके विरुद्ध सतत संघर्ष अंत तक करने की आवश्यकता को अभी नहीं समझ पाया था।

टॉलस्टॉय के कथा-साहित्य का अध्ययन करके रूसी मजदूर वर्ग अपने दुश्मनों को ज्यादा अच्छी तरह पहचान सके, और उनके सिद्धांतों का अध्ययन करके समस्त रूसी जनता यह जरूर जानेगी कि उसकी निजी कमजोरी, जिसने उसे अपनी आजादी का लक्ष्य पूरा करने से रोका, किस बात में निहित थी। यह जानना जरूरी है ताकि प्रगति की जा सके। रूसी जनता तभी आजादी प्राप्त करेगी, जब यह समझ लेगी कि उसे बेहतर जीवन के लिए संघर्ष करने की शिक्षा टॉलस्टॉय से नहीं बल्कि उस वर्ग से लेनी है, जिसका महत्व टॉलस्टॉय नहीं समझ पाये और जो उस पुरानी दुनियाँ को, जिससे टॉलस्टॉय घृणा करते थे, उखाड़ फेंकने में समर्थ एक मात्र वर्ग है। यह वर्ग सर्वहारा वर्ग है।"[६]

छः

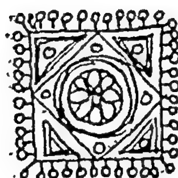
लोकप्रिय लेखक की विशेषताएँ :

"एक लोकप्रिय लेखक अपने पाठकों को बहुत साधारण और सामान्यतः ज्ञात तथ्यों से क्रमशः गहरे विचार और गहरे अध्ययन की ओर आगे बढ़ाता है। वह साधारण तर्कों और प्रभावकारी उदाहरणों के सहारे अपने पाठकों को उन तथ्यों से प्राप्त होने वाले मुख्य निष्कर्षों तक पहुँचाता है और साथ ही वह चिंतनशील पाठकों के दिमाग में निरंतर नये प्रश्न उठाने की कोशिश करता है। लोकप्रिय लेखक अपने पाठकों के बारे में यह मानकर नहीं चलता कि वे सोचते नहीं या सोच भी नहीं सकते या सोच विचार करना ही नहीं चाहते; बल्कि वह यह मानकर चलता है कि उसके विकासशील पाठक सोचना चाहते हैं और वह इसलिए उनकी इस गंभीर और कठिन काम में मदद करता है, वह उन्हें सोचने का रास्ता दिखाता है और उन्हें चिंतन के मार्ग पर स्वतः चलना सिखाता है।"[७]

●

सन्दर्भ

१. 'मार्क्सवाद के तीन स्रोत और तीन घटक' लेख से।
२. संग्रहीत रचनाएँ खण्ड २०, पृ० २४।
३. संग्रहीत रचनाएँ खण्ड ३१, पृ० १७।
४. क्लारा जेटकिन के संस्करण से।
५. 'पार्टी संगठन और पार्टी साहित्य' लेख से।
६. टॉलस्टॉय सम्बन्धी लेखों से।
७. संग्रहीत रचनाएँ (अंग्रेजी संस्करण) खण्ड ५, पृ० ११-१२।



कला और क्रान्ति

—माओ-त्से-तुङ्ग

एक

किसी भी समस्या पर विचार करते समय हमें वास्तविक स्थिति को आधार बनाकर शुरूआत करनी चाहिए न कि किताबी परिभाषाओं को आधार बनाकर—यदि हम साहित्य व कला की परिभाषाओं को पाठ्य-पुस्तकों में खोजने लगेंगे और इसके बाद उन्हें कला-साहित्य के वर्तमानकालीन आन्दोलनों के मार्ग-दर्शक सिद्धान्तों का निर्णय करने तथा आज के जमाने में पैदा होने वाले विभिन्न मतों और मतभेदों को परखने के लिए इस्तेमाल करेंगे,—तो हम एक गलत पद्धति का अनुसरण करेंगे। हम लोग मार्क्सवादी हैं, और मार्क्सवाद हमें यह सिखाता है कि किसी भी समस्या से निपटते समय हमें वस्तुगत तथ्यों से शुरूआत करनी चाहिए, अमूर्त परिभाषाओं से नहीं, तथा इन तथ्यों का विश्लेषण करके हमें अपने मार्ग-दर्शक सिद्धान्तों, नीतियों और उपायों को निर्धारित करना चाहिये। कला-साहित्य सम्बन्धी कार्य के अपने वर्तमान वाद-विवाद में भी हमें ऐसा ही करना चाहिये।

दो

हमारी आज की सभा का उद्देश्य वस्तुतः इस बात की गारण्टी करना है कि कला और साहित्य समूची क्रान्तिकारी मशीनरी के एक अभिन्न अंग के रूप में अच्छी तरह फिट हो जाएँ, वे जनता को एकताबद्ध और शिक्षित करने तथा दुश्मन पर प्रहार करने और उसे नष्ट कर देने वाले शक्तिशाली हथियार बन जाएँ, तथा वे जनता को इस योग्य बना दें कि वह एक-दिल होकर दुश्मन का मुकाबला कर सके। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए आखिर किन समस्याओं को हल करना आवश्यक है? मेरा खयाल है कि वे समस्याएँ इस प्रकार हैं—लेखकों व कलाकारों के वर्ग दृष्टिकोण की समस्या, उनके रुख की समस्या, उनके

पाठकों-दर्शकों की समस्या, उनके कार्य की समस्या और उनके अध्ययन की समस्या।

तीन

साहित्य और कला किसके लिए ?

इस समस्या को मार्क्सवादियों ने, खासतौर पर लेनिन ने काफी समय पहले ही हल कर दिया था। बहुत पहले सन् १९०५ ई० में ही लेनिन ने जोर देकर बताया था कि हमारे साहित्य और कला को "लाखों-करोड़ों मेहनतकश लोगों की सेवा करनी चाहिए।" हम यह समझते हैं कि कला-साहित्य जनता के लिए है। आज जो कुछ सचमुच जन-समुदाय के हित में होता है वह निश्चयपूर्वक सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में होता है। जो कुछ पूंजीपति वर्ग के नेतृत्व में होता है, वह आम जनता के हित में हर्गिज नहीं हो सकता। स्वाभाविक है कि यही बात नये कला-साहित्य पर भी लागू होती है, जो नयी संस्कृति का एक अंग है। हमें कला-साहित्य की समृद्ध विरासत को, जो चीन में और अन्य देशों में अतीत काल से चली आ रही है, स्वीकार कर लेना चाहिए, लेकिन हमारा उद्देश्य फिर भी विशाल जन-समुदाय की सेवा होना चाहिए। और न हम अतीत काल के साहित्यिक व कलात्मक रूपों का इस्तेमाल करने से ही इन्कार करते हैं। लेकिन हमारे हाथ में आने के बाद ये पुराने रूप भी, जिनका पुनः संस्कार करके हम उनमें एक नयी विषय-वस्तु भर देते हैं, जनता की सेवा करने वाली एक क्रान्तिकारी वस्तु बन जाती है।

विशाल जन-समुदाय में आखिर कौन लोग शामिल हैं ? जनता के व्यापकतम तबकों में, जिनकी संख्या हमारी आबादी के ९०% से भी ज्यादा है, मजदूर, किसान, जनमुक्ति सेना के सैनिक और शहरी निम्न-पूंजीपति वर्ग शामिल हैं। इसीलिए हमारा कला-साहित्य सबसे पहले मजदूरों के लिए है, एक ऐसे वर्ग के लिए जो क्रान्ति का नेतृत्व करता है। दूसरे, वह किसानों के लिए है जिनकी तादाद सबसे अधिक है और जो क्रान्ति में हमारे सबसे घनिष्ठ सहयोगी हैं। तीसरे वह सशस्त्र मजदूरों व किसानों के लिए है जो क्रान्तिकारी युद्ध की मुख्य शक्ति हैं। चौथे, वह शहरी निम्नपूंजीपति वर्ग के मेहनतकश जन समुदाय और निम्न-पूंजीपति बुद्धि-जीवियों के लिए है; ये दोनों ही प्रकार के लोग क्रांति में हमारे सहयोगी हैं तथा हमारे साथ दीर्घकाल तक सहयोग कर सकते हैं। हमारा कला-सहित्य ऊपर बताये गये चार प्रकार के लोगों के लिए ही होना चाहिए। उनकी सेवा करने के लिए हमें सर्वहारा वर्ग-दृष्टिकोण अपनाना चाहिये, निम्नपूंजीवादी वर्ग-दृष्टिकोण नहीं। आज ऐसे लेखक जो व्यक्तिवादी और निम्न पूंजीवादी दृष्टिकोण से चिपके रहते हैं, क्रांतिकारी मजदूरों, किसानों और सैनिकों के विशाल जन-समुदाय की सच्ची सेवा नहीं कर सकते। उनकी दिलचस्पी मुख्य रूप से कुछ निम्न-पूंजीवादी बुद्धि-जीवियों पर ही केन्द्रित रहती है। बहुत से साथी निम्न पूंजीवादी बुद्धि-जीवियों का अध्ययन करने और उनकी मानसिक स्थिति का विश्लेषण करने में बड़ी दिलचस्पी दिखाते हैं, तथा वे लोग इन बुद्धि-जीवियों का चित्रण करने और उनकी कमियों की उपेक्षा करने अथवा उनकी पैरवी करने में ही अपना ध्यान

केन्द्रित करते हैं, वजाय इसके कि वे बुद्धि-जीवियों का इस बात के लिए पथ-प्रदर्शन करें कि वे उनके साथ मजदूरों किसानों और सैनिकों के विशाल जन-समुदाय से घनिष्ठतापूर्वक एक रूप हो जाय, उनके व्यावहारिक संघर्ष में भाग लें, उनका चित्रण करें और उन्हें शिक्षा दें। निम्नपूंजीवादी वर्ग में पैदा होने और खुद भी बुद्धि-जीवी होने के कारण बहुत से साथी केवल बुद्धि-जीवियों में ही अपने मित्रों की खोज करते हैं तथा उन्हीं का अध्ययन करने और चित्रण करने में अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। इस प्रकार का अध्ययन और चित्रण यदि सर्वहारा दृष्टिकोण से किया जाय तो वह उचित होता। लेकिन वे ऐसा नहीं करते अथवा पूरी तरह ऐसा नहीं करते। वे निम्नपूंजीवादी दृष्टिकोण अपना लेते हैं तथा ऐसी रचनाओं का सृजन करते हैं जिनमें निम्नपूंजीपति वर्ग की आत्मभिव्यक्ति होता है, जैसा कि बहुत सी साहित्यिक रचनाओं और कला-कृतियों में दिखाई देता है। वे लोग अक्सर निम्नपूंजीवादी वर्ग में पैदा होने वाले बुद्धि-जीवियों के प्रति हार्दिक सहानुभूति प्रकट करते हैं और यहाँ तक आगे बढ़ जाते हैं कि उनकी कमियों के प्रति भी सहानुभूति प्रकट करने लगते हैं तथा उनकी प्रशंसा करने लगते हैं। दूसरी तरफ ये साथी मजदूरों, किसानों और सैनिकों के विशाल जन-समुदाय से बहुत कम सम्पर्क रखते हैं, उन्हें समझने और उसका अध्ययन करने की कोशिश नहीं करते, उनके बीच अपने घनिष्ठ मित्र नहीं बनाते और उनका चित्रण करने में कुशल नहीं होते, और जब कभी उनका चित्रण भी करते हैं तो उनके पात्रों की पोशाक तो मेहनत-कश जनता की होती है लेकिन चेहरा निम्नपूंजीवादी बुद्धि-जीवियों का ही होता है। इन साथियों के पाँव निम्नपूंजीवादी बुद्धि-जीवियों के पक्ष में जमे हुए हैं, अथवा और अधिक अलंकृत शब्दों में कहा जाय तो उनकी चेतना पर अब भी निम्नपूंजीवादी बुद्धि-जीवी वर्ग का ही सिक्का बैठा हुआ है।

चार

कलात्मक श्रेष्ठता बनाम लोकप्रियता

किसकी सेवा की जाय, यह समस्या हल कर लेने के बाद, हम दूसरी समस्या यानी कैसे सेवा की जाय, की चर्चा करना चाहते हैं। हमारे कुछ साथियों के शब्दों में क्या कमें स्तर उन्नत करने में लग जाना चाहिए अथवा लोकप्रिय बनाने के कार्य में लग जाना चाहिए ?

अतीतकाल में कुछ साथियों ने लोकप्रिय बनाने के कार्य किसी सीमा तक, अथवा एक गम्भीर सीमा तक महत्वहीन समझा अथवा उसकी उपेक्षा की तथा स्तर ऊँचा करने के कार्य पर जरूरत से ज्यादा जोर दे डाला। स्तर उन्नत करने के कार्य पर जोर अवश्य देना चाहिए, लेकिन केवल एक तरफातौर पर और अलग-थलग रूप में ऐसा करना, जरूरत से ज्यादा मात्रा में ऐसा करना गलत होगा। चूंकि ये साथी "किसके लिए ?" की समस्या का स्पष्ट हल नहीं खोज पाते इसलिए उनके पास "स्तर उन्नत करने" और "लोकप्रिय बनाने" की बात को परखने के लिए कोई सही किस्म की कसौटी नहीं होती, तथा दोनों के बीच सही सम्बन्धों को पता लगाने की उनमें इससे भी कम सामर्थ्य होती है। चूंकि हमारा कला-साहित्य बुनियादी तौर पर मजदूरों, किसानों और सैनिकों के लिए है इसलिए

"लोकप्रिय बनाने" का मतलब होता है मजदूरों, किसानों और सैनिकों में लोकप्रिय बनाना तथा "स्तर उन्नत करने" का मतलब होता है उनके वर्तमान स्तर से आगे की ओर बढ़ना। हमें केवल ऐसी ही चीजों को लोकप्रिय बनाना चाहिये जिनकी जरूरत मजदूरों, किसानों और सैनिकों को होती है और जिन्हें वे आसानी से स्वीकार कर लेते हैं। परिणामस्वरूप मजदूरों, किसानों ओर सैनिकों को शिक्षित करने से पहले हमारे सामने इन लोगों से सीखने का कार्य मौजूद है। यह बात स्तर उन्नत करने के बारे में और भी अधिक लागू होती है। सवाल यह है कि आखिर कला-साहित्य को किस आधार से उन्नत किया जाना चाहिये? क्या सामंती वर्गों के आधार से? क्या पूंजीपति वर्ग के आधार से? क्या निम्नपूंजीवादी बुद्धि-जीवियों के आधार से? नहीं, इनमें से किसी भी आधार से नहीं, उसे केवल मजदूरों, किसानों और सैनिकों के आधार से ही ऊँचा उठाया जाना चाहिये। कला-साहित्य के स्तर को उसी दिशा में उन्नत किया जाना चाहिये जिस दिशा में मजदूर, किसान और सैनिक खुद आगे बढ़ रहे हों, एक ऐसी दिशा जिसमें सर्वहारा वर्ग आगे बढ़ रहा हो।

भला समस्त कला-साहित्य का स्रोत क्या है? साहित्यिक रचनाओं और कला-कृतियों जैसे विचारधारात्मक रूप समाज के जीवन में मनुष्य के मष्तिक पर पड़ने वाले प्रतिबिम्बों की उपज होते हैं। क्रांतिकारी कला-साहित्य क्रांतिकारी लेखकों और कलाकारों के मस्तिष्क पर पड़ने वाले जन-जीवन के प्रतिबिम्बों की उपज होता है। जनता का जीवन साहित्य और कला के लिए कच्चे माल की एक खान है, एक ऐसा कच्चा माल जो अपने स्वाभाविक रूप में होता है, एक ऐसा कच्चा माल जो अनपढ़ होते हुए भी अत्यन्त सप्राण, समृद्धि और मौलिक होता है; इसके साथ तुलना करने पर समस्त कला-साहित्य बिल्कुल फीका जान पड़ता है; यह साहित्य और कला का अनन्त स्रोत है। उसका एकमात्र स्रोत है। अतीतकाल की साहित्यिक रचनाएँ और कलाकृतियाँ एक स्रोत न होकर महज एक धारा हैं, उनका सृजन हमारे पूर्ववर्ती लोगों ने अपने समय की और अपने स्थान की जनता के जीवन में प्राप्त किये गये साहित्यिक और कलात्मक कच्चे माल के आधार पर किया था। हमें अपने साहित्यिक और कलात्मक विरासत की तमाम श्रेष्ठ चीजों को अपना लेना चाहिये, गुण-दोषों का विवेचन करके उनकी तमाम उपयोगी चीजों को आत्मसात् कर लेना चाहिए और जब हम अपने समय और अपने स्थान की जनता के जीवन में मौजूद साहित्यिक और कलात्मक कच्चे माल से अपनी रचनाओं का सृजन कर रहे हों उस समय एक उदाहरण के तौर पर इस्तेमाल करना चाहिये।

हालांकि मनुष्य का सामाजिक जीवन ही कला व साहित्य का एकमात्र स्रोत होता है तथा उसकी विषय-वस्तु कला-साहित्य के मुकाबले अतुलनीय रूप से अधिक सजीव और समृद्ध होती है, फिर भी लोग केवल जीवन को देखकर ही सन्तुष्ट नहीं हो सकते बल्कि साहित्य और कला की मांग भी करते हैं। ऐसा क्यों होता है? इसकी वजह यह है कि यद्यपि ये दोनों ही सुन्दर होते हैं, तथापि साहित्यिक रचनाओं और कला-कृतियों में प्रतिबिम्बित होने वाला मानव जीवन अपेक्षाकृत ऊँचे धरातल पर, अपेक्षाकृत अधिक तीव्र, अधिक केंद्रित, अधिक विशिष्टतापूर्ण और आदर्श के अधिक निकट होता हैं और होना चाहिये, तथा इसलिए वह रोजमर्रा के वास्तविक जीवन से कहीं अधिक व्यापक प्रभाव वाला होता है। क्रांतिकारी कला-साहित्य को चाहिए कि वह वास्तविक जीवन से विभिन्न प्रकार के पात्रों

का निर्माण करे तथा इतिहास को आगे बढ़ाने में आम जनता की मदद करे।

साहित्यिक रचनाओं और कलाकृतियों के क्षेत्र में, लोकप्रिय बनाने और स्तर उन्नत करने का तात्पर्य क्या होता है? इन दोनों कार्यों के बीच क्या सम्बन्ध है? लोकप्रिय रचनाएँ सरल और सुबोध होती हैं, और इसलिए उन्हें आज व्यापक जनता अपेक्षाकृत अधिक आसानी के साथ अपना लेती है। अपेक्षाकृत उन्नत स्तर की रचनाओं का सृजन करना, जो अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत होती हैं, ज्यादा कठिन है तथा वे इस समय आम जनता में ज्यादा आसानी और तेजी के साथ लोकप्रिय नहीं बन पातीं। लोकप्रिय बनाने और स्तर उन्नत करने के बीच कोई अपरिवर्तनीय विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती है। हालत सिर्फ यह नहीं है कि उन्नत स्तर की कुछ रचनाओं को आज भी लोकप्रिय बनाया जा सकता है, बल्कि यह भी है कि व्यापक जनता का सांस्कृतिक स्तर लगातार उन्नत होता जा रहा है। यहाँ लोकप्रिय बनाने का मतलब है जनता के लिए लोकप्रिय बनाना, तथा स्तर उन्नत करने का मतलब है जनता के लिए स्तर उन्नत करना। इस प्रकार स्तर उन्नत करने का काम लोकप्रिय बनाने के काम पर ही निर्भर है।

क्रान्तिकारी लेखक व कलाकार अपने सृजनात्मक श्रम से जनता के जीवन में मौजूद कच्चे माल को कला-साहित्य के एक ऐसे विचारात्मक रूप में ढाल देते हैं जो विशाल जन-समुदाय की सेवा करता है। इसमें अपेक्षाकृत उन्नत स्तर वाला वह कला-साहित्य भी शामिल है, जिसे प्रारम्भिक स्तर के कला-साहित्य के आधार पर विकसित किया जाता है तथा जिसकी समाज के उन तबकों को जरूरत होती है जिनका स्तर उन्नत हो चुका हो, अथवा अपेक्षाकृत फौरी तौर पर आम जनता के कार्य-कर्त्ताओं को जरूरत होती है। इसमें प्रारम्भिक स्तर वाला वह कला-साहित्य भी शामिल है जिसका मार्ग-दर्शन अपेक्षाकृत उन्नत स्तर वाला कला साहित्य करता है तथा जिसकी इस समय आम जनता के भारी बहु-संख्या को फौरी जरूरत है। हमारा समूचा कला-साहित्य, चाहे उसका स्तर अपेक्षाकृत उन्नत हो अथवा प्रारम्भिक, विशाल जन-समुदाय के लिए ही है तथा सबसे पहले मजदूरों, किसानों और सैनिकों के लिए ही है, इसका सृजन मजदूरों, किसानों और सैनिकों के लिए किया जाता है तथा यह उन्हीं के इस्तेमाल के लिए होता है।

पाँच

कला और राजनीति

आज की दुनिया में समूची संस्कृति और समस्त कला-साहित्य निश्चित वर्गों के ही होते हैं तथा उन्हें निश्चित राजनीतिक कार्य दिशाओं के अनुरूप ढाला जाता है। वास्तव में, 'कला कला के लिए' के सिद्धान्त को मानने वाली कला, वर्गों से परे रहने वाली कला, तथा राजनीति से अलग रहने अथवा स्वतन्त्र रहने वाली कला नाम की कोई चीज नहीं होती। सर्वहारा वर्ग का कला-साहित्य समूचे सर्वहारा क्रान्तिकारी कार्य का एक अंग है। लेनिन के शब्दों में, यह समूची क्रान्तिकारी मशीन के दाँते और पेंच के समान है। इसलिए कला-साहित्य के क्षेत्र में किये जाने वाले पार्टी के काम का पार्टी के समूचे क्रान्तिकारी कार्य में एक

निश्चित और सुनिर्धारित स्थान होता है तथा वह स्थान किसी विशेष क्रान्तिकारी काल में पार्टी द्वारा निर्धारित किये जाने वाले क्रान्तिकारी कार्यों का अधीन ही होता है। इस व्यवस्था का विरोध करने के परिणामस्वरूप अनिवार्य रूप से द्विवाद और बहुवाद पैदा हो जायेगा, तथा सार रूप में इसका मतलब होगा "राजनीति तो मार्क्सवादी, लेकिन कला पूंजीवादी" जैसा कि त्रात्सकी ने किया था। हम कला-साहित्य के महत्व पर जरूरत से ज्यादा जोर देने का पक्ष-पोषण नहीं करते, लेकिन इसके महत्व को कम आंकने का पक्ष-पोषण भी नहीं करते। कला और साहित्य राजनीति के मातहत होते हैं, लेकिन वे खुद भी राजनीति पर अपना महान प्रभाव डालते हैं। क्रान्तिकारी कला और साहित्य समूचे क्रान्तिकारी कार्य का एक अंग है, ये दोनों इस कार्य के दांते और पेंच हैं, तथा ये कुछ अन्य अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण पुर्जों की तुलना में कम महत्वपूर्ण और कम आवश्यक भले ही हों, मगर समूची मशीन के अनिवार्य दांते और पेंच हैं तथा समूचे क्रान्तिकारी कार्य के अनिवार्य अंग हैं। अगर हमारे पास व्यापकतम और अत्यन्त साधारण किस्म का कला-साहित्य भी मौजूद नहीं होता, तो हम क्रान्तिकारी आन्दोलन को नहीं चला पाते और विजय प्राप्त नहीं कर पाते। इस बात को न मानना गलत होगा। यही नहीं, जब हम यह कहते हैं कि कला-साहित्य राजनीति के मातहत हैं, तो यहां हमारा मतलब वर्ग राजनीति से होता है, आम जनता की राजनीति से होता है, चन्द तथाकथित राजनीतिज्ञों की राजनीति से नहीं। राजनीति चाहे वह क्रान्तिकारी हो अथवा प्रतिक्रान्तिकारी, वस्तुतः विभिन्न वर्गों के बीच का एक संघर्ष है, सिर्फ कुछ व्यक्तियों की कार्यवाही नहीं। विचारधारा और कला के क्षेत्र में क्रान्तिकारी संघर्ष को राजनीतिक संघर्ष के मातहत होना चाहिए क्योंकि केवल राजनीति के जरिये ही किसी वर्ग विशेष और आम जनता की जरूरतें केन्द्रित रूप से अभिव्यक्त होती हैं।

छः

कला-साहित्य की समालोचना के मानदण्ड

कला-साहित्य की समालोचना के दो मापदण्ड होते हैं—राजनीतिक और कलात्मक। हम अच्छे और बुरे के बीच कैसे फर्क कर सकते हैं—प्रयोजन (मनोगत इच्छा) द्वारा अथवा परिणाम (सामाजिक व्यवहार) द्वारा? आदर्शवादी लोग केवल प्रयोजन पर जोर देते हैं और परिणाम को नजरअंदाज कर देते हैं, जबकि यांत्रिक भौतिकवादी लोग केवल परिणाम पर जोर देते हैं और प्रयोजन को नजरअंदाज कर देते हैं। इन दोनों के बीच हम द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी लोग प्रयोजन और परिणाम की एकता पर जोर देते हैं। आम जनता की सेवा करने का प्रयोजन उसका समर्थन प्राप्त करने के परिणाम से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है, इन दोनों की एकता जरूरी है। किसी लेखक या कलाकार की मनोगत इच्छा की जांच करते वक्त, अर्थात् इस बात की जांच करते वक्त कि उसका प्रयोजन सही और अच्छा है या नहीं, हम उसका मूल्यांकन उसके कथनों के आधार पर नहीं, बल्कि समाज में आम जनता पर उसके कार्यों का (मुख्य रूप से उसकी रचनाओं का) जो असर पड़ता है उसके आधार पर करते हैं। मनोगत इच्छा या

प्रयोजन के बारे में निर्णय करने का मापदण्ड सामाजिक व्यवहार तथा उसका परिणाम ही है। कलात्मक मापदण्ड के अनुसार, वे तमाम कृतियाँ जो अपेक्षाकृत ऊँचे कलात्मक स्तर की होती हैं श्रेष्ठ या अपेक्षाकृत अधिक श्रेष्ठ कहलाती हैं जबकि अपेक्षाकृत निम्न कलात्मक स्तर की कृतियाँ घटिया या अपेक्षाकृत घटिया कहलाती हैं। निस्सन्देह यहाँ भी इन कृतियों का समाज पर जो असर पड़ता है उसे ध्यान में रखना पड़ेगा। शायद ही ऐसा कोई लेखक या कलाकार हो जो खुद अपनी कृति को सुन्दर न समझता हो, तथा हमारी समालोचना ऐसी होनी चाहिए जो तमाम किस्म की कलाकृतियों के बीच खुली प्रतियोगिता की इजाजत दे; लेकिन इस बात के लिए बहुत जरूरत है कि कलात्मक मापदण्ड के अनुसार इन कृतियों की सही-सही आलोचना की जाये, ताकि अपेक्षाकृत निम्न स्तर की कला को कदम-ब-कदम ऊँचे स्तर पर उठाया जा सके और जो कला व्यापक जनसमुदाय के संघर्षों की माँगों को पूरा नहीं करती उसे एक ऐसी कला में रूपान्तरित किया जा सके जो व्यापक जनसमुदाय की माँगों को पूरा कर सके।

एक राजनीतिक मापदण्ड होता है और एक कलात्मक मापदण्ड; इन दोनों के बीच क्या सम्बन्ध है? कला को राजनीति के समकक्ष नहीं रखा जा सकता, और न कलात्मक सृजन और समालोचना की किसी एक पद्धति को ही आम विश्व दृष्टिकोण के समकक्ष रखा जा सकता है। हम न सिर्फ एक अमूर्त और बिल्कुल अपरिवर्तनीय राजनीतिक मापदण्ड के अस्तित्व को मानने से इन्कार करते हैं, बल्कि एक अमूर्त और अपरिवर्तनीय कलात्मक मापदण्ड के अस्तित्व को भी मानने से इन्कार करते हैं; सभी वर्ग समाजों में हर वर्ग के खुद अपने कलात्मक और राजनीतिक मापदण्ड होते हैं। लेकिन सभी वर्ग समाजों में सभी वर्ग हमेशा राजनीतिक मापदण्ड को प्रमुख स्थान देते हैं और कलात्मक मापदण्ड को गौड़। पूँजीपति वर्ग सर्वहारा कला-साहित्य के लिए हमेशा अपने दरवाजे बन्द रखता है, चाहे उसकी कलात्मक प्रतिभा कितनी ही ऊँची क्यों न हो। इसी तरह सर्वहारा वर्ग को भी पिछले जमाने की साहित्यिक रचनाओं व कला-कृतियों के बीच फर्क करना चाहिए और उनके प्रति अपना रुख इस बात की जाँच करके ही निश्चित करना चाहिए कि जनता के प्रति उनका रुख क्या है और क्या ऐतिहासिक दृष्टि से उनका कोई प्रगतिशील महत्व है भी या नहीं। कुछ ऐसी कृतियों में भी, जो राजनीतिक दृष्टि से बिल्कुल प्रतिक्रियावादी हैं, कुछ न कुछ कलात्मक प्रतिभा हो सकती है। उनकी विषय-वस्तु जितनी अधिक प्रतिक्रियावादी होती है और उनकी कलात्मक प्रतिभा जितनी ही अधिक ऊँची होती है, वे जनता के लिए उतनी ही अधिक जहरीली होती हैं, और इस बात की उतनी ही अधिक जरूरत होती है कि उनका परित्याग कर दिया जाय। जब तमाम शोषक वर्गों के कला-साहित्य का ह्रास होने लगता है तो उनके कला साहित्य की एक आम विशेषता यह होती है कि उनकी प्रतिक्रियावादी राजनीतिक विषय-वस्तु तथा उनके कलात्मक रूप के बीच अन्तर्विरोध पैदा हो जाता है। हम जिस चीज की माँग करते हैं वह है राजनीति और कला की एकता, विषयवस्तु और रूप की एकता, क्रांतिकारी राजनीतिक विषय-वस्तु और यथासंभव अधिक पूर्ण कलात्मक रूप की एकता। वे कला कृतियाँ जिनमें कलात्मक प्रतिभा का अभाव होता है बिल्कुल शक्तिहीन होती हैं, चाहे वे राजनीतिक दृष्टि से कितनी ही प्रगतिशील क्यों न हों। इसलिए हम ऐसी कलाकृतियों का सृजन करने में

जिनका राजनीतिक दृष्टिकोण गलत होता है, तथा "पोस्टरबाजी व नारेबाजी जैसी शैली" वाली उन कला-कृतियों का सृजन करने में जिनका राजनीतिक दृष्टिकोण तो सही होता है लेकिन जिनमें कलात्मकता का अभाव होता है, इन दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों का विरोध करते हैं। साहित्य और कला के सवालों के बारे में हमें इन दोनों मोर्चों पर संघर्ष चलाना चाहिए।

"येनान की कला-साहित्य गोष्ठी में भाषण" से संकलित

लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी की वस्तुगत कला का भी वर्ग है, शायद बीसवीं शताब्दी की पतनोन्मुख कला से कहीं अधिक पूँजीवादी, जिसमें निर्वासित व्यक्ति की पीड़ा झलक रही है। संस्कृति के क्षेत्र में पूँजीवाद अपना सभी कुछ जो वह दे सकता था समर्पित कर चुका है और उसमें जो शेष है—वह केवल दुर्गन्धित लाश का पूर्वाभास मात्र है। कला के क्षेत्र में शेष है—केवल उनकी वर्तमान पतनशीलता ही। लेकिन तब हम क्यों न समाजवादी यथार्थवाद के हिम-जमे स्वरूपों में ही वैद्य नुस्खों की खोज करें? "स्वाधीनता" को समाजवादी यथार्थवाद के सम्मुख नहीं खड़ा किया जा सकता, क्योंकि स्वाधीनता का अभी वास्तविक अस्तित्व है ही नहीं—और उसकी उपलब्धि भी नये समाज के पूर्ण विकास से पूर्व सम्भव नहीं। हर-मूल्य पर—यथार्थवाद के धर्म-सिंहासन पर बैठकर हमें उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के तमाम कला स्वरूपों की निन्दा नहीं करनी चाहिए—इसका अर्थ पीछे की ओर लौटने की प्रधोवादी गलती करना होगा और इसका अर्थ यह भी होगा कि नये जन्मे इन्सान को, जिसका आज सृजन हो रहा है, उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति को सँकरे आवरण से घेर, देना होगा।

आवश्यकता है कि एक विचारधारात्मक और सांस्कृतिक संस्थान की सृष्टि की जाय, जो प्रयोगात्मकता की इजाजत देगा और राज्य सहायता प्राप्त उर्वरा भूमि पर इतनी आसानी से उग आने वाले झाड़-झँखाड़ों को साफ कर देना होगा।

—ले गारूदा

मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र

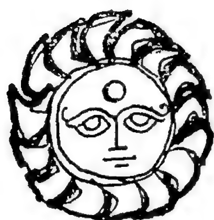
समग्र चिन्तन

खण्ड दो

'समस्याएँ'

△ ओम प्रकाश ग्रेवाल △ मैनेजर पाण्डे △ शिव कुमार मिश्र
△ सत्य प्रकाश मिश्र △ आनन्द प्रकाश △ अलख नारायण
△ अतुलवीर अरोड़ा △ रामकृपाल पाण्डे △ राजेश्वर सक्सेना
△ मोह दत्त △ राजकुमार सैनी





साहित्य और विचारधारा

—ओमप्रकाश ग्रेवाल

मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र का यह एक मुख्य कर्त्तव्य है कि प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ चिन्तकों द्वारा साहित्य के बारे में जो अवैज्ञानिक और भ्रान्तिपूर्ण धारणाएँ प्रचलित एवं प्रस्थापित की जाती हैं उनका सही विश्लेषण द्वारा खण्डन किया जाये तथा सामान्य पाठक के सामने साहित्य के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट किया जाये। पूँजीवादी व्यवस्था के पतनशील दौर में जब समाज के प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी तत्वों के बीच संघर्ष तीव्र हो उठता है और शोषित उत्पीड़ित जन-समूह सचेत और जागरूक होकर पतनशील बुर्जुआ चिन्तन द्वारा पोषित विभ्रमों को त्यागने लगते हैं तो समाज के यथास्थितिवादी तत्वों की यह भरसक कोशिश होती है कि साहित्य को स्वस्थ सामाजिक मूल्यों का वाहक तथा बहुसंख्यक जनता की चेतना को विकसित करने का माध्यम न बनने दिया जाये। क्योंकि साहित्य का जनमानस पर गहरा प्रभाव पड़ता है और उसके माध्यम से पाठकों की भावनाओं को उभारा जा सकता है अथवा उन्हें नया मोड़ दिया जा सकता है तथा पाठक की अपने आस-पास की दुनियाँ की समझ को प्रखर बनाया जा सकता है। प्रतिक्रियावादी शक्तियों से जुड़े हुए चिन्तक ऐसे समय पर कुछ इस प्रकार की भ्रान्तियाँ साहित्यकारों और पाठकों के बीच फैलाने लगते हैं जिनके कारण साहित्य का समाज के सभी प्रगतिशील तत्वों से सम्पर्क टूट जाये। यह जरूरी नहीं कि प्रतिक्रियावादी चिन्तक साधारण पाठक की चेतना को मन्द बनाने का यह काम सचेष्ट रूप से ही करते हों। पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्विरोधों के बढ़ जाने पर उनके लिए यह जरूरी हो जाता है कि वे तत्कालीन सामाजिक जीवन की ऐसी व्याख्या प्रस्तुत करें जिसके अन्तर्गत उसके सभी अप्रिय पक्षों पर पर्दा पड़ जाये किन्तु जो फिर भी ठोस और प्रामाणिक प्रतीत हो। ऐसी स्थिति में जिन भ्रान्तिपूर्ण धारणाओं का प्रचार वे पाठकों के बीच करते हैं उनसे प्रथमतः वे स्वयं भी ग्रस्त होते है। उनकी वर्गगत स्थिति का इस समय उन पर कुछ ऐसा

दवाव पड़ता है कि उनकी चेतना में वस्तुस्थिति की सही तस्वीर उभर ही नहीं पाती। वे पूरी ईमानदारी के साथ उस छद्म तस्वीर को वस्तुस्थिति की सही व्याख्या मान लेते हैं जो गहरे आत्ममन्थन के बाद उनकी चेतना में उस समय उभर कर आती है। इसी ईमानदार छल के तहत वे इस धारणा का भी प्रचार करने लगते हैं कि अच्छे साहित्य की रचना के लिए यह आवश्यक है कि लेखक अपने आपको सभी प्रकार की विचारधाराओं से मुक्त रखे। यद्यपि परोक्ष रूप में सभी प्रतिक्रियावादी साहित्यकार और चिन्तक अपनी रचनाओं के माध्यम से एक जनविरोधी विचारधारा को पाठकों की चेतना पर अंकित करते रहते है, किन्तु फिर भी प्रत्यक्ष रूप में उनका यही पैंतरा वना रहता है कि साहित्य और विचारधारा का गठवन्धन साहित्य के लिए घातक सिद्ध होता है। उनके अनुसार जब साहित्यकार किसी विचारधारा से जुड़ जाता है तो उसकी सृजन-क्षमता धीरे-धीरे समाप्त हो जाती है, उसकी संवेदना संकुचित होती जाती है और उसकी दृष्टि भी धुंधली पड़ जाती है। जो साहित्यकार किसी विचारधारा के आग्रहों के अन्तर्गत अपने तत्कालीन सामाजिक दायित्वों को प्राथमिकता देते हुए साहित्य-रचना करते हैं वे साहित्य के वास्तविक रूप को झुठलाकर उसकी शक्ति को नष्ट कर डालते हैं और अपनी लेखकीय गरिमा को खोकर अन्ततः कोरे प्रचारक वन कर रह जाते हैं।

शुद्ध साहित्य और विचारधारा के बीच परस्पर विरोध का यह सिद्धान्त किस प्रकार भ्रान्तिपूर्ण और खतरनाक है इसे पूरी तरह तो साहित्य के वास्तविक स्वरूप की वैज्ञानिक व्याख्या करके ही स्पष्ट किया जा सकता है, किन्तु इस सैद्धान्तिक निष्कर्ष पर पहुँचने के लिये प्रतिक्रियावादी चिन्तक किन तर्कों का सहारा लेते हैं यह जान लेना भी जरूरी है। इन तर्कों के खोखलेपन को स्पष्ट करने से इस सिद्धान्त के मिथ्या सम्मोहन को वहुत हद तक दूर किया जा सकता है। किन्तु इन तर्कों पर नजर डालने से पहले विचारधारा के वास्तविक अर्थ पर गौर कर लेना भी उचित होगा।

अक्सर यह मान लिया जाता है कि किसी वर्ग-विशेष के हितों और उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जो कार्यनीति और रणनीति निर्धारित होती है उनके सैद्धान्तिक पक्ष को ही हम उस वर्ग की विचारधारा कहते हैं। दूसरे शब्दों में तत्कालीन सामाजिक जीवन को एक वर्ग-विशेष के हितों के अनुकूल व्यवस्थित अथवा पुनर्व्यवस्थित करने के लिए प्रतिपादित होने वाले सिद्धान्त सामूहिक रूप में उस वर्ग की विचारधारा वन जाते हैं। इस परिभाषा के अनुसार विचारधारा एक वर्ग-विशेष की राजनीति का पर्याय है। यद्यपि एक वर्ग के सामूहिक संघर्षों को निर्देश प्रदान करने वाले सैद्धान्तिक निष्कर्षों को हमें उस वर्ग की विचारधारा का एक महत्वपूर्ण अंग मानना पड़ेगा, किन्तु उसे स्पष्ट रूप में व्याख्यायित इन निष्कर्षों तक ही सीमित रखना उचित नहीं होगा। एक व्यक्ति की संवेदना तथा उसका चिन्तन किस प्रकार उसकी वर्गगत भूमिका से निर्धारित हो रहे हैं इसी से उसकी विचारधारा लक्षित होती है। वास्तव में एक वर्ग-विशेष के सामूहिक राजनैतिक कार्यक्रम को ही नहीं बल्कि व्यक्ति की समूची चेतना के वर्गीय स्वरूप को हमें विचारधारा की संज्ञा देनी चाहिए। विचारधारा व्यक्ति के अनुभव का कोई ऐसा अंश नहीं है जिसे हम उसके शेष अनुभव से अलग कर सकते हैं, बल्कि यह उसके समूचे अनुभव का एक विशिष्ट और आधारभूत आयाम है। सचेष्ट, सुचिन्तित

और सुव्यवस्थित बौद्धिक निष्कर्षों के अलावा विचारधारा हमारी भावनाओं के धरातल पर भी सक्रिय रूप में विद्यमान रहती है। व्यक्ति वस्तुजगत को (जिसमें उसका अपना व्यक्तित्व भी शामिल है) जिस रूप में देखता-समझता है और महसूस करता है, उस रूप की विशिष्टता को लक्षित करने के लिए ही हमें विचारधारा की अवधारणा की आवश्यकता पड़ती है। व्यक्ति की वर्गगत-भूमिका उसकी चेतना की सीमाएँ निर्धारित करती है, उसी के आधार पर वस्तुजगत् की एक विशिष्ट प्रकार की छवि उसकी चेतना में उभर कर आती है जिसमें वस्तु-जगत के कुछ महत्वपूर्ण पक्ष या तो पूर्णतया अलक्षित रह जाते हैं या फिर विकृत रूप में ही प्रतिबिम्बित हो पाते हैं। इसी वर्गगत भूमिका के आधार पर व्यक्ति यह तय करता है कि तत्कालीन सामाजिक परिवेश में किस प्रकार का परिवर्तन लाया जा सकता है और उसके लिए उसे क्या करना चाहिए। इस प्रकार उसकी समूची चेतना की परिधि—जिसमें उसका दृष्टिकोण, उसकी चिन्तन-पद्धति और उसकी भावनाओं की दिशा शामिल हैं—उसकी वर्गगत भूमिका से निश्चित होती है। जब हम विचारधारा की बात करते हैं तो हमारा ध्यान उसकी चेतना, अर्थात् उसके दृष्टिकोण और उसकी संवेदना, की उन सीमाओं की ओर होता है जिनके अन्दर वह अपनी वर्गगत स्थिति के कारण अनिवार्य रूप से बन्धा रहता है और जिनका अतिक्रमण करना उसके लिए एकदम असंभव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य होता है।

क्योंकि शोषक-उत्पीड़क वर्ग से सम्बन्ध रखने वाले लोग अपनी वर्गगत भूमिका की विवशता के कारण वस्तु-स्थिति के सही स्वरूप को नहीं समझ सकते उनके सन्दर्भ में विचारधारा के अर्थ को कई बार उनकी 'छद्म चेतना' तक ही सीमित कर दिया जाता है। जहाँ तक प्रभुता सम्पन्न वर्ग अन्य वर्गों से सम्बन्ध रखने वाले लोगों की चेतना को नियन्त्रित कर देता है। वहाँ तक उनकी चेतना में भी प्रभुतासम्पन्न वर्ग की 'छद्म चेतना' के से विकार विद्यमान रहते हैं। उनके सन्दर्भ में भी कई बार चेतना की इन विकृतियों को ही उन पर पड़ने वाला विचारधारात्मक दबाव मान लिया जाता है। इसी प्रकार सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व स्थापित हो जाने के बाद सर्वहारा पार्टी के नेतृत्व में सामाजिक पुनर्निमाण के लिए निर्धारित किये जाने वाले कार्यक्रम में यदि कुछ त्रुटियाँ दिखाई देती हों तो उन्हें भी कुछ मार्क्सवादी चिन्तक 'विचारधारा-जनित दोष' बताने लगते हैं और इस अर्थ में विचारधारा को सर्वहारा के विश्व दृष्टिकोण से अलग करने लगते हैं। किन्तु विचारधारा को 'छद्म चेतना' तक ही सीमित रखने और उसे 'विश्व दृष्टिकोण' से अलग करके देखने के इस प्रकार के प्रयासों से हम कुछ ऐसे भ्रान्तिपूर्ण निष्कर्षों पर पहुँच सकते है जिनके कारण साहित्य के बारे में हमारा चिन्तन दोषपूर्ण हो जाये। इसलिए विचारधारा को हमें वर्ग-दृष्टिकोण से अलग नहीं समझना चाहिए।

साहित्य और विचारधारा के परस्पर विरोध के सिद्धान्त की पुष्टि में प्रति-क्रियावादी बुर्जुआ चिन्तकों द्वारा एक मुख्य तर्क यह दिया जाता है कि साहित्य-कार किसी वर्ग-विशेष से प्रतिबद्ध नहीं होता बल्कि उसकी प्रतिबद्धता तो मानव-मात्र के साथ होती है। जीवन के प्रति उन्मुक्त आसक्ति और निर्बाध स्पन्दन-शीलता का परिचय देते हुए वह मानवमात्र से भावात्मक तादात्मय स्थापित करता है और सभी संभाव्य मानवीय संवेदनाओं और अनुभूतियों को अपने लेखन

में समेट लेने का प्रयास करता है। जिस धरातल पर वह काम करता है वहाँ वह किसी प्रकार के पूर्वाग्रहों, अवरोधों और प्रतिबन्धों से आक्रान्त नहीं रह सकता और जहाँ कहीं जिस रूप में भी उसे मानवीय अनुभव प्राप्त हो सकते हैं उनके लिए वह लालायित रहता है। वर्ग, देश और काल की परिधियों से ऊपर उठकर शुद्ध मानवीय स्पन्दनों से हमारे हृदय को झंकृत करते जाना ही साहित्यकार का एकमात्र लक्ष्य होता है। किन्तु इसके विपरीत विचारधारा व्यक्ति को अपने स्वार्थों और वर्गगत पक्षपातों से ऊपर नहीं उठने देती। वस्तुस्थिति को देखने-समझने के लिए यदि हम किसी वर्ग-विशेष के हितों से जुड़े हुए दृष्टिकोण को अपनाते हैं तो हम विचारधारा की सीमाओं में बन्धे रहते हैं। अतः विचारधारा के धरातल पर बने रहने पर एक साहित्यकार भी उन सभी दबावों को झेलेगा जो एक साधारण व्यक्ति के दृष्टिकोण को संकुचित बनाये रखते हैं। सामाजिक जीवन की तत्कालिक समस्याओं में उलझ जाने और इससे उत्पन्न होने वाले तनावों और विद्वेषों के आधार पर ही हमारी विचारधारा का निर्माण होता है और इसके प्रभाव में बने रहकर हम केवल उन्ही अनुभवों को स्वीकार करते हैं जिनका हमारे हितों से मेल खाता हो। जीवन के बहुत सारे अनुभवों को हम उस समय या तो ग्रहण ही नहीं कर पाते या फिर उन्हें निरर्थक समझकर छोड़ देते हैं। जो सीमित अनुभव हमारे पास बच रहते हैं उन्हें भी हम अपनी विचारधारा के बने-बनाये साँचे में ढालकर एकदम निर्जीव और अप्रामाणिक बना देते हैं।

ऊपर से ठोस दिखाई देते हुए भी यह दलील वास्तव में खोखली और भ्रान्तिपूर्ण है। एक वर्ग-विभाजित समाज में प्रत्येक व्यक्ति अनिवार्य रूप से किसी न किसी वर्ग के साथ जुड़ा होता है।

उसका सारा चिन्तन और उसकी भाव-प्रणाली या तो उसके अपये वर्गीय दृष्टिकोण से नियन्त्रित होती है या फिर उस वर्ग के दृष्टिकोण से जो ऐतिहासिक विकास के उस विशिष्ट दौर में उत्पादन प्रणाली में प्रमुख स्थान पा जाने के कारण दूसरे वर्गों पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर चुका है। यह प्रभुतासम्पन्न वर्ग सभी वर्गों से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों के चिन्तन और उनकी भावनाओं को मोड़ देना चाहता है कि उनकी समूची चेतना और सवेदना इस वर्ग के हितों पर आधारित चिन्तन और संस्कृति से नियंत्रित रहें और वे अपने अनुभव को केवल उसी रूप में पहचानें जो इस वर्ग को मान्य हो। शिक्षा संस्थानों तथा अन्य प्रचार साधनों और साहित्यिक कृतियों के माध्यम से यह वर्ग धीरे-धीरे अन्य वर्गों के लोगों को चेतना पर कुछ ऐसा सांस्कृतिक नियन्त्रण स्थापित कर लेता है कि उनमें से अधिकांश को यह अहसास भी नहीं रहता कि उनकी चेतना को सायास प्रभुता-सम्पन्न वर्ग की विचार-धारा और संस्कारों के अनुकूल बना दिया गया है। जब तक तत्कालीन उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादन शक्ति में कोई तीव्र अन्तर्विरोध नहीं उभरता तब तक प्रभुता-सम्पन्न वर्ग की विचारधारा तर्कसम्मत, स्वाभाविक और पूर्णतया वैज्ञानिक लगती है और उसका नियन्त्रण असह्य न होकर वास्तव में मानव की मानसिक ऊर्जा और उसकी सृजनात्मक शक्तियों को व्यवस्थित करने का एक उचित ढंग नजर आता है। किन्तु जब एक बिन्दु पर आकर यह नियंत्रण सामाजिक और भौतिक उत्पादन शक्तियों पर एक बन्धन बन जाता है तो किसी अन्य वर्ग की विचारधारा उत्पादन शक्तियों के अनुकूल होने के कारण अधिक सही और

तर्कसम्मत प्रतीत होने लगती है। इस प्रकार ऐतिहासिक विकास के प्रत्येक पड़ाव पर टक्कर वास्तव में दो विरोधी वर्ग दृष्टिकोण के बीच होती है जिनमें से एक अधिक सही होता है तो दूसरा कम। साहित्यकार के सामने विकल्प इन दो वर्गीय दृष्टिकोणों में से एक का चुनाव करना होता है न कि इनसे ऊपर उठ कर वर्गातीत 'मानवीय' दृष्टिकोण को अपना लेने का। अपनी वर्गीय स्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न लेखक किसी एक वर्गीय दृष्टिकोण को अपना कर उसके अनुसार अपने युग के अनुभवों को व्यवस्थित रूप देते हैं। महान साहित्यकार हम उन्हें समझते हैं जो अन्ततः अपने समय के सबसे अधिक प्रगतिशील वर्ग के दृष्टिकोण को अपना लेते हैं। जाहिर है कि इस प्रगतिशील दृष्टिकोण की भी कुछ सीमाएँ होंगी और इसे अपना लेने के बाद भी व्यक्ति की चेतना में कुछ भ्रान्तियाँ विद्यमान रहेंगी। उस समय का महान से महान साहित्यकार भी इन सीमाओं को तोड़ नहीं पायेगा यह दूसरी बात है कि ऐतिहासिक विकास के उस दौर में क्योंकि इन सीमाओं का होना हमें स्वभाविक लगेगा, इसलिए वे हमें अखरेंगी नहीं। उदाहरण के लिए शेक्सपीयर अपनी रचनाओं में अपने समय के सबसे अधिक प्रगतिशील बुर्जुआ-मानववादी दृष्टिकोण को अपनाता हुआ दिखाई देता है और उसके आधार पर मानव-जीवन की जो व्याख्या प्रस्तुत करता है वह उसकी समझ की परिपक्वता और सहानुभूति के विस्तार के कारण हमें आज भी पूर्णतया प्रामाणिक लगती है। किन्तु मानव-जीवन की शेक्सपीयर की यह समझ काफी व्यापक होने के बावजूद उन सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर पाती जो उस समय के बुर्जुआ दृष्टिकोण के अन्दर ऐतिहासिक अनिवार्यता के रूप में विद्यमान है। प्रतिक्रियावादी लेखक हम उन्हें कहते हैं जो अपनी रचनाओं में किसी ऐसे वर्ग की विचारधारा को अपनाये रहते हैं जो ऐतिहासिक विकास के क्रम में पिछड़ चुका है और जिसका सांस्कृतिक प्रभुत्व उत्पादन शक्तियों के विकास के अनुकूल न होने के कारण अनुचित एवं असह्य लगने लगा है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि सचेत रूप में एक पिछड़ी हुई विचारधारा को अपनाये हुए रहकर भी एक लेखक अपने मानस की गहराई में प्रभुतासम्पन्न वर्ग के सांस्कृतिक नियन्त्रण से छुटकारा पा सकता है। साहित्यिक रचना में क्योंकि व्यक्ति के अनुभव के सभी सारभूत और केन्द्रीय पक्ष व्यक्त होते हैं, इसलिए यहाँ उसकी ऊपर से ओढ़ी हुई विचारधारा और गहरे में अपनायी हुई विचारधारा का अन्तर्विरोध स्पष्ट रूप में सामने आ जायेगा। किन्तु जो भी दृष्टिकोण लेखक अपनी रचनाओं में अपनाता है उसमें वर्ग-गत आग्रह और पक्षपात जरूर बने रहते हैं और उसका यह लेखकीय दृष्टिकोण तत्कालीन सामाजिक जीवन में पाये जाने वाले वर्ग-संघर्ष से अनिवार्य रूप में प्रभावित होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि परस्पर विरोध साहित्यिक दृष्टि और विचारधारा का नहीं, बल्कि छद्म-चेतना और वास्तविक चेतना का है जो कि साहित्यिक रचनाओं में भी उसी प्रकार उभर कर आता है जिस प्रकार उनके बाहर सामाजिक जीवन में।

साहित्य और विचारधारा के परस्पर विरोध के सिद्धान्त के पक्ष में प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ चिन्तकों द्वारा कई बार एक तर्क यह भी दिया जाता है कि जहाँ साहित्यकार का सरोकार मानव स्वभाव की उन उद्दात्त आकांक्षाओं और लालसाओं से होता है जो हमें अन्य जीवों से भिन्न और श्रेष्ठ बनाती है, विचारधारा का क्षेत्र राजनीतिका क्षेत्र है जहाँ सभी व्यक्ति अपने टुच्चे स्वार्थों से अभिभूत होकर

एक दूसरे से लड़ते-झगड़ते रहते हैं। इस मत के अनुसार साहित्य को विचारधारा से जोड़ने का मतलब होगा उसे एक ऐसे पार्थिव धरातल पर ला खड़ा करना जहाँ छीना-झपटी और कीचड़ उछालने के सिवाएँ कुछ नहीं है। उनकी दृष्टि में साहित्य वास्तव में हमें यह याद दिलाने का एक सशक्त माध्यम है कि हम किन्हीं क्षणों में कोरे जैविक धरातल के ऊपर उठकर नैतिकता के उच्च आदर्शों को छू सकते हैं और अपनी चेतना को इतना विस्तार दे सकते हैं कि अपने पृथक् अस्तित्व को भुला दें और पूर्णतया निर्वैयक्तिक हो जायें।

साहित्य को इस प्रकार के लोकोत्तर स्तर पर खड़ा करने के अधिकांश प्रयासों के छल को तो हम आसानी से पहचान लेते हैं। किन्तु क्योंकि बुर्जुआ वर्ग के चिन्तकों के लिए साहित्य को साधारण जीवन से अलग बनाये रखना अब बेहद जरूरी हो गया है, वे बार-बार नित-नये सूक्ष्म रूपों में इस स्थापना का सहारा लेते रहते हैं। अपने कुछ सूक्ष्म रूपों में उनकी यह स्थापना साहित्य के बारे में हमारे चिन्तन को अभी भी विकृत करती रहती है। जब कभी हम अपने नैतिक आदर्शों को दैनिक जीवन की गतिविधियों से पृथक् करके एक को साध्य और दूसरे को साधन की कोटि में रखने लगते हैं या सामाजिक तनावों और द्वन्द्वों को निम्न स्तर के अनुभव का भाग मानकर कला से एक उच्च समन्वयवादी दृष्टि की माँग करते हैं अथवा जब कभी साहित्य को राजनीति के 'दलदल' में घसीट लाने से हमें उसकी शुद्धता खतरे में पड़ती हुई दिखाई देने लगती है तो हमें समझ लेना चाहिए कि हम भाववादी जाल में फँसने लगे हैं और यह भूलने लगते हैं कि 'भौतिक' और 'आध्यात्मिक' एक दूसरे से स्वतंत्र एवं परस्पर विरोधी तत्व नहीं हैं तथा राजनीति केवल बुर्जुआ चालाकियों का ही दूसरा नाम नहीं है बल्कि सामूहिक प्रयासों द्वारा हमारी जीवन-परिस्थितियों में आवश्यक बदलाव लाने का विज्ञान है। इसी प्रकार जब कभी हम साहित्यकार को एक अतिविशिष्ट प्राणी मानकर उससे ऐसी "मौलिक" दृष्टि की अपेक्षा करने लगते हैं जिससे हमारे आस-पास की जानी-पहचानी दुनियाँ एकदम अनोखी रोशनी के साथ चमत्कृत हो उठे और हमें लगने लगे कि साहित्यिक रचना में प्रवेश पाकर हमारा अनुभव-संसार पूरी तरह रूपान्तरित हो गया है तो हमें सतर्क हो जाना चाहिए कि कहीं हम साहित्य के संसार को किसी न किसी रूप में अलौकिक और अनूपम तथा वास्तविक जीवन के नियमों के परे तो नहीं मान रहे। इधर जब नववाम से जुड़े हुए कुछ चिन्तक कला को आधुनिक जीवन-परिस्थितियों से उत्पन्न आत्म-निर्वासन तथा व्यक्तित्व-अवमूल्यन की भावना से उबरने का एकमात्र सशक्त माध्यम मानने लगे हैं और तत्कालीन सामाजिक जीवन को प्रतिबिम्बित करने के बजाय उससे ऊपर उठ जाने की क्षमता (Transcendence) में ही कला की सार्थकता देखने लगे हैं तो हमें लगता है कि वे कला में किसी लोकोत्तर जादुई प्रभाव की कल्पना कर रहे हैं और इस प्रकार प्रतिक्रियावादी चिन्तकों की भ्रान्तियों से प्रभावित हो गये हैं। यह सही है कि एक समर्थ साहित्यकार अपनी रचनाओं में तत्कालीन जीवन-परिस्थितियों की सीमाओं का अतिक्रमण करता है, किन्तु ऐसा वह केवल तत्कालीन परिस्थितियों के गर्भ में छिपी हुई वास्तविक सम्भावनाओं को ही मूर्त रूप देने के लिए करता है। अपनी रचना के माध्यम से साहित्यकार किसी ऐसे समानान्तर संसार की सृष्टि नहीं करता जहाँ हमें वह कुछ लभ्य

हो जाये जिसे वास्तविक संसार में आवश्यक सामाजिक संघर्षों द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता।

साहित्य और विचारधारा के विरोध को स्पष्ट करने के लिए प्रतिक्रियावादी वुर्जुआ चिन्तक जो तीसरा तर्क प्रस्तुत करते हैं वह कुछ हद तक उनके दूसरे तर्क के विरुद्ध जाता है। उनका कहना है कि जहाँ विचारधारा के अन्तर्गत केवल हमारी समूहगत आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए कुछ सामान्यीकृत नियमों का प्रतिपादन होता है वहाँ साहित्य में व्यक्ति के निजी अनुभवों को पूरी विशिष्टता और जटिलता में पकड़ने का प्रयास होता है। विचारधारा के सूत्रों में वन्ध जाने के वाद व्यक्ति के अनुभव की सम्पूर्ण आत्मीय अनूपमता और विलक्षणता समाप्त हो जाती है और उसकी जीवन्त मूर्तता क्षीण पड़ जाती है। साधारण जीवन में तो हम अपनी तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अपने अनुभव को सरलीकृत करने को विवश होते हैं और उसके जो अंश समाज के नियमों और सामूहिक निर्णयों के माध्यम से व्यक्त होते हैं, उन्हें ही उसका सारतत्व मान लेते हैं किन्तु साहित्य में हम अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता और अपने निजी अस्तित्व की समृद्धि को विना किसी समूहगत दवाव के महसूस करना चाहते हैं। यदि हम साहित्य को विचारधारा से जोड़े रखेंगे तो इसका मतलब होगा कि व्यक्ति को अनिवार्य रूप से पंक्तिवद्ध होकर अपने व्यक्तित्व के संभाव्य वैभव से वंचित होना पड़ेगा। यदि मानव को अपनी स्वायतता कायम रखनी है और उसे एक अद्वितीय और अभेद्य इकाई होने का प्रखर अहसास वनाये रखना है तो कम से कम साहित्य को हमें सामाजिक दायित्वों के वन्धनों से अथवा समूह के आदेशों से मुक्त रखना होगा, विशेषकर आजकल के तकनीकी युग में जवकि मनुष्य धीरे-धीरे एक पेचीदा मशीन का पुर्जा सा वनता जा रहा है और वे सभी क्षेत्र उसके लिये आहिस्ता-आहिस्ता लुप्त हो रहे हैं जहाँ वह अपना यह अहसास कायम रख सके कि वह अपने विकल्प स्वयं चुन सकता है। साहित्यिक रचना ही अव ऐसा क्षेत्र बचा है जहाँ व्यक्ति अपनी स्वायत्तता को वनाये रख सकता है और अपने व्यक्तित्व की असीम संभावनाओं को मूर्त रूप दे सकता है। यदि यहाँ भी हम विचारधारागत सेंसर स्वीकार कर लेते हैं और समाज के आकाओं के आदेश के अनुसार वैसी ही रचनाएँ गढ़ने लगने हैं जैसी कि उनके हिसाब से आम पाठकों के सामने लायी जानी चाहिए तो जल्दी ही साहित्य एक सरकारी फ़रमान या पार्टी का नारा वनकर रह जायेगा और उसकी आत्मा मर जायेगी।

क्योंकि यह दलील शीतयुद्ध की राजनीति के अन्तर्गत पिछले दो तीन दशकों के दरान वड़े जोर-शोर से प्रचारित होती रही है और हमारे देश के वहुत से ऐसे वौद्धिक लोग भी इससे प्रभावित हुए हैं जो अपने आपको प्रगतिशील खेमें में शामिल समझते हैं, इसके वास्तविक सारतत्व को पहचानना वहुत जरूरी है। जो लेखक संवेदन के धरातल पर अपने आपको मेहनतकश जनता से संवद्ध समझते हैं और यह आपत्ति करते हैं कि सर्वहारा वर्ग की पार्टी का अनुशासन मानना उनकी इस संवेदनात्मक संवद्धता को खण्डित करता है उनका चिन्तन भी जाने-अनजाने में अकसर इसी प्रतिक्रियावादी वुर्जुआ (अथवा निम्न पूँजीजीवी) अवधारणा की गिरफ्त में है।

इस प्रकार के चिन्तन के मूल में व्यक्ति और समाज के परस्पर सम्वंध की वहुत ही असंगत और अराजक परिकल्पना विद्यमान होती है। समाज को यहाँ एक

ऐसा समूह मान लिया जाता है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति हर दूसरे व्यक्ति से अलग-थलग है और जहाँ सभी व्यक्तियों को किसी वाह्य शक्ति द्वारा उनकी इच्छा के विरुद्ध वलपूर्वक एक साथ रखा जाता है। यहाँ यह मान लिया जाता है कि हर प्रकार के सामाजिक संगठन के अन्तर्गत व्यक्ति की स्वतंत्रता को आघात पहुँचता है और सभी सामूहिक क्रियाएँ व्यक्ति की अस्मिता को ठेस पहुंचाती हैं। वास्तव में हमें मानव इतिहास के किसी भी दौर में ऐसा कोई समाज नहीं दिखाई देगा जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अन्य सभी व्यक्तियों से अलग-थलग हो और जहाँ सामाजिक ढाँचा सभी व्यक्तियों पर समान रूप से थोपा हुआ एक वाह्य बन्धन हो। अब तक के इतिहास में आरम्भिक काल के कुछ समाजों को छोड़कर व्यक्तियों के परस्पर सम्बंध वर्ग-विभाजन के कटु तथ्य से निर्धारित होते रहे हैं तथा एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से सम्पर्क दोनों की वर्गीय भूमिका के आधार पर निश्चित होता रहा है। अब तक के अधिकांश समाजों में एक वर्ग-विशेष का अन्य वर्गों पर अधिनायकत्व रहा है और प्रभुता-सम्पन्न वर्ग के लोग अपनी इच्छाओं और प्रयोजनों को शासित-शोषित वर्गों से सम्बंध रखने वाले लोगों पर थोपते रहे हैं। इन समाजों में सामाजिक संगठन सभी लोगों पर समान रूप से थोपा हुआ वाह्य नियन्त्रण होकर एक वर्ग के लोगों द्वारा सामूहिक रूप में अन्य लोगों की इच्छाओं और प्रयोजनों को अपने हितों के अनुकूल ढालने की एक विधि रहा है। व्यक्तियों की स्वतन्त्रता पर जो बंधन इन समाजों में दिखाई देते हैं वे वास्तव में मुख्यतः प्रभुता-सम्पन्न वर्ग के हितों की रक्षा के लिए ही लगाये जाते रहे हैं। इसके अलावा प्राकृतिक शक्तियों के समाने मनुष्य की विवशता भी उसकी स्वतंत्रता पर प्रतिबन्धों का काम करती रही है। व्यक्ति की स्वतंत्रता पर पहले कारण से लगे प्रतिबन्धों को तो प्रतिक्रियावादी वुर्जुआ चिन्तक समाज का अंग होने की व्यक्ति की 'विवशता' का ही अनिवार्य परिणाम वताने लगते हैं और दूसरी प्रकार के प्रतिवन्धों को वे या तो बिल्कुल नज़र-अन्दाज कर देते हैं या फिर उन्हें मानव-नियति का स्थायी अंग मानकर उन्हें भोगते रहने की सलाह देते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि पहले प्रकार के प्रतिबन्धों को हटाने के लिए व्यक्ति का समूह से अलग होना जरूरी नहीं है, वल्कि इसके विपरीत शोषित वर्गों से सम्बन्ध रखने वाले सभी व्यक्तियों के सहयोग तथा इनके सामूहिक संघर्षों द्वारा शोषक वर्ग के अधिनायकत्व को समाप्त करना जरूरी है। ऐसे समाज के अन्दर जहाँ वर्ग-विभाजन के आधार पर चलने वाला शोषण समाप्त हो चुका हो, व्यक्ति अपने आपको सामाजिक संगठन के अन्दर अवरुद्ध होता हुआ महसूस नहीं करेगा और उसके सामाजिक दायित्व उसके व्यक्तित्व की सार्थक अभिव्यक्ति हो जायेंगे। क्योंकि सर्वहारा पार्टी के संगठन में रहकर व्यक्ति के व्यक्तित्व की इसी प्रकार की सार्थक अभिव्यक्ति होती है, अतः उसके अनुशासन से भी व्यक्ति की स्वतंत्रता को कोई वास्तविक खतरा नहीं होता।

क्योंकि मानव के व्यक्तित्व का विकास सामाजिक संगठन के विस्तार और विकास के साथ ही सम्भव हुआ है, अतः समाज से वाहर उसके व्यक्तित्व की सम्पन्नता को बनाये रखना असम्भव है। यदि हमारे व्यक्तित्व के वे सभी आयाम न रहें जो सामाजिक विकास की देन हैं, तो हमारा व्यक्तित्व वहुत ही प्राथमिक स्तर का वन कर रह जायेगा। केवल शोषण और उत्पीड़न पर आधारित समाज व्यवस्था में ही व्यक्ति की स्वतंत्रता और अस्मिता नष्ट होती है और उससे वह

अवश्य मुक्ति चाहता है किन्तु मुक्ति की उसकी यह कामना समाज मात्र से बाहर निकलने के लिए नहीं, उस विशिष्ट प्रकार की सामाजिक व्यवस्था को तोड़ने भर के लिये होती है और इसके लिये उसे सामूहिक संघर्ष में शामिल होने के लिये तैयार होना पड़ता है। व्यक्ति-स्वतंत्रता की प्रक्रियावादी चिन्तकों द्वारा की जाने वाली अराजक कल्पना के आधार पर शोषक वर्गों के अधिनायकत्व को कोई प्रभावशाली चुनौती नहीं मिलती। इसीलिये साहित्य और विचारधारा के विरोध की पुष्टि में दी जाने वाली इस प्रकार की दलील उनके राजनीतिक उद्देश्यों के अनुकूल पड़ती है।

व्यक्ति की स्वतंत्रता पर दूसरी प्रकार के प्रतिबन्धों को हटाने के लिये भी विभिन्न व्यक्तियों में अधिकतम सहयोग की आवश्यकता होती है। अकेला आदमी प्राकृतिक शक्तियों के सामने पंगु है। परस्पर सहयोग द्वारा ही मनुष्य धीरे-धीरे प्राकृतिक शक्तियों की क्रिया-विधियों को समझ सका है और उन्हें अपनी इच्छाओं और प्रयोजनों के अनुकूल बनाने के तरीकों का आविष्कार कर सका है। इसी-लिए सामाजिक संगठन के माध्यम से व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास कर सका है और अपनी स्वतंत्रता के दायरे को विस्तार दे सका है यद्यपि यह सम्भव केवल तभी हुआ है जबकि यह संगठन उत्पादन शक्तियों को अवरुद्ध करने वाला न होकर उन्हें सुनियोजित एवं सुव्यवस्थित करने वाला हो। अतः व्यक्ति की स्वतंत्रता का सवाल, व्यक्ति और समाज के विरोध का सवाल नहीं है, बल्कि शोषक और शोषित वर्गों के संघर्ष का तथा उत्पादन शक्तियों के सही उपयोग का सवाल है।

व्यक्ति के अनुभव की विशिष्टता, सघनता और मूर्तता को बचाये रखने के सन्दर्भ में भी व्यक्ति और समूह के परस्पर विरोध की कल्पना तर्क संगत नहीं है। हमारे अनुभव के बहुत सारे पक्ष ऐसे हैं जो एक साथ ही विशिष्ट भी हैं और सामान्य भी। यदि सभी व्यक्ति एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न होते तो विशिष्ट और सामान्य का इस प्रकार का संयोजन असम्भव होता और अनुभवों के आदान-प्रदान की कल्पना भी हम उस समय न कर पाते। किन्तु साहित्य के माध्यम से वास्तव में हमारे उन सभी अनुभवों की अभिव्यक्ति होती रहती है जो हमारे अपने निजी अनुभव होते हुने भी उन सभी व्यक्तियों के अनुभवों के सारतत्व को लक्षित करते हैं। जिनकी वर्गगत भूमिका की दृष्टि से एक सांझी नियति है। हमारे सबसे महत्वपूर्ण और केन्द्रीय अनुभव होते ही वे हैं जो अपनी जीवन-परिस्थितियों की चुनौती को एक वर्ग के रूप में स्वीकार करते समय हमें उपलब्ध होते हैं। इस वर्गगत नियति की साझेदारी को नज़र-अन्दाज करने के बाद व्यक्ति के अनुभव के जो अंश बच रहते हैं उनमें उसके व्यक्तित्व के केन्द्रीय पक्ष लक्षित नहीं होते। इसीलिए कोरी विशिष्टताओं के बल पर अनुभव की मूर्तता अथवा सघनता का आभास नहीं दिया जा सकता। अनुभव की मूर्तता और सघनता को जांचने के लिये हमें यह देखना होता है कि उसमें व्यक्ति के समूचे व्यक्तित्व की कितनी झलक मिलती है। निस्संदेह हमारा समूचा व्यक्तित्व उन अनुभवों के माध्यम से ही प्रभावशाली ढंग से व्यक्त हो सकता है जो एक साथ ही विशिष्ट भी हैं और सामान्य भी।

व्यक्ति के अनुभव की विशिष्टता और मूर्तता को आघात वास्तव में सामू-हिकता की बजाय स्वच्छन्दतावादी अलगाव से अधिक पहुँचता है। जब अपने व्यक्तित्व में हम किसी ऐसे आन्तरिक वैभव की कल्पना करते हैं जो हमारी बाह्य

गतिविधियों अथवा सामाजिक दायित्वों के माध्यम से व्यक्त नहीं होता तो हम वास्तविक और गैरवास्तविक सम्भावनाओं के भेद को मिटा देते हैं और इस प्रकार व्यक्तित्व की विशिष्टता को परिभाषित करने के एक आवश्यक मानदण्ड को ही भुला देते हैं। हमारे व्यक्तित्व की विशिष्टता केवल उन्हीं मूर्त संभावनाओं के माध्यम से स्पष्ट होती है जो तत्कालीन जीवन-परिस्थितियों के साथ हमारे वास्तविक टकरावों और निर्णायक हस्तक्षेपों के रूप में व्यक्त होती हैं। वैसे तो प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्दर असीम संभावनाओं की कल्पना कर सकता है, किन्तु इनके आधार पर उसके व्यक्तित्व की विशिष्टता परिभाषित नहीं होती। अपनी सामाजिक नियति से वह किस प्रकार निपटता है इसी के आधार पर हम उसकी वास्तविक सम्भावनाओं को जान पाते हैं और केवल उन्ही सम्भावनाओं द्वारा उसके व्यक्तित्व की विशिष्टता निर्मित होती है।

साहित्य और विचारधारा को एक दूसरे के विरुद्ध खड़ा करने के लिए एक तर्क यह भी दिया जाता है कि कोई विचारधारा मानवीय अनुभव की जीवन्त गतिमयता को यथेष्ठ रूप में पकड़ नहीं पाती, बल्कि उसका यांत्रिक विवरण देकर उसे जड़ रूप दे देती है। यह कहा जाता है कि हम विश्व के इतिहास पर नज़र डालें तो स्पष्ट हो जायेगा कि घटनाओं के प्रत्येक महत्वपूर्ण मोड़ पर सभी महान चिन्तकों और राजनीतिक नेताओं ने यह पाया है कि वस्तुस्थिति उनके अपने पुराने निष्कर्षों से बहुत आगे निकल जाती है और उन्हे अपनी विचारधारा के किले से बाहर निकल कर ही तत्कालीन परिस्थितियों से साक्षात्कार करना पड़ता है। अपनी विचारधारा के सूत्रों में बंधे रहकर वे तत्कालीन परिस्थितियों में कोई निर्णायक हस्तक्षेप न कर पाते। हमारा वास्तविक अनुभव प्रतिपल बदलता रहता है, आज जिस रूप में हम उसे देखते हैं, कल वह इससे सर्वथा भिन्न होगा। किन्तु विचारधारा एक विशिष्ट समय की वस्तुस्थिति के विश्लेषण पर आधारित कुछ निष्कर्षों को सर्वमान्य सिद्धान्तों का रूप देकर हमारे अन्दर ऐसी मतान्धता पैदा कर देती है कि हम पूर्व-प्रतिपादित नियमों को ही निरन्तर यांत्रिक ढंग से अपने नये अनुभवों पर लागू करते रहते हैं। इस प्रकार नये अनुभवों को कुछ जड़ अवधारणाओं में अनुदित करते रहने के कारण अन्ततः हम उनकी जीवन्त वास्तविकता को समझ पाने में पूर्णतया असमर्थ हो जाते हैं। वास्तविकता का सीधे साक्षात्कार करना एक जोखिम भरा काम है। बनी-बनायी विचारधारा का सहारा लेकर हम इस जोखिम से आसानी से बच जाते हैं। और यदि हम किसी राजनीतिक दल के सदस्य हुए तो फिर हमें अपनी इस बुजदिली को छिपाये रखने के लिए एक अच्छा खासा मुखौटा मिल जाता है। एक साहित्यकार के लिये विचारधारा और वास्तविक अनुभव के बीच का यह अन्तराल (gap) बहुत घातक सिद्ध होता है। एक सच्चा साहित्यकार अपनी कल्पना शक्ति द्वारा मानवीय अनुभवों की उन झलकियों, भंगिमाओं, कटाक्षों और छवियों को पकड़ना चाहता है जिन्हें सिद्धान्तों के रूप में प्रतिपादित नहीं किया जा सकता। विचारधारा के चंगुल में फँसा हुआ साहित्यकार अनुभव की नित-नयी छवियों के स्थान पर घिसी-पिटी पुरानी उक्तियों की ही पुनरावृत्ति करता रहेगा। विचारधारा-जनित जड़ता और मतान्धता उसके सामने एक ऐसी दीवार बन जायेगी कि किसी भी नये अनुभव से उसका सीधा साक्षात्कार नहीं हो सकेगा और धीरे-धीरे उसका लेखन कृत्रिम और नीरस हो जायेगा। कुछ बुर्जुआ चिन्तक

तो इस विषय में इतने संदेहशील हो जाते हैं कि उन्हें केवल साहित्य और विचारधारा के बीच ही नहीं साहित्य और विचार मात्र के बीच आधारभूत विरोध दिखाई देने लगता है। उनके अनुसार हम बौद्धिक विश्लेषण-विवेचन करते समय किसी भी अनुभव में सीधे-साधे भागीदार नहीं हो सकते। जब हम किसी अनुभव को संवेदना के द्वारा ग्रहण करने की बजाय केवल अपनी विचार-शक्ति द्वारा जानते हैं तो हम साहित्य क्षेत्र से निकलकर विज्ञान अथवा दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में प्रवेश कर जाते हैं। साहित्य और वक्तव्य में यह एक आधारभूत अन्तर है कि साहित्य में किसी अनुभव को उसके शरीर और आत्मा के साथ पकड़ा जाता है जब कि वक्तव्य में उसका केवल बाह्य विवरण प्रस्तुत किया जाता है। वास्तव में साहित्य के तीव्र प्रभाव का रहस्य ही यही है कि हमारे अनुभव के वे पक्ष यहाँ विशेष रूप से विद्यमान होते हैं जिन्हें तर्क के बल पर नहीं पकड़ा जा सकता और जो केवल संवेदना के अर्धचेतन अथवा अवचेतन स्तर पर ही ग्रहण किये जा सकते हैं।

जाहिर है कि यहाँ विचारधारा का मतलब केवल वर्गगत दृष्टिकोण तक सीमित न रहकर तर्कपूर्ण विश्लेषण द्वारा सुव्यवस्थित निष्कर्षों तक पहुँचने की बौद्धिक क्रिया हो जाता है। आज प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ विचारधारा इतनी अवैज्ञानिक और असंगत हो चुकी है कि अब वह तर्क और गम्भीर विचार-विमर्श के बल पर खड़ी नहीं हो सकती। इसीलिये बुर्जुआ चिन्तकों की यह कोशिश रहती है कि तर्क और विश्लेषण को अनुचित घोषित कर दिया जाये और यह प्रचारित किया जाये कि हमारे अनुभवों और परिस्थितियों को विचार अथवा बौद्धिक चिन्तन के द्वारा व्याख्यायित करने के सब प्रयास निरर्थक हैं। विचार और अनुभव के बीच इस प्रकार के अन्तर्विरोध की आत्यन्तिक अवधारणा हमें मान्य नहीं हो सकती। हम जानते हैं कि सभी जटिल और महत्वपूर्ण मानवीय अनुभवों में, विशेषकर सामाजिक परिस्थितियों से जुड़े हुए अनुभवों में, बौद्धिक चिन्तन और तर्कपूर्ण विश्लेषण अभिन्न रूप से विद्यमान रहते हैं। जो अनुभव हमारे व्यक्तित्व के अर्धचेतन अथवा अवचेतन धरातल पर पहुँच जाते हैं वे भी अपनी 'प्रारम्भिक' अवस्था में चेतना के अंग थे और उनमें से अधिकांश में बौद्धिक ऊर्जा सक्रिय रूप में विद्यमान थी। वास्तव में कुछ प्राथमिक ऐन्द्रिक स्पन्दनों को छोड़कर हमारे सभी अनुभवों में बौद्धिक क्रिया की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। जिस 'समझ' के आधार पर हम अपने क्षणिक अनुभवों को संयोजित करते हैं और उन्हें पचा कर अपने व्यक्तित्व का विकास करते चलते हैं उसके ज्ञानात्मक और संवेदनात्मक दोनों ही पक्ष समान रूप से महत्वपूर्ण हैं और इनमें से किसी एक को दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। 'विचार' और 'भावना' के द्विभाजन का वास्तव में कोई वस्तु परक आधार नहीं है। हमारे अनुभवों को ठीक तरह समझने के लिये ये केवल सुविधाजनक परिकल्पनाएँ ही हैं।

जहाँ तक विचारधारा की जड़ता और निरन्तर बदलते रहने वाले वास्तविक अनुभव से उसके पिछड़ जाने का सवाल है, वहाँ भी गौर करने पर हमें बुर्जुआ चिन्तकों की स्थापनाएँ अनुचित सरलीकरणों से ग्रस्त दिखाई देंगी। बदलती हुई वास्तविकता के प्रत्येक बदले हुए रूप को समझने के लिये हमें एक सुनिश्चित दृष्टिकोण चाहिये। यह दृष्टिकोण प्रथमतः तो हमारी वर्गगत भूमिका से निर्धारित होता है, किन्तु इसके साथ ही इसे प्रखर बनाने के लिए यथेष्ठ मात्रा में बौद्धिक

क्षमता भी चाहिये। वस्तुस्थिति को समझने के लिए काम में लाये जाने वाले इस दृष्टिकोण से ही हमारी विचारधारा का मूल स्वरूप जाना जाता है। इस दृष्टिकोण को अपना कर हम जिन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं वे विचारधारा को एक विशिष्ट रूप प्रदान करते हैं। जब तक वस्तुस्थिति में कोई बदलाव नहीं आता विचारधारा का यह विशिष्ट रूप कायम रहता है। एक ही वर्ग से सम्बंध रखने वाले लोग यदि अपनी बौद्धिक क्षमता को किसी तरह सुकेन्द्रित कर सकें तो वस्तु-स्थिति की उनकी समझ और भी स्पष्ट और प्रखर हो जाती है। किन्हीं दी हुई परिस्थितियों में सर्वहारा वर्ग के अनुभवों के केन्द्रीय पक्षों को ठीक तरह से समझने का काम सर्वहारा वर्ग की पार्टी का नेतृत्व करता है और उन सभी व्यक्तियों के लिए जो इस वर्ग के दृष्टिकोण से तत्कालीन परिस्थितियों को समझना चाहते हैं पार्टी द्वारा किया गया यह सामूहिक प्रयास बहुत उपयोगी सिद्ध होता है। यदि कोई व्यक्ति परिस्थितियों के बारे में विकसित की जाने वाली इस सामूहिक समझ को यान्त्रिक रूप में नहीं अपनाता तो तत्कालीन अनुभवों की उसकी अपनी समझ कुन्द होने के बजाय और अधिक प्रखर हो जायेगी।

ज्योंही वस्तु-स्थिति में कुछ परिवर्तन आ जाता है, त्योंही उसी सुनिश्चित दृष्टिकोण के आधार पर एक नयी समझ विकसित कर ली जाती है और यह संभव है कि इस नयी समझ में कुछ पुराने निष्कर्ष बदल जाते हैं और इस प्रकार विचार धारा के बाह्य रूप में कुछ नयापन दिखाई देने लगे। किन्तु यह मान लेना कि किसी भी नये अनुभव को समझने में हमारे सभी पुराने विचार-बिन्दु और निष्कर्ष व्यर्थ हो जाते हैं एकदम भ्रान्तिपूर्ण है। जहाँ वस्तुस्थिति कुछ हद तक बदलती है वहाँ उसमें निरन्तरता भी बनी रहती है। यह बात व्यक्ति के अनुभव के बारे में भी उतनी ही सही है जितनी एक वर्ग-समूह या फिर एक पूरे समाज के अनुभव के बारे में। हमारी जीवन परिस्थितियों की जो समझ हम धीरे-धीरे अर्जित कर चुके हैं, वह एकदम बेकार सिद्ध हो जाती हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। मार्क्सवादी चिन्तन-पद्धति तो विशेष रूप से हमारे अनुभवों की द्वन्द्वात्मक गतिशीलता को पहचान कर चलती है। ज्यों-ज्यों जीवन-परिस्थितियाँ बदलती हैं (या बदल दी जाती हैं), त्यों-त्यों उन्हें नये सिर से समझने पर मार्क्सवादी चिन्तक बल देते हैं। दृष्टिकोण सुस्थिर बना रहता है, किन्तु नयी स्थिति को व्याख्यायित करने वाले कुछ नये निष्कर्ष उभर आते हैं। यान्त्रिकता और मतान्धता तो मार्क्सवादी चिन्तन पद्धति अथवा विचारधारा में नहीं बल्कि उन चिन्तन-पद्धतियों और विचारधाराओं में पायी जाती हैं जो वास्तविकता से गुमराह करने के लिये प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ चिन्तक हमारे लिये गढ़ते रहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि वास्तविक विरोध अनुभव और विचारधारा के बीच नहीं है, बल्कि बदलती हुई वास्तविकता और ठहरी हुई यान्त्रिक चिन्तन पद्धति अथवा भाववादी बुर्जुआ विचारधारा के बीच है। बिना वैज्ञानिक और वस्तुपरक दृष्टिकोण अपनाये हम किसी भी अनुभव को पूरी तरह 'पकड़' नहीं सकते। साहित्य में विशेष रूप से अनुभव को 'ज्यों का त्यों' अधकचरे रूप में नहीं रखा जाता, बल्कि उसे अच्छी तरह समझने-बूझने के पश्चात् शब्द-बद्ध किया जाता है और समझने-बूझने की इस क्रिया में लेखक का वर्गीय दृष्टिकोण हमेशा विद्यमान रहता है।

ऊपर दिये गये विवेचन से यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि प्रत्येक साहित्यकार

एक वर्ग-विशेष के दृष्टिकोण को अपना कर ही तत्कालीन जीवन-परिस्थितियों को समझने का प्रयास करता है। अच्छा साहित्यकार सभी वर्ग-गत पक्षपातों से ऊपर नहीं उठ जाता, वल्कि अपने समय के सबसे अधिक प्रगतिशील वर्ग का पक्षधर होता है। वह सामाजिक जीवन की गतिविधियों से कट कर नहीं बल्कि उनमें पूरी गम्भीरता एवं सक्रियता के साथ शामिल होकर ही कुछ उच्च नैतिक आदर्शों की स्थापना करता है। प्रगतिशील वर्गों के पक्षधर के रूप में तत्कालीन परि-स्थितियों से साक्षात्कार करके ही वह इन आदर्शों का निर्माण करता है। उनकी रचना से अनुवद्ध होने वाले ये आदर्श तत्कालीन परिस्थितियों की केवल उपज ही नहीं होते उनके अन्दर आवश्यक परिवर्तन लाने की दिशा भी इंगित करते हैं। एक समूह का अंग वन जाने से साहित्यकार के अनुभव की विशिष्टता अथवा मूर्तता नष्ट नहीं होती, बल्कि उसके इस प्रकार के निर्णय से तो वह और भी पुष्ट होती है वशर्ते कि उसने अपने आपको प्रगतिशील वर्ग के सामूहिक संघर्षों के साथ जोड़ा हो। व्यक्तिगत स्वतंत्रता और समूहगत आग्रहो के विरोध की वात उठा कर हम अक्सर मानवीय स्वतंत्रता की आवश्यक शर्तों से ध्यान हटा देते हैं। व्यक्ति की स्वतंत्रता का सवाल वास्तव में शोषक-उत्पीड़क वर्ग के अधिनायकत्व को समाप्त करने के सवाल के साथ जुड़ा हुआ है। शोषण रहित समाज की स्थापना के लिए किये जाने वाले सामूहिक संघर्ष में शामिल होना लेखक की स्वतन्त्रता की आवश्यक शर्त है। अच्छे साहित्य को खतरा समूह या पार्टी से नहीं केवल उत्पी-ड़क वर्ग और उसके संस्थानों से होता है। जड़ सिद्धान्तों को यान्त्रिक ढंग से अनुभव पर लागू करने की विचारधारा मान लेना उचित नहीं है। विचारधारा एक वर्ग-विशेष से जुड़ी हुई चिन्तन-पद्धति और 'समझ' को कहते हैं और इनके आधार पर किसी विशेष समय पर वस्तु-स्थिति का जो विश्लेषण किया जाता है वह विचारधारा के विशिष्ट रूप को ही लक्षित करता है। किसी भी अनुभव को समझने अथवा प्रेषित करने के लिये एक निश्चित चिन्तन-पद्धति अथवा दृष्टिकोण को अपनाना पड़ता है। जड़ता और यान्त्रिकता सभी चिन्तन-पद्धतियों की नहीं केवल गैर-द्वन्द्वात्मक और भाववादी बुर्जुआ चिन्तन-पद्धतियों की विशेषताएँ हैं। एक सुस्थिर दृष्टिकोण और चिन्तन-पद्धति के आधार पर जो निष्कर्ष और मान्यताएँ उभर कर आती हैं उन्हें कुछ समय के वाद एकदम निरर्थक मानने लगना अनुचित होगा। किसी भी समय पर वस्तुस्थिति को उसकी सम्पूर्णता में समझने के प्रयास में पूर्व-संचित सूक्तियों और निष्कर्षों का महत्त्वपूर्ण योगदान होगा यद्यपि परिस्थितियों के वदले हुए स्वरूप को पहचानने के लिये हमें अपनी बौद्धिक क्षमता और संवेदना से निरन्तर काम लेते रहना पड़ेगा। एक वर्ग से सम्वन्ध रखने वाले लोगों की सामूहिक समझ अकेले व्यक्ति की समझ से अधिक प्रखर और व्यापक होगी। इस 'समझ' के ज्ञानात्मक और संवेदनात्मक पक्षों को ध्यान में रखते हुए हम इसे मुक्तिवोध के शब्दों में 'संवेदनात्मक ज्ञान' भी कह सकते हैं।

यह स्पष्ट हो जाने के वाद कि किसी भी साहित्यिक कृति में कोई न कोई विचारधारा अनिवार्यतः विद्यमान होती है, हमारे सामने प्रश्न उठता है कि इसे हम किसी रचना में किन रूपों में पहचान सकते हैं और एक रचना का मूल्यांकन करते समय उसमें अन्तर्निहित विचारधारा को कितना महत्त्व दिया जाना चाहिये।

एक लेखक की विचारधारा प्रथमतः तो किसी वर्ग-विशेष द्वारा वस्तुस्थिति के सामूहिक रूप में किये जाने वाले सुस्पष्ट और सुव्याख्यायित विश्लेषण के तौर पर उपलब्ध हो सकती है। यदि उसकी रचना की विषय-वस्तु ही अपने समय की प्रमुख सामाजिक-राजनीतिक समस्याएँ हैं तो उसकी विचारधारा रचना के अन्दर विशेष तौर पर स्पष्ट निष्कर्षों और समाधानों के रूप में विद्यमान होगी। ऐसी रचनाओं में लेखक सीधे-सीधे स्वयं अथवा किन्हीं पात्रों के माध्यम से वक्तव्यों अथवा बहस के रूप में मुख्य समस्याओं को परिभाषित कर सकता है और उनके समाधान प्रस्तुत कर सकता है। जाहिर है कि ऐसी स्थिति में रचना का साहित्यिक मूल्य लेखक की स्पष्ट रूप में व्याख्यायित स्थापनाओं की सार्थकता पर ही अधिकांशतः निर्भर करेगा। यदि उसने प्रगतिशील वर्ग की विचारधारा को अपनाया है तो उसकी रचना में अधिक शक्ति होगी क्योंकि वहाँ उठाये गये सवाल और उनके जवाब अधिक सही होंगे। सही विचारधारा के चुनाव के साथ-साथ हमें ऐसी रचनाओं में यह भी देखना होता है कि लेखक ने उसे अपनी बौद्धिक एवं संवेदनात्मक क्षमताओं की धार पर रखकर पूरी तरह आत्मसात कर लिया है अथवा वैसे ही यान्त्रिक ढंग से अपना लिया है। इसका कुछ-कुछ अनुमान तो रचना में विद्यमान स्पष्ट वक्तव्यों की शक्ति को देखकर ही लगाया जा सकता है, किन्तु इससे भी अधिक विश्वसनीय तरीका यह है कि हम देखें कि पात्रों और घटनाओं के चुनाव में, कथानकों के विकास में, पात्रों की ओर अपनाये गये दृष्टिकोण में तथा बिम्बों और प्रतीकों में उसकी विचारधारा किस रूप में व्यक्त हो रही है। यदि लेखक ने विचारधारा को केवल सतही रूप में अपनाया हुआ है और उसके मानस की गहराईयों पर उसका तीव्र प्रभाव नहीं पड़ा है तो वह या तो ऐसे जीवन्त पात्रों और प्रभावशाली घटनाओं का चयन नहीं कर सकेगा जो उस विचारधारा की लॉजिक के अनुकूल हों या फिर ऐसी घटनाएँ और पात्र चुनेगा जो उसकी वास्तविक विचारधारा को मूर्त रूप में प्रस्तुत करते हों। किन्तु वक्तव्यों और कथनों को हमें आरम्भ से ही सतही मानकर नहीं चल पड़ना चाहिए। यदि वे रचना की संरचना का एक आवश्यक घटक बने हुए हैं और उसके अन्य घटकों के साथ अनिवार्य रूप में जुड़े हुए हैं तो वे रचना की शक्ति को बढ़ाते हैं और रचना को ठीक-ठीक समझने में पाठक के लिये सहायक सिद्ध होते हैं।

जाहिर है कि इस प्रकार के वक्तव्यों और कथनों के रूप में तो विचारधारा अधिकतर उन्हीं रचनाओं में सामने आयेगी जहाँ लेखक सीधे-सीधे तत्कालीन सामाजिक जीवन की कुछ मुख्य समस्याओं से जूझ रहा हो या सुकेन्द्रित तर्कपूर्ण विश्लेषण द्वारा अपने स्वयं के अथवा पाठकों के कुछ विभ्रमों को तोड़ने का सचेष्ट प्रयत्न कर रहा हो। ऐसी रचनाओं में स्पष्ट निष्कर्ष न दे पाना रचना को कमजोर बनायेगा ; किन्तु अधिकांश रचनाओं में विचारधारा एक सुनिश्चित वर्गीय दृष्टिकोण के तौर पर कुछ अधिक सूक्ष्म रूपों में विद्यमान होती है। जब प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ चिन्तक साहित्य से विचाधारा के बहिष्कार की बातें करते हैं तो उनकी नजर स्पष्ट वक्तव्यों की ओर ही अधिक होती है। जो विचारधारा प्रभुतासम्पन्न वर्ग द्वारा हम पर थोपी हुई होती हैं उसे हम संस्कारों के रूप में ग्रहण कर चुके होते हैं। उसकी मान्यताएँ हमें प्रत्यक्ष सत्य दिखाई देने लगती हैं और 'मानव स्वभाव' की हमारी कल्पना का वे अंग बन चुकी होती हैं।

इसीलिये उसे सचेष्ट होकर व्याख्यायित करने की आवश्यकता हमें महसूस नहीं होती। इसके विपरीत परिवर्तनकामी वर्ग की विचारधारा नयी होती है। वह पहले वैचारिक धरातल पर व्याख्यायित होकर हमारे सामने आती है और पूर्णतया सचेत और जागरूक होकर ही हम उसकी मान्यताओं को ग्रहण कर पाते हैं। दोनों प्रकार की विचारधाराओं के इस अन्तर को ध्यान में रखते हुए ही प्रतिक्रियावादी चिन्तक साहित्य को विचारधारा से अलग रखने की बात उठाते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि यथास्थितिवादी तत्वों की विचारधारा तो तत्कालीन सांस्कृतिक वातावरण मे ऐसी घुल-मिल गई है कि उसे वक्तव्यों के रूप में प्रचारित करने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है जबकि सर्वहारा वर्ग की विचारधारा को पाठक तक पहुँचाने के लिये बहस और विश्लेषण का विशेष रूप से सहारा लेना पड़ता हैं। जब तक हम यह नहीं पहचान लेते कि साहित्य में विचारधारा कई सूक्ष्म रूपों में भी विद्यमान होती है, हम प्रतिक्रियावादी चिन्तकों के इस प्रपंच को नहीं समझ सकते। वक्तव्यों के रूप में प्रतिपादित विचारधारा से हमें केवल इसलिये आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि उसे रचना में स्पष्ट रूप में क्यों दिया गया है। आपत्ति तो विचारधारा के स्वरूप को लेकर हो सकती है या फिर उस स्थिति में जबकि स्पष्ट रूप में प्रतिपादित विचार-धारा रचना की संरचना का अंग न बन सकी हो और उसमें अन्तर्निहित विचार-धारा के विरुद्ध पड़ती हो।

रचना के अन्दर विचारधारा स्पष्ट अथवा सूक्ष्म रूप में विषय-वस्तु की हैसियत से विद्यमान न होकर परिप्रेक्ष्य के रूप में भी विद्यमान हो सकती है। जब एक जनवादी लेखक समकालीन जीवन के सन्दर्भ में प्रेम-कविता लिखता है अथवा प्रकृति-प्रेम सम्बन्धी रचना करता है तो मेहनतकश वर्गों की विचारधारा रचना की विषय-वस्तु में भले ही दिखाई न दे किन्तु परिप्रेक्ष्य के रूप में वह अवश्य मौजूद होगी। इसी परिप्रेक्ष्य के आधार पर लेखक दो व्यक्तियों के बीच विकसित होने वाले आत्मीय सम्बन्धों को समकालीन जीवन के अन्य पक्षों से जुड़ा हुआ देखेगा और इस प्रकार उनकी वास्तविक सार्थकता को आँक सकेगा। उसकी रचना में प्रेम एक शुद्ध और अमूर्त तत्व के रूप में हमारे सामने नहीं आयेगा, बल्कि जिन व्यक्तियों के बीच यह सम्बन्ध विकसित हुआ है उनके समूचे व्यक्तित्वों को अभिव्यक्ति इस सम्बन्ध के माध्यम से होती हुई दिखाई देगी। उन व्यक्तियों पर जीवन-परिस्थितियों के किस प्रकार के दबाव पड़ रहे हैं और उनके विरुद्ध उनकी प्रतिक्रिया क्या है यह भी इस अनुभव के माध्यम से परोक्ष रूप में लक्षित कर दिया जायेगा। इस प्रकार परिप्रेक्ष्य के आधार पर ही एक प्रतिक्रियावादी साहित्यकार और एक जनवादी साहित्कार की रचनाओं का अन्तर स्पष्ट होता जायेगा। वैसे तो किसी भी ऐसे अनुभव की कल्पना करना असंभव है जहाँ व्यक्ति का विश्व दृष्टिकोण और जीवन सम्बन्धी उसकी मान्यताएँ किसी न किसी रूप में विद्यमान न हों, किन्तु फिर भी कुछ रचनाओं के विचारधारात्मक पक्ष को मुख्यतः परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखते हुए ही पहचाना जा सकता है।

साहित्य और विचारधारा के परस्पर सम्बन्ध को पहचानने के लिये अन्त में हमें इस सवाल पर भी गौर कर लेना चाहिये कि क्या गलत विचारधारा को अपनाकर भी कोई रचनाकार अच्छे साहित्य की रचना कर सकता है। इस

सवाल के दो पहलू हैं जिनमें से एक को इस विवेचन के दौरान पहले भी उठाया जा चुका है। सचेत रूप में प्रतिक्रियावादी विचारधारा अपनाये हुए होने के बावजूद यह संभव है कि लेखक अपने मानस की गहराई में उससे कहीं अधिक प्रगतिशील और तर्कसम्मत विचारधारा को स्वीकार कर चुका हो। ऐसी स्थिति में उसकी रचना में जो शक्ति हमें दिखाई देती है वह वास्तव में उसकी गहरे में अपनाई हुई विचारधारा के कारण ही आती है और सचेत रूप से अपनाई हुई विचारधारा से उसका कोई ताल्लुक नहीं है। बाल्जॉक की रचनाओं के सन्दर्भ में ऐंग्लस ने जिस 'यथार्थवाद की विजय' का जिक्र किया है वह वास्तव में दो भिन्न प्रकार की विचारधाराओं के इस प्रकार के द्वन्द्व के ही सूचक है।

मानस की गहराई में अपनाई हुई विचारधारा के बल पर रचना में श्रेष्ठता आ जाने के साथ-साथ हमें यह भी मानना पड़ेगा कि एक प्रतिक्रियावादी विचारधारा भी अक्सर पूर्णतया मानव-विरोधी अथवा गलत नहीं होती। एक प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण के आधार पर भी वस्तुस्थिति के कुछ पक्ष उभारे जा सकते हैं। वह दृष्टिकोण अनुचित इसलिये होता है कि उसके आधार पर वस्तुस्थिति के कुछ महत्वपूर्ण पक्ष या तो अनदेखे रह जाते हैं या फिर उन्हें बड़े विकृत ढंग से प्रस्तुत किया जाता है जिससे वह अपने समग्र रूप में ठीक तरह हमारे सामने नहीं आ पाती। किन्तु कुछ सीमित सच्चाईयाँ तो इस दृष्टिकोण के आधार पर भी जानी जा सकती ही हैं। एक समय ऐसा भी था जब यही दृष्टिकोण प्रगतिशील होता था और इसे अपनाने से कई महत्वपूर्ण सच्चाईयाँ हमारे सामने उभर आती थीं। बदली हुई परिस्थितियों में इस दृष्टिकोण का स्वरूप बदल जाता है और इसके आधार पर जानी जा सकने वाली बहुत सी सच्चाईयाँ अब उतनी महत्वपूर्ण नहीं रहतीं तथा उनमें से कुछ तो अब बिलकुल 'झूठी सच्चाईयाँ' बनकर रह जाती हैं। किन्तु कुछ सच्चाईयाँ अब भी ऐसी शेष रह जाती हैं, जो कुछ-कुछ विकृत रूप में ही सही, इस प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण के अपनाने से हमारे सामने आती हैं। प्रतिक्रियावादी विचारधारा की इस सीमित सार्थकता के कारण ही प्रतिक्रियावादी साहित्यकार भी समकालीन जीवन के कुछ मर्मों को छू लेते हुए मालूम पड़ते हैं। उदाहरण के लिये आधुनिक जीवन के एक तीखे अनुभव-आत्म-निर्वासन की योरोपियन साहित्य में अभिव्यक्ति को लिया जा सकता है। प्रतिक्रियावादी साहित्यकारों ने भी इसे अपने ढंग से प्रस्तुत किया है और प्रगतिशील साहित्यकारों ने भी। जहाँ तक प्रतिक्रियावादी साहित्यकारों की रचनाएँ इस अनुभव को केन्द्र में रखती हुई दिखाई देती हैं हमें वे प्रभावशाली नज़र आने लगती हैं, किन्तु जिस दृष्टिकोण से इस अनुभव को प्रस्तुत किया जाता है उससे यह विकृत रूप में ही हमारे सामने आ पाता है। प्रतिक्रियावादी साहित्यकार या तो इसके मूल कारणों में जायेंगे ही नहीं या फिर उनकी गलत व्याख्या प्रस्तुत करेंगे और उसका मूल कारण—पूंजीवादी व्यवस्था में व्याप्त मेहनतकश जनता का शोषण उन्हें दिखाई ही नहीं देगा। इस अनुभव से बाहर निकलने का सही रास्ता भी वे नहीं दिखा पायेंगे और इसे मानव-नियति का एक अनिवार्य पक्ष मानकर ही छुट्टी ले लेंगे। किन्तु उनकी रचनाओं से इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण अपनाकर भी एक साहित्यकार कुछ महत्वपूर्ण जीवनानुभवों को चाहे विकृत रूप में ही सही अपनी रचनाओं के माध्यम से व्यक्त कर सकता है यदि उन्हें शब्दबद्ध करने की साहित्यिक क्षमता

उसमें यथेष्ट रूप में विद्यमान हो। इस सम्बन्ध में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि साहित्यिक कृति के माध्यम से व्यक्त होने वाले किसी भी अनुभव में विचारधारा एक आधारभूत आयाम के रूप में विद्यमान होती है और रचना के मूल्यांकन में इस आयाम का महत्वपूर्ण स्थान होता है, किन्तु रचना में व्यक्त होने वाले अनुभव को हमें उसकी समग्रता में देखना चाहिये और उसकी सार्थकता को केवल उसमें अन्तर्निहित विचारधारा के स्वरूप के आधार पर ही नहीं आँकना चाहिये। एक ही प्रकार की विचारधारा के आधार पर ऐसी रचनाएँ दी जा सकती हैं जो बौद्धिक क्षमता, संवेदन-शक्ति और अभिव्यक्ति माध्यम पर अधिकार की दृष्टि से एक दूसरे से काफी भिन्न हों। इन रचनाओं का मूल्यांकन करते समय हमें इन सभी बातों की ओर ध्यान देना पड़ेगा।



साहित्य और सर्वहारा

—मैनेजर पांडे

"Philosphers have only interpreted the world in various ways, the point is....................to change it." —Marx

एक

संस्कृति और उसके विभिन्न रूपों की मूलगामी ऐतिहासिक मीमांसा का उद्देश्य केवल विचार के लिए विचार करना या आत्मतोष के लिए चिंतन करना नहीं है, बल्कि समाज-व्यवस्था और सामाजिक सम्बन्धों के बुनियादी बदलाव के लिए आवश्यक चेतना जगाना है, सामाजिक सम्बन्धों की समग्रता का बोध जगाकर परिवर्तन की प्रेरणा देना है। संस्कृति सम्बन्धी चिंतन में केवल व्याख्या को चिंतन का उद्देश्य वे समझते हैं जो वर्तमान को शाश्वत मानते हैं; लेकिन जो शोषणयुक्त समाज-व्यवस्था को बदलकर शोषणमुक्त समाज-व्यवस्था कायम करने की कोशिश करते हैं, जो मानव-समाज के बेहतर भविष्य की चिंता करते हैं, वे बुनियादी बदलाव की अनिवार्यता की पहचान को संभव बनाने के लिए व्याख्या और विश्लेषण का सहारा लेते है। साहित्य को जीवन और समाज की केवल व्याख्या कहना अगर उसके महत्व को घटाना है तो उसे जीवन की केवल आलोचना कहना अपर्याप्त है। साहित्य सामाजिक जीवन की व्याख्या और आलोचना से आगे बढ़कर बुनियादी बदलाव का साधन बनकर ही मानव-मुक्ति के संघर्ष की व्यापक प्रक्रिया का अंग बन सकता है। साहित्य को बुनियादी बदलाव का साधन समझना उसके महत्व को घटाना नहीं, वास्तव में उसके महत्व को बढ़ाना और उसे अधिक गंभीरता से लेना है।

साहित्य मनुष्य की सामाजिक चेतना और सामाजिक चिंता की देन है, इसलिए उसमें मानव-जीवन की वास्तविकता और संभावना की अभिव्यक्ति होती है। वह यथार्थ और चेतना के सम्बन्ध-बोध का माध्यम ही नहीं, सामाजिक

चेतना के निर्माण और सामाजिक जीवन की रूपांतरणशीलता का साधन भी है। साहित्य की सामाजिकता और सामाजिक प्रयोजनशीलता को साहित्य की अभिजात्यवादी धारणा के समर्थक भी अब किसी न किसी रूप में स्वीकार करने लगे हैं लेकिन साहित्य की जनवादी धारणा के अन्तर्गत साहित्य की सामाजिकता और प्रयोजनीयता का मूलगामी अर्थ उसे बुनियादी बदलाव का साधन मानने में निहित है।

साहित्य की किसी बुनियादी समस्या पर विचार करते समय साहित्य, समाज और इतिहास-प्रक्रिया के सम्बन्धों पर ध्यान देना आवश्यक है। साहित्य के स्वरूप उद्देश्य और विकास का सामाजिक विकास से गहरा सम्बन्ध है। साहित्य मानव-समाज के विकास का परिणाम है और प्रमाण भी। वह मनुष्य की सामाजिक चेतना की उपज है और सामाजिक चेतना की उपजाने वाला भी। साहित्य में मनुष्य की ऐतिहासिक और मानवीयता दोनों की अभिव्यक्ति होती है, उसमें कभी कभी ऐतिहासिकता के विरुद्ध मानवीयता की पुष्टि, समर्थन और व्यंजना का प्रयत्न होता है। मनुष्य अपनी अस्तित्वात्मक आवश्यकताओं से ऊपर उठकर, अपनी मानवीयता के प्रति सजग होकर ही, अपने इन्द्रियबोध, भाव और चिंतन को साहित्य और कला में व्यक्त करता है। मनुष्य की चेतना उसके सामाजिक भौतिक अस्तित्व से निर्धारित होती है लेकिन मनुष्य की चेतना अपने परिवेश की सीमाओं और दबावों से मुक्ति के प्रयत्न में बार-बार साहित्य और कला का सहारा लेती है। लेकिन यह भी सच है कि वास्तविक मुक्ति सामाजिक भौतिक परिवेश के बुनियादी बदलाव पर निर्भर है, केवल चेतना की मुक्ति पर नहीं। साहित्य सारतः समाज-व्यवस्था के ऊपरी ढाँचे का एक अंग है और ऊपरी ढाँचे का चरित्र आधार के चरित्र से कमोवेश प्रभावित होता ही है। शासक वर्ग अपना प्रभुत्व बनाये रखने के लिए संस्कृति और साहित्य का एक साधन के रूप में उपयोग करता है लेकिन यह भी सच है कि साहित्य शोषक समाज व्यवस्था के विरुद्ध मुक्तिकामी वर्ग के वैचारिक संघर्ष का एक शक्तिशाली माध्यम और हथियार भी होता है। साहित्य की आंतरिक द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया की एक विशेषता यह है कि एक ओर वह सामाजिक यथार्थ, सामाजिक सम्बन्धों और समाज में सक्रिय भौतिक-वैचारिक शक्तियों की क्रियाशीलता का प्रतिबिम्बन करता है तो दूसरी ओर अपने प्रभावी रूप में सामाजिक परिवर्तन की प्रेरक शक्ति और चेतना का निर्माता भी होता है। यह साहित्य का प्रतिबिम्बात्मक और सृजनात्मक प्रवृत्तियों का द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध है।

समाज की विकास-प्रक्रिया और उस विकास-प्रक्रिया के अन्तर्गत सक्रिय भौतिक-वैचारिक शक्तियों के स्वरूप को समझने के लिए इतिहास को द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विकास प्रक्रिया की समझ आवश्यक है। किसी समाज के विकास के दौरान उस समाज-व्यवस्था का चरित्र एक ओर उसके भौतिक सामाजिक आधार और उस आधार को समर्थन प्रदान करने वाली समानधर्मी विचारधारा में व्यक्त होता है तो दूसरी ओर उस आधार और ऊपरी ढाँचे के विरुद्ध संघर्षशील भौतिक वैचारिक शक्तियों के सम्बन्ध से भी निर्धारित होता है। साहित्य का सम्बन्ध समाज और जीवन के यथार्थ से होता है और यथार्थ का चरित्र समाज-व्यवस्था के चरित्र से बनता है, इसलिए यथार्थ का स्वरूप समाज व्यवस्था के ऐतिहासिक स्वरूप से निर्धारित होता है। यही कारण है कि

कला और साहित्य में व्यक्त यथार्थ का एक अनिवार्य आयाम उसकी ऐतिहासिकता का होता है। इतिहास की विकास-प्रक्रिया में वर्ग-संघर्ष केन्द्रीय और निर्णायक कारण होता है। इस वर्ग-संघर्ष की अभिव्यक्ति विभिन्न विचारधारात्मक रूपों में होती है लेकिन जैसे समाज-व्यवस्था के आधार और ऊपरी ढांचे का सम्बन्ध सीधा सरल और एकपक्षीय नहीं होता। वैसे ही वर्ग-संघर्ष और विचारधारात्मक रूपों का सम्बन्ध भी सीधा, सरल और एक पक्षीय नहीं होता। ऐंगेल्स ने लिखा है कि विचारधारा इतिहास-प्रक्रिया की देन ही नहीं होती, वह इतिहास-प्रक्रिया को प्रभावित भी करती है, दोनों का सम्बन्ध कार्य-कारण जैसा नहीं होता उनमें परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया भी होती है। साहित्य को सारतः विचारधारात्मक रूपों के अन्तर्गत मानने का तात्पर्य है उसकी ऐतिहासिकता को स्वीकार करना और कला तथा साहित्य को विचारधारात्मक रूपों के अन्तर्गत न मानने का तात्पर्य है उसकी इतिहास सापेक्षता की उपेक्षा करके उसे इतिहास निरपेक्ष मानना। यह एक आश्चर्यजनक बात है कि कुछ मार्क्सवादी आलोचक मार्क्स की इस स्थापना को तो स्वीकार करते हैं कि कला और साहित्य का भौतिक-सामाजिक आधार होता है लेकिन वे मार्क्स के इस निष्कर्ष को अस्वीकार करते हैं कि कला और साहित्य सारतः विचारधारात्मक रूपों के अन्तर्गत आते हैं। वास्तव में ऐसी मौलिकता का एक कारण तो यह है कि वे विचारधारा को 'मिथ्या चेतना' ही समझते हैं 'वर्ग-चेतना' नहीं। दूसरे वे कला और साहित्य के वर्गगत स्वभाव के बदले उनके वर्गातीत स्वभाव को अधिक महत्व देते हैं।

दो

वर्ग-संघर्ष को इतिहास प्रक्रिया का केन्द्रीय कारण समझने, कला और साहित्य के वर्गगत स्वरूप को स्वीकारने और साहित्य को बुनियादी बदलाव तथा मानव-मुक्ति का साधन मानने के बाद ही साहित्य और सर्वहारा के सम्बन्ध पर विचार करने की सम्भावना बनती है। सर्वहारा वर्ग पूंजीवादी समाज-व्यवस्था की उपज है। पूंजीवादी व्यवस्था में बुर्जुआ वर्ग और सर्वहारा वर्ग का संघर्ष इतिहास-प्रक्रिया की अनिवार्यता है। इस अनिवार्यता को पहचानते हुए सिद्धान्त और व्यवहार की एकता कायम रखकर क्रियाशील होने से ही बुनियादी बदलाव सम्भव होता है। जो शोषण मुक्त समाज-व्यवस्था की स्थापना के लिए प्रतिबद्ध हैं वे सर्वहारा के पक्षधर इसलिये हैं कि पूंजीवादी समाज-व्यवस्थाओं में सर्वाधिक शोषित और सब कुछ हारा हुआ सर्वहारा वर्ग ही सर्वाधिक क्रांतिकारी वर्ग भी है, वह वर्ग चेतन है, वह मानव-मुक्ति के अपने ऐतिहासिक दायित्व के प्रति सजग है, इतिहास-प्रक्रिया में उसका ही भविष्य है, उसके भविष्य के हाथों में मानव-समाज का भविष्य सुरक्षित है और उसके भविष्य के साथ ही कला और साहित्य का भविष्य भी जुड़ा हुआ है। सर्वहारा वर्ग में बुनियादी बदलाव के लिए संघर्ष के नेतृत्व की क्षमता को समझना तथा उसे मजबूत बनाना ही बुनियादी बदलाव के लिए प्रतिबद्ध साहित्यकारों-कलाकारों का काम है।

बुनियादी बदलाव के लिए वस्तुगत परिस्थितियों के साथ-साथ आत्मगत तैयारी की भी जरूरत होती है। जो लोग केवल वस्तुगत परिस्थितियों के अभाव

का रोना रोते हैं और आत्मगत तैयारी की जाने-अनजाने उपेक्षा करते हैं वे या तो भ्रम में जीते हैं या बुनियादी बदलाव की प्रक्रिया को नहीं समझते या फिर भारी धोखेबाज हैं। केवल वस्तुगत परिस्थितियों पर बुनियादी बदलाव की सारी जिम्मेदारी डालकर किसी शुभ दिन का इन्तजार करने वाले यह भूल जाते हैं कि मार्क्स ने कहा है कि मनुष्य इतिहास की उपज है लेकिन मनुष्य अपना इतिहास स्वयं बनाता है। मानव और मानव-समाज का इतिहास वस्तुगत परिस्थिति और चेतना के द्वन्द्वात्मक विकासशील सम्बन्ध का इतिहास है। बुनियादी बदलाव की प्रक्रिया में साहित्य की भूमिका यह है कि साहित्य समाज को वस्तुगत परिस्थितियों, सामाजिक सम्बन्धों, जीवन के यथार्थ और चेतना के स्वरूप का प्रामाणिक यथार्थवादी चित्रण करके समाज-व्यवस्था और उनके अन्तर्गत मनुष्य की जीवन-दशा का वास्तविक रूप सामने लाकर जनता की जीवन की वास्तविकता का बोध करता है और दूसरी ओर क्रांतिकारी वर्ग और उसकी सहायक शक्तियों को पहचानते हुए क्रांतिकारी चेतना को मजबूत करने तथा संघर्ष को दिशा और दृष्टि देने का काम करता है।

बुनियादी बदलाव के प्रयत्न का केन्द्र तो राजनीतिक-आर्थिक संघर्ष ही होता है लेकिन शोषक सत्ता के सांस्कृतिक-वैचारिक प्रभुत्व को तोड़ने के लिए सांस्कृतिक-वैचारिक संघर्ष की आवश्यकता होती है। साहित्य इस सांस्कृतिक-वैचारिक संघर्ष का साधन बनकर ही बुनियादी बदलाव को मदद करता है। सर्वहारा वर्ग के संघर्ष के उद्देश्य से अपनी रचनाशीलता को जोड़कर रचना करने वाले साहित्यकार ही बुनियादी बदलाव के सहायक होते हैं। दुनिया भर के कला और साहित्य के इतिहास से यह सिद्ध होता है कि हर युग के महान रचनाकार अपनी रचना में पतनशील वर्ग की निर्मम आलोचना करते हैं और प्रगतिशील वर्ग से सहानुभूति व्यक्त करते हैं। यह वास्तव में अपने युग के सामाजिक जीवन के यथार्थ को सही समझ और उसको ईमानदार प्रामाणिक अभिव्यंजना के कारण सम्भव होता है। दूसरे शब्दों में हर युग का महान साहित्य वह होता है जिसमें अपने युग के सामाजिक-मानवीय यथार्थ के ऐतिहासिक स्वरूप की प्रामाणिक व्यंजना होती है, जिसमें समाज में संघर्षशील शक्तियों में से प्रगतिशील शक्तियों की पहचान होती है और जिसमें उस युग के समाज-व्यवस्था के अमानवीय चरित्र के विरुद्ध संघर्ष करने वाली जनता को आशा-निराशा, विजयपराजय, वास्तविकता और आकांक्षा के द्वन्द्व के रूप में उसकी मानवीयता प्रकट होती है।

वर्तमान में पूंजीवादी युग में बुर्जुआ और सर्वहारा वर्ग का संघर्ष और सर्वहारा की विजय-यात्रा मानव इतिहास की प्रक्रिया की अनिवार्यता है। जो साहित्यकार सर्वहारा की विजय में मानव-समाज का भविष्य देखते हैं, वे सर्वहारा की विचारधारा, उद्देश्य और संघर्ष से अपनी रचनाशीलता को जोड़ते हैं। आज के जमाने में यह कहना पर्याप्त नहीं है कि रचनाकार की विचारधारा चाहे जो हो, अगर उसे यथार्थ की सही पहचान है और वह अपनी कला में कुशल है तो वह महत्वपूर्ण रचनाकार हो सकता है। एक तो सही विश्वदृष्टि के अभाव में यथार्थ की सही पहचान कठिन है और दूसरे इतिहास प्रक्रिया और उसमें सर्वहारा की क्रांतिकारी भूमिका की समझ भी असम्भव है। पूंजीवाद के इस दौर में रचनाकार का केवल यथार्थवादी होना ही पर्याप्त नहीं है, उसका जनवादी होना भी जरूरी है।

लेकिन सर्वहारा की विचारधारा, संघर्ष और उद्देश्य के साथ तादात्म्य की

बात करना सरल है, उसे जीवन-व्यवहार में उतारना कठिन है। पूंजीवादी समाज-व्यवस्था अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिए जानबूझ कर सर्वहारा वर्ग के सांस्कृतिक उत्थान को दबाती है और उसके साहित्य कला का दमन करती है। पूंजीवादी व्यवस्था के क्रूर शोषण और अमानवीय चरित्र के कारण श्रमिक अपने श्रम, परिवार, समाज और अंततः अपने मानवीय स्वभाव से अलगाव की जिंदगी जीता हुआ विवशता, निरर्थकता अकेलापन और आत्म-परायापन का शिकार होता है। ऐसी स्थिति में जबकि वह अपनी जिन्दगी की अस्तित्वात्मक समस्याओं से ही जूझता रहता है, उसे अपने सांस्कृतिक विकास और रचनात्मक क्षमता के उपयोग का अवकाश और अवसर कहाँ मिल पाता है। यही कारण है कि आवश्यकता और सम्भावना के बावजूद सर्वहारा वर्ग से ऐसे रचनाकार उभर कर सामने नहीं आ पाते जो अपने वर्ग की विचारधारा, चेतना, उद्देश्य और संघर्ष की कलात्मक अभिव्यक्ति कर सकें। दूसरे वर्गों से आये हुए रचनाकार अपने वर्गगत संस्कारों विचारों और प्रवृत्तियों से प्रायः मुक्त नहीं हो पाते। भारत जैसे देश में, जहाँ पूंजीवाद के साथ-साथ सामंती समाज के अवशेष बचे हुए हैं, रचनाकार का भावात्मक-वैचारिक आत्म संघर्ष अधिक जटिल और कठिन हो जाता है। मध्य वर्ग या पेटी-बुर्जुआ वर्ग से आये हुए रचनाकारों को अपनी 'मिथ्या चेतना' से मुक्त होकर सर्वहारा की 'वर्ग-चेतना' को अपनाने के लिए कठोर आत्म-संघर्ष से गुजरना होगा। सर्वहारा के पक्षधर लेखकों के लिए संघर्ष का कोई विकल्प नहीं हो सकता, सुविधावादियों के लिए वहाँ कोई जगह नहीं है। सर्वहारा के पक्षधर रचनाकारों को अपने अतीत की मानसिकता से मुक्ति और कलात्मकता के मोह से बचने के लिए अपना ही दुश्मन बनना पड़ता है, आत्मालोचन और आत्म-संघर्ष से गुजरना पड़ता है। मध्यवर्ग से आये हुए रचनाकार जब सर्वहारा की वर्ग-चेतना को ठीक से अपना नहीं पाते हैं तो उनकी आकांक्षा और उपलब्धि के बीच अन्तराल आ जाता है और अंततः रचना और पाठक या साहित्यकार और जनता के बीच की खाई बनी रहती है। यह सच है कि लोकप्रिय सर्वहारा साहित्य सर्वहारा वर्ग के वर्ग चेतन रचनाकारों की रचनाशीलता से सम्भव होता है, लेकिन यह भी एक सच्चाई है कि बुनियादी बदलाव की अनिवार्यता को पहचानने वाले और सर्वहारा वर्ग के उद्देश्यों से गहरी सहानुभूति रखने वाले दूसरे वर्गों के रचनाकार भी सहयोगी शक्ति के रूप में काम करते हैं या कर सकते हैं। काडवेल के अनुसार सर्वहारा वर्ग के साथ बुर्जुआ वर्ग के रचनाकारों के सम्बन्ध के तीन रूप हो सकते हैं :—एक—विरोध, दो—सहयोग, और तीन—आत्मसात्करण। सर्वहारा का विरोध करने वाले प्रतिक्रियावादी होते हैं क्योंकि वे इतिहास प्रक्रिया में नये के बदले पुराने का समर्थन करते हैं। सर्वहारा वर्ग से सहयोग करने वाले कुछ लेखक सर्वहारा से महज बौद्धिक सहानुभूति रखते हैं, इसलिए ऐसे लोग सर्वहारा को एक अत्यन्त पीड़ित वर्ग के रूप में देखते हैं, उसे क्रांतिकारी वर्ग के रूप में नहीं देखते। जो लेखक अपने वर्गीय विचारों और उद्देश्यों से मुक्त होकर समाज और जीवन के प्रति सर्वहारा के दृष्टिकोण को आत्मसात करते हैं, वे सर्वहारा के विश्वसनीय रचनाकार बन पाते हैं। लेकिन ऐसे रचनाकार जब अपनी रचना में अन्तर्वस्तु और रूप के अन्तर्विरोध के शिकार होकर जनवादी अन्तर्वस्तु और बुर्जुआ कला-रूप की एकता स्थापित करने की कोशिश करते हैं तो वे सर्वहारा से दूर पड़

जाते हैं और इस तरह रचना में 'अभिप्राय और प्रभाव की एकता' खंडित होती है। साहित्य और कला के क्षेत्र में प्रगतिशीलता, जनवादिता और क्रांतिकारिता में अन्तर, वास्तव में साहित्य और सर्वहारा के सम्बन्ध के रूप पर निर्भर है। सच्चे सर्वहारा साहित्य और कला की संभावना समाजवादी समाज में ही हो सकती है क्योंकि वहाँ समाज व्यवस्था और सर्वहारा की चेतना में संघर्ष नहीं एकता होती है। पूँजीवादी समाज में, सर्वहारा साहित्य में बुर्जुआ व्यवस्था के विरुद्ध सर्वहारा वर्ग के संघर्ष की 'व्यंजना होती है, इसलिए पूँजीवादी समाज में सर्वहारा साहित्य प्रायः विरोध का साहित्य बन जाता है। लेकिन सर्वहारा साहित्य केवल विरोध का साहित्य या आन्दोलनकारी साहित्य नहीं होता क्योंकि उसमें सामाजिक सम्बन्धों की जटिल समग्रता की व्यंजना होती है, पूँजीवादी सामाजिक सम्बन्धों में खोई हुई मानवीयता की खोज होती है और उसमें बुर्जुआ साहित्य तथा कला से बेहतर साहित्य और कला के निर्माण का प्रयत्न भी होता है। यह याद रखना होगा कि केवल मार्क्सवादी शब्दावली और मुहावरों के उपयोग से कोई रचना जनवादी नहीं बन जाती, उसका वास्तविक महत्व उसमें चित्रित सामाजिक यथार्थ और सामासिक सम्बन्धों की एकाग्रता की प्रामाणिकता पर निर्भर होता है। शब्द कर्म से बचाव का नहीं, लगाव का साधन है। भाषा कर्म और चिंतन के बीच मध्यस्थता करके ही सार्थक होती है।

किसी रचनाकार की चिन्ता का मुख्य विषय जीवन का यथार्थ है और जीवन का यह यथार्थ बहुआयामी होता है। रचनाकार सामाजिक यथार्थ और सामाजिक सम्बन्धों की समग्रता का चित्रण करते समय मानव-सम्बन्ध के वैयक्तिक, सामाजिक और मानवीय पक्षों का उद्घाटन करता है, वह मनुष्य की वैयक्तिक, सामाजिक और मानवीय संवेदनशीलता, को व्यंजना करता है। रचना में जीवन-जगत के यथार्थ के प्रति रचनाकार की संवेदनशीलता, जिसमें इंद्रियबोध, भावबोध और चिंतन का योग होता है, व्यक्त होती है। यह संवेदनशीलता रचना-प्रक्रिया के दौरान विशेष से सामान्य में बदलती है और पुनः रचना में विशेष के माध्यम से उसका सामान्यीकरण होता है। रचनाकार विशेष व्यक्तियों, घटनाओं और वस्तुस्थितियों के माध्यम से जो जीवनानुभव प्राप्त करता है, उसका वह सामान्यीकरण करता है, फिर अभिव्यक्ति के दौरान वह विशेष व्यक्तियों, घटनाओं और वस्तुस्थितियों के माध्यम से व्यक्त करता है। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि रचना में अभिव्यंजित व्यक्तियों, घटनाओं और वस्तुस्थितियों में विशिष्टता और सामान्यता या वैयक्तिकता और प्रतिनिधिकता का संश्लेष होता है। रचना के रूप में पाठक जब लेखक के जीवनानुभव का पुनः अनुभव करता है तो उस अनुभव का एक बार फिर सामान्यीकरण या साधारणीकरण होता है। रचनाकार रचना-प्रक्रिया में व्यक्ति को वैयक्तिकता के साथ-साथ उसकी सामाजिकता की भी व्यंजना करता है, लेकिन वैयक्तिक संवेदन के निजीपन और सामाजिक संवेदन की समकालीनता तथा ऐतिहासिकता तक ही वह सीमित नहीं रहता, बल्कि वह मानव-संवेदन, के मानवीय पक्ष का भी उद्घाटन करता है जिसके कारण रचना ऐतिहासिकता की सीमा के परे भी प्रभावकारी सिद्ध होती है। साहित्य में मनुष्य को ऐतिहासिकता और मानवीयता का द्वन्द्व वास्तव में उसके अस्तित्व और सत्व का द्वन्द्व है। मनुष्य अपने अस्तित्व को सीमाओं से मुक्त होकर अपनी मानवीयता की रक्षा,

अभिव्यक्ति और सप्रेषण की कोशिश करता है। मार्क्स ने जिसे 'समग्र मनुष्य का वोध' और 'मानवीय यथार्थ का अविर्भाव' कहा है, वही साहित्य में मनुष्य की वैयक्तिकता और सामाजिक ऐतिहासिकता के अतिरिक्त उसकी मानवीयता को अभिव्यंजना में प्रकट होता है। पूंजीवादी समाज-व्यवस्था में मनुष्य की यह मानवीयता नष्ट हो जाती है, यहाँ लगभग सब कुछ अमानवीकरण की प्रक्रिया का शिकार हो जाता है, पूंजीवादी समाज-व्यवस्था और उसके साथ-साथ व्यक्तिगत सम्पत्ति के जन्म के वाद ही मनुष्य को मनुष्यता पुनः प्रतिष्ठित होती है। साहित्य पूंजीवादी व्यवस्था के अमानवीकरण की प्रक्रिया के विरुद्ध संघर्ष का साधन भी होता है। यहाँ यह भी कहना जरूरी है कि किसी समाज को वास्तविकता और उसमें मौजूद मानव सम्बन्धों के चित्रण में मानव सम्बन्धों की वैयक्तिकता, सामाजिकता और मानवीयता के अभाव का चित्रण उतना ही महत्वपूर्ण है जितना अविर्भाव का वशर्ते कि उस चित्रण में सच्चाई, व्यापकता, गहराई और ईमानदारी हो। 'जो है' उसके आधार पर 'जो कुछ' हो सकता है उसकी संभावना व्यक्त करना एक सृजनशील रचनाकार का काम है लेकिन 'जो कुछ' नहीं है उसके आधार पर 'सव कुछ' की कल्पना कर लेना किसी कल्पनाविलासी स्वप्नजीवी का काम हो सकता हे।

साहित्य में सामाजिक यथार्थ और सामाजिक सम्बन्धों की समग्रता, जनता के सामाजिक संघर्ष और इतिहास-प्रक्रिया की दिशा का चित्रण करके रचनाकार जनता का यथार्थ वोध विकसित करता है जिससे जनता की चेतना तीव्र और जागरित होती है। चेतना के जागरण का अर्थ है अपनी सामाजिकता और मानवीयता का वोध और जाग्रत सामाजिक चेतना ही अग्रगामी परिवर्तनकारी चेतना वनती है। लेकिन इसके लिए यह आवश्यक है कि रचनाकार की विश्वदृष्टि और पाठक की विश्वदृष्टि में साझेदारी की संभावना हो, क्योंकि विश्वदृष्टि से ही यथार्थ वोध अनुशासित होता है। जहाँ रचनाकार और पाठक को विश्वदृष्टि में सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध का अभाव होगा, वहाँ रचना में व्यक्त यथार्थ का पाठकीय वोध मुश्किल हो जायेगा। रचनाकार और पाठक को विश्वदृष्टि में एकता के अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि रचनाकार की कलात्मक चेतना और सामाजिक चेतना में एकता हो। सामाजिक चेतना के ऐतिहासिक आयाम का वोध हो वर्ग चेतना का वोध है। रचनाकार की रचनाशीलता सामाजिक चेतना के ऐतिहासिक आयाम के वोध तक ही समाप्त नहीं होती वल्कि वह इतिहास की प्रक्रिया और दिशा का वोध प्राप्त कर ऐतिहासिक दृष्टि से प्रगतिशील वर्ग की उस चेतना के स्वरूप की पहचान भी करती है जिसे जार्ज लूकाच ने 'सम्भावित चेतना' कहा है। यह 'सम्भावित चेतना' उस वर्ग की चेतना होती है जिसका वर्ग-संघर्ष में भविष्य होता है। निश्चय ही पूंजीवादी समाज-व्यवस्था में चलने वाले वर्ग-संघर्ष में ऐसी 'सम्भावित चेतना' सर्वहारा वर्ग को चेतना होती हैं क्योंकि उसी का भविष्य होता है। पूंजीवादी समाज में वही रचना महान होगी जिसमें इस 'संभावित चेतना' की भी पहचान हो। सच्चा सर्वहारा साहित्य व्यक्ति को वैयक्तिक चेतना की संकुचित सीमा से मुक्त कर उसकी सामाजिक चेतना को जगाता है और मानवीय चेतना को अधिक व्यापक और गहन वनाता है।

पूंजीवादी समाज में सर्वहारा वर्ग की स्थिति और उसके वर्ग संघर्ष के उद्देश्य के सन्दर्भ में साहित्य की सहायक और उपयोगी भूमिका पर विचार करते हुए

यह कहा जा सकता है कि सर्वहारा के पक्षधर साहित्य का उद्देश्य है—(१) पतनशील बुर्जुआ जीवन-पद्धति और मरणोन्मुख बुर्जुआ संस्कृति की वास्तविकता की छानबीन करना और उसकी कमजोरियों का चित्रण करना, (२) समाज के सम्पूर्ण जीवन के साथ बुर्जुआ जीवन पद्धति की असंगति और समाज के भावी विकास में बुर्जुआ समाज-व्यवस्था और जीवन पद्धति के बाधक स्वरूप का उद्-घाटन करना, (३) बुर्जुआ वर्ग के संस्कृतिक और राजनीतिक प्रभुत्व के टूटने की प्रक्रिया और तोड़ने के तरीकों का वर्णन करना, (४) सामाजिक सम्बन्धों की समग्रता के बीच सर्वहारा के जीवन-संघर्ष का चित्रण करना, (५) सर्वहारा-दृष्टिकोण के अनुरूप एक अधिक मानवीय संसार की रचना की कोशिश करना, (६) सामाजिक जीवन के यथार्थ का चित्रण करते समय वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया और रूप को समझना तथा वर्ग संघर्ष के प्रत्येक रूप के राजनैतिक प्रयोजन को पहचानना क्योंकि "प्रत्येक वर्ग संघर्ष राजनैतिक संघर्ष होता है", (७) सर्वहारा के सामाजिक संघर्ष का चित्रण करते हुए सर्वहारा वर्ग की एकता को मजबूत करने और उसे आगे बढ़ाने की कोशिश करना, (८) सर्वहारा की 'मिथ्या चेतना' से मुक्त करने और उसको वर्ग चेतना और मानवीय चेतना को विकसित करने का प्रयत्न करना और (९) सर्वहारा को इतिहास प्रक्रिया की दिशा और गति का बोध कराते हुए उसके ऐतिहासिक दायित्व का बोध जगाना।

सर्वहारा साहित्य के स्वरूप पर विचार करते समय साहित्य की लोकप्रियता और कलात्मक श्रेष्ठता का आपसी सम्बन्ध भी विचारणीय है। प्रायः लोकप्रियता और कलात्मक श्रेष्ठता को परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के रूप में उपस्थित किया जाता है। लोकप्रियता को समकालीनता से जोड़ा जाता है और कलात्मक श्रेष्ठता को कालातीतता से। कभी कलात्मक श्रेष्ठता को लोकप्रियता का आधार माना जाता था, लेकिन अब पूँजीवादी व्यवस्था की व्यक्तिवादिता के कारण कलात्मक श्रेष्ठता और लोकप्रियता का पार्थक्य स्थापित हो गया है। कुछ व्यक्तिवादी रचनाकार आत्माभिव्यक्ति को ही पर्याप्त समझते हैं, वे सम्प्रेषण को आवश्यक मानते हैं। कुछ अन्य लेखकों के अनुसार अभिव्यक्ति के लिए अब कुछ भी शेष नहीं है। कुछ ऐसे भी रचनाकार है जो सम्प्रेषण को असम्भव मानते हैं। जाहिर है रचना सम्बन्धी ऐसे दृष्टिकोण के वातावरण में लोकप्रियता के लिए कोई जगह नहीं हो सकती। लोकप्रियता का प्रश्न वहीं पैदा होता है जहाँ सम्प्रेषण की आवश्यकता और संभावना में आस्था हो। कोई भी जनवादी रचनाकार सम्प्रेषण की आवश्यकता और लोकप्रियता की कामना से मुँह नहीं मोड़ सकता। कलात्मक श्रेष्ठता और लोकप्रियता के बीच की दूरी किसी जनवादी रचनाकार की मजबूरी हो सकती है, उसकी उपलब्धि कदापित नहीं। लेकिन पूँजीवादी समाज में लोकप्रियता न तो कलात्मक श्रेष्ठता पर निर्भर होती है और न वह कला की सहज विशेषता रह जाती है। यहाँ लोप्रियता पूँजीवादी व्यवस्था के नियमों का शिकार होती है। पूँजीवादी व्यवस्था में हर चीज का व्यापारीकरण होता है, हर चीज खरीद-बिक्री की वस्तु बन जाती है व्यापारीकरण की इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप सस्ता बाजारू साहित्य लोकप्रिय हो जाता है और कला-त्मक श्रेष्ठता की उपेक्षा होती है। पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में अगर सस्ता बाजारू साहित्य लोकप्रिय हो जाता है तो उसके अनेक कारण है। पहला कारण तो विज्ञापन की कला और कला का विज्ञापन ही है, जो व्यापारीकरण की

प्रक्रिया का अंग है। दूसरा कारण यह है कि पूंजीवादी व्यवस्था लोकप्रियता को अपनी चालाकी और चालबाजी से घटाने-बढ़ाने की साजिश करती है। जनवादी रचनाओं के दमन और बुर्जुआ व्यवस्था के हितों की सुरक्षा करने वाली रचनाओं को लोकप्रिय बनाने के लिए तरह-तरह के साधनों का उपयोग होता है। बाजारू साहित्य की लोकप्रियता का तीसरा कारण यह है कि मानव-व्यक्तित्व के भावात्मक और वैचारिक अंश से गहरे स्तर से जुड़ा हुआ साहित्य उतना लोकप्रिय नहीं होता जितना सनसनी खेज, वासना उत्तेजक साहित्य। प्रेमचन्द के शब्दों में कहें तो 'सुलाने वाला साहित्य' 'जगाने वाले साहित्य' से अधिक लोकप्रिय हो जाता है क्योंकि वह बाजार की प्रकृति के अनुकूल होता है। बुर्जुआ व्यवस्था की विचारधारा के शिकार लोग चेतना को झकझोरने वाले, बेचैन करने वाले साहित्य के बदले मनोरंजक साहित्य को अधिक पसन्द करते हैं। जनवादी साहित्य की अलोकप्रियता का कारण केवल उसके खिलाफ षड्यंत्र ही नहीं है, जनता की अशिक्षा और कला चेतना का पिछड़ापन भी है, जो पूंजीवादी व्यवस्था का ही फल हैं। श्रेष्ठ कलात्मक जनवादी साहित्य को लोकप्रिय बनाने के लिए यह आवश्यक है कि पूंजीवादी समाज-व्यवस्था का अन्त हो और समाजवादी समाज की स्थापना हो जिसमें जनवादी संस्कृति और कला के विकास और लोकप्रियता की सम्भावना उत्पन्न हो। लेनिन ने टॉल्सटॉय की महान रचनाओं की रूसी जनता में अलोकप्रियता पर विचार करते हुए कहा था कि टॉल्सटॉय की रचनाओं को लोकप्रिय बनाने के लिए संघर्ष करने और पूंजीवादी समाज व्यवस्था की जगह समाजवादी समाज की स्थापना की जरूरत है। यह एक विचित्र बात है कि हिन्दी के कुछ मार्क्सवादी आलोचक मुक्तिबोध जैसे रचनाकार की रचनाओं को लोकप्रिय बनाने के लिए बुर्जुआ व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष करने के बदले मुक्तिबोध की लोकप्रियता के खिलाफ संघर्ष करना अपना कर्तव्य समझते हैं। विचार करने की बात यह भी है कि 'जनता में लोकप्रिय साहित्य' की मांग करते समय 'जनता' और 'लोकप्रिय' का तात्पर्य क्या है? क्या 'जनता' से हमारा तात्पर्य शोषित किन्तु वर्ग चेतनाहीन अशिक्षित जनता से है और 'लोकप्रिय' का तात्पर्य सरल, सुबोध और सपाट साहित्य से? जी नहीं। 'जनता' से हमारा तात्पर्य वर्ग चेतन संघर्षशील जनता से है और 'लोकप्रिय' वह है जिसमें बोधगम्यता और कलात्मकता की एकता हो। ब्रेख्त ने जनता में लोकप्रिय साहित्य के स्वरूप पर विचार करते हुए लिखा है कि जनता से हमारा तात्पर्य ऐसी जनता से है जो इतिहास-प्रक्रिया में निर्णायक भूमिका निभा रही हो, जो इतिहास का निर्माण कर रही हो और दुनिया को बदलने के साथ-साथ अपने को भी बदल रही हो। ब्रेख्त ने जुझारू जनता के सन्दर्भ में लोकप्रियता की जुझारू धारणा पर विचार करते हुए लिखा है—"लोकप्रिय वह साहित्य या कला है जो व्यापक जनता के लिए बोधगम्य हो, जिसमें जनता के अभिव्यंजना-रूपों को अपनाया और समृद्ध बनाया गया हो, जिसमें जनता के दृष्टिकोण के स्वीकार, समर्थन और सुधार का प्रयत्न हो, जिसमें जनता के सर्वाधिक प्रगतिशील वर्ग का ऐसा चित्रण हो जिससे उसकी नेतृत्व की क्षमता प्रकट हो और इस प्रकार वह (रचना) दूसरे वर्गों के लिए भी बोधगम्य हो सके, जिसमें परम्परा से सम्बद्धता हो और विकास का प्रयत्न भी, और जिसमें नेतृत्व करने वाले वर्ग की उपलब्धियों को नेतृत्व के लिए संघर्ष करने वाले वर्ग को

जानकारी दी गई हो।"

लेनिन के अनुसार लोकप्रिय लेखन वह है जिसमें विचारों की गहराई हो, जो पाठक की चिंतन शक्ति को गति दे, और जो पाठक के मन में नये प्रश्न पैदा करने में सक्षम हो। सारांश यह कि लोकप्रिय लेखक अपने पाठकों को बेवकूफ नहीं समझता। ब्रेख्त और लेनिन के विचारों के प्रकाश में यह कहा जा सकता है कि लोकप्रियता कलाहीन नहीं होती। लोकप्रिय यथार्थवादी जनवादी रचना में क्रांतिकारी अन्तर्वस्तु और लोकप्रिय रूप की एकता होती है, उसमें अभिप्राय और प्रभाव की एकता होती है। कलात्मक श्रेष्ठता, ग्राम्शी के शब्दों में, केवल 'अन्तर्वस्तु के सौन्दर्य' या 'रूप के सौन्दर्य' में नहीं होती, वह वस्तु और रूप की सामंजस्यपूर्ण एकता में प्रकट होती है।

सर्वहारा साहित्य के सन्दर्भ में कलात्मक श्रेष्ठता और लोकप्रियता के सम्बन्ध पर विचार करते समय या दोनों की एकता का व्यवहार करते समय दो अतिवादी दृष्टिकोणों से बचाव आवश्यक है। लोकप्रियता की उपेक्षा करके कलात्मक श्रेष्ठता को अधिक महत्व देने से कलावादी आग्रहों और सौन्दर्यवादी रुझानों के शिकार होने का खतरा है, जिससे रचना दुर्बोध होने के कारण जनता से अलग-थलग पड़ जाती है। फलतः जनवादी रचना के प्रयोजन की पराजय की सम्भावना उत्पन्न होती है। दूसरी ओर कलात्मकता की उपेक्षा करके केवल लोकप्रियता को महत्व देने से कलात्मकता का ह्रास होता है और जनता की कला-चेतना का विकास नहीं हो सकता। सुबोध के नाम पर ऐसे सस्ते, सरल और सपाट साहित्य की बाढ़ आती है जिसमें सामाजिक यथार्थ और सामाजिक सम्बंधों को जटिलता का चित्रण सम्भव नहीं होता, इसलिए ऐसे साहित्य का प्रभाव भी क्षणिक होता है। इस सन्दर्भ में यह स्मरणीय है कि मानव सभ्यता के विकास के इतिहास में सर्वहारा साहित्य और कला को बुर्जुआ साहित्य और कला की तुलना में विकास की उच्चतर अवस्था का प्रमाण देना है, अधिक समृद्ध कला, कला-संवेदना और सौन्दर्यबोध का विकास करना है।

सर्वहारा और साहित्य के सम्बन्ध पर विचार करते समय यह एक सवाल समाने आता है कि क्या 'सर्वहारा कला' या 'सर्वहारा साहित्य' जैसी कोई धारणा मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर्गत बनायी जा सकती है? इस सवाल का दूसरा रूप यह है कि 'जनवादी कला' या 'जनवादी साहित्य' की धारणा और 'सर्वहारा कला या साहित्य' में क्या सम्बन्ध है? हिन्दी में 'जनता का साहित्य', 'आम आदमी का साहित्य' और 'दलित साहित्य' को बहस का विषय बनाया गया है, लेकिन 'सर्वहारा कला या साहित्य' की धारणा पर पर्याप्त विचार नहीं हुआ है।

मानव-समाज के इतिहास से यह सिद्ध सत्य सामने आता है कि वर्गों में विभाजित समाज-व्यवस्था में एक वर्ग शोषकों का और दूसरा शोषितों का होता है। शासक वर्ग ही शोषक वर्ग है और शोषित वर्ग 'जनता' है। इस प्रकार 'जनता' की धारणा में हर युग की शोषित जनता आ जाती है। सामंती समाज में शोषित जनता के अन्तर्गत किसान और दूसरे शोषित वर्ग आते हैं। पूंजीवादी समाज-व्यवस्था में शोषित जनता के अन्तर्गत सर्वहारा और दूसरे शोषित वर्ग सम्मिलित होते हैं। सामंती समाज में किसान और दूसरे शोषित वर्गों में अन्तर शोषण की मात्रा में अन्तर के कारण नहीं, शोषण के रूप में अन्तर के कारण होता

है। पूंजीवादी समाज में सर्वहारा सर्वाधिक शोषित और सब कुछ हारा हुआ वर्ग होता है। जैसे सामंती समाज के क्रूर शोषण और दमन के खिलाफ जनता के संघर्ष का प्रतिनिधित्व किसान वर्ग करता है वैसे ही पूंजीवादी समाज में शोषण और दमन के खिलाफ जनता के संघर्ष का नेतृत्व सर्वहारा वर्ग करता है। जनता के संघर्ष का नेतृत्व करने वाला वर्ग अपने मित्र वर्गों से पृथक् नहीं होता। पूंजीवादी समाज-व्यवस्था से सर्वहारा वर्ग की मुक्ति वास्तव में सम्पूर्ण समाज की मुक्ति है इसलिए सर्वहारा का मुक्ति-संघर्ष सारे समाज का मुक्ति-संघर्ष होता है। यह मुक्ति-संघर्ष सर्वहारा के नेतृत्व और उसकी वर्ग-चेतना की व्यापक जनता में स्वीकृति से सफल होता है, इसलिए सर्वहारा के उद्देश्य से शेष शोषित वर्गों का उद्देश्य भिन्न नहीं होता। पूंजीवादी समाज में सर्वहारा एक मूर्त ऐतिहासिक धारणा है जबकि 'जनता' की धारणा में व्यापकता के बावजूद अमूर्तता की संभावना रहती है। हिन्दी साहित्य में हाल के कुछ वर्षों में 'आम आदमी' या 'आम जनता' की जो चर्चा हुई है, उसमें जनता की धारणा में निहित अमूर्तता का लाभ उठाकर ही प्रगति-विरोधी लोगों ने 'आम आदमी' या 'आम जनता' को अमूर्त, अपरिभाषित और अज्ञेय तक कहा है। सर्वहारा की धारणा में इस प्रकार के भ्रम फैलाने की कोई संभावना नहीं है। दूसरी बात यह है कि चूंकि सर्वहारा वर्ग ही पूंजीवाद के विरुद्ध संघर्ष का नेतृत्व करने वाला वर्ग है, वह अपने ऐतिहासिक दायित्व के प्रति सजग होता है और वही क्रांतिकारी वर्ग है इसलिए सर्वहारा कला और सर्वहारा साहित्य या सर्वहारा संस्कृति की धारणा वर्तमान की आवश्यकता ही नहीं भविष्य की संभावना की ओर भी संकेत करती है। 'जनता' कहने से कभी-कभी वर्ग चेतना-विहीन पूर्णतः आत्म-निर्वासित, मिथ्या चेतना का शिकार और निष्क्रिय भीड़ का बोध होता है, लेकिन सर्वहारा की धारणा में उस भ्रांति की सम्भावना समाप्त हो जाती है।

'सर्वहारा कला' या सर्वहारा साहित्य' के संदर्भ में कुछ ज्ञानी मार्क्सवादी यह आपत्ति उठाते हैं कि 'मार्क्स की रचनाओं में सर्वहारा कला की आवश्यकता और संभावना का कोई उल्लेख नहीं है।' इस आपत्ति के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि मार्क्स और एंगेल्स ने अपनी रचनाओं में कला के वर्गगत स्वरूप, कलाकृतियों में वर्गगत मूल्यों की स्थिति और कला की विचारधारात्मक रूप का विवेचन किया है। मार्क्स ने एक वर्ग के राजनीतिक और साहित्यिक प्रतिनिधियों के उस वर्ग के साथ सम्बन्ध का विश्लेषण किया है। मार्क्स ने शेली के बारे में कहा था कि वह पक्का क्रांतिकारी था और अगर जीवित रहता तो समाजवादी हरावल (सर्वहारा) का साथ देता। एंगेल्स ने सर्वहारा युग के आगमन का संकेत देने वाले दांते की आकांक्षा व्यक्त की है, उन्होंने इंगलैण्ड के सर्वहारा वर्ग और साहित्य के सम्बन्ध पर विचार किया है। क्या इन प्रमाणों के आधार पर यह कहना उचित नहीं है कि मार्क्स और एंगेल्स ने 'सर्वहारा कला' और 'सर्वहारा साहित्य' की 'आवश्यकता और सम्भावना' पर विचार किया है? इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि लेनिन ने सर्वहारा संस्कृति की चर्चा की है। उन्होंने वर्गीय पक्षधरता के विरोधी साहित्यिक अतिमानवों की आलोचना करते हुए कहा है कि साहित्य को निश्चित रूप से सर्वहारा के सामान्य उद्देश्य का अंग बनाना चाहिए। वर्ग-संघर्ष और उसकी अनिवार्य परिणति 'सर्वहारा के अधिनायकत्व' को स्वीकार करने वाले सर्वहारा संस्कृति और सर्वहारा कला की 'आवश्यकता और

सम्भावना' को अस्वीकार नहीं कर सकते।

इसी प्रसंग में कुछ दूरदर्शी मार्क्सवादी यह आशंका भी व्यक्त करते हैं कि चूँकि वर्ग-संघर्ष का उद्देश्य अंततः वर्ग विहीन समाज की स्थापना है, इसलिए वर्ग-विहीन समाज में सर्वहारा कला की क्या स्थिति होगी ? या सर्वहारा कला की धारणा की क्या सार्थकता रहेगी ? इस प्रकार की आशंका व्यक्त करने वाले सर्वहारा साहित्य या कला के केवल आन्दोलनकारी रूप को महत्व देते हैं और उसकी सम-सामयिकता पर ही विचार करते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि सर्वहारा साहित्य का एक ऐतिहासिक पहलू होता है तो दूसरा मानवीय पहलू भी होता है, इसलिए वर्गविहीन समाज में भी क्रांतिकालीन सर्वहारा कला या साहित्य की सार्थकता और महत्ता समाप्त नहीं हो जाती। सामाजिक यथार्थ और मानवीय सम्बन्धों की जटिल समग्रता के चित्रण में ऐतिहासिकता के साथ-साथ मानवीयता की व्यंजना के कारण ही हर युग का महान साहित्य युगीन और युगातीत दोनों होता है। इस संदर्भ में यह भी कहना जरूरी है कि सच्चे लोकप्रिय सर्वहारा कला की सम्भावना वर्गविहीन समाज में ही होगी क्योंकि उसमें सर्वहारा चेतना और मानवीय चेतना का पार्थक्य समाप्त हो जायेगा।

सर्वहारा कला और सर्वहारा साहित्य के संदर्भ में यह सवाल भी विचारणीय है कि क्या बुनियादी बदलाव के दौर में रचित सर्वहारा साहित्य में सर्वहारा के अतिरिक्त दूसरे शोषित वर्गों का समावेश नहीं होगा ? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि बुनियादी बदलाव के लिए संघर्ष में सर्वहारा के सभी सहयोगी वर्गों का समावेश होना चाहिए क्योंकि एकतो बुनियादी बदलाव केवल सर्वहारा वर्ग की आवश्यकता नहीं है, दूसरे बुनियादी बदलाव की प्रक्रिया में सम्पूर्ण शोषित जनता शामिल होती है। सर्वहारा साहित्य में सर्वहारा के दृष्टिकोण से सामाजिक सम्बन्धों की समग्रता का चित्रण होता है, इसलिए सर्व-हारा के मित्र वर्गों की उपेक्षा नहीं हो सकती। जिन देशों में पूंजीवाद के साथ-साथ सामंती समाज के अवशेष भी कायम हैं, उन देशों में बुनियादी बदलाव में मजदूर और किसान वर्ग की समान महत्वपूर्ण भूमिका होगी और बुनियादी बद-लाव से सहानुभूति रखने वाले मध्यवर्ग और पेटी-बुर्जुआ वर्ग को भी सर्वहारा साहित्य में स्थान मिलेगा। वास्तव में अब तक का सारा साहित्य अल्पमत का साहित्य रहा है, लेकिन सर्वहारा साहित्य सच्चे अर्थों में बहुमत का साहित्य होता है क्योंकि इसमें सभी शोषित वर्गों के जीवन-संघर्ष और चेतना की व्यंजना होती है। अगर किसी साहित्य में सभी शोषित वर्गों का समावेश होता है, लेकिन उसमें सर्वहारा के क्रांतिकारी रूप और भूमिका की व्यंजना होती है, तो ऐसे साहित्य को जनवादी या सर्वहारा साहित्य कहने से कोई खास फर्क नहीं पड़ता।

सर्वहारा और साहित्य के सम्बन्ध पर विचार करते समय अंत में श्रम और कला तथा कलाकार के श्रमिक रूप और श्रमिक के कलाकार रूप के सम्बन्ध पर विचार करना आवश्यक है। श्रम के माध्यम से मनुष्य की सामाजिकता ही नहीं उसकी मानवीयता का भी विकास होता है। श्रम की प्रक्रिया में, मार्क्स के शब्दों में, मानवीय इंद्रियों और इंद्रियों की मानवीयता (अर्थात् इंद्रियबोध) का विकास और निर्माण होता है। इस प्रक्रिया में ही मनुष्य प्रकृति को मानवीय बनाता है। श्रम की प्रक्रिया में मनुष्य अपने अस्तित्व और चेतना को वस्तु के रूप में बदलता है और मानवीय अस्तित्व और चेतना के विषयीकरण की इस प्रक्रिया में ही

सौन्दर्यानुभूति का भी विकास होता है, क्योंकि मनुष्य श्रम के सहारे जो कुछ पैदा करता है उसे वह केवल अपने अस्तित्व की आवश्यकताओं के लिए ही पैदा नहीं करता बल्कि, मार्क्स के शब्दों में, "सौन्दर्य के नियमों के अनुसार भी पैदा करता है।" इस प्रकार मनुष्य द्वारा उत्पादित वस्तुओं का केवल उपयोगितावादी मूल्य ही नहीं होता, उनका सौन्दर्यबोधी मूल्य भी होता है। श्रम और कला दोनों के स्वाभाविक विकास के लिए स्वतंत्रता और सृजनशीलता की आवश्यकता होती है, इन दोनों के माध्यम से ही मनुष्य अपने अस्तित्व और सत्व की व्यंजना का प्रयत्न करता है, ये दोनों ही स्वतंत्र और रचनात्मक मानवीय क्रियाएँ हैं। कला-रचना एक विशिष्ट प्रकार का श्रम है जिसमें मनुष्य अपने अस्तित्व से अधिक सत्व को महत्व देता है। स्वतंत्रता और सृजनशीलता ऐसी मानवीय विशेषताएँ हैं जिनके अभाव में श्रम और कला की स्वाभाविकता और मानवीयता नष्ट हो जाती है। लेकिन पूंजीवादी समाज इन दोनों का दुश्मन है। इसीलिये मार्क्स ने कहा था कि पूंजीवाद कला का दुश्मन है। पूंजीवादी समाज में हर चीज—चाहे वह कलाकृति हो या श्रम से उत्पन्न कोई दूसरी चीज—व्यापार की वस्तु बन जाती है, उसका विनिमय मूल्य शेष सभी प्रकार के मूल्यों से अधिक महत्वपूर्ण होता है। पूंजीवादी समाज में श्रम का कलात्मक रूप नष्ट हो जाता है, श्रमिक की स्वतंत्रता और रचनाशीलता समाप्त हो जाती है और कलाकार मजदूरी पर जीवन गुजारने वाला मजदूर बन जाता है। पूंजीवादी व्यवस्था में श्रमिक जिस अलगाव की प्रक्रिया से गुजरता है, उसका कलाकार भी शिकार होता है। इस प्रकार दोनों ही अपने अस्तित्व के लिए अपने सत्व को खो देने को मजबूर होते हैं। मार्क्स ने लिखा है कि "निश्चय ही लेखक को जीने के लिए जीविका की जरूरत होती है लेकिन वह केवल अपनी जीविका के लिए जीना और लिखना नहीं चाहता। लेखक अपनी रचना को कभी भी साधन (जीविका का साधन) नहीं समझता। अगर आवश्यक हो तो वह अपनी रचनाओं के अस्तित्व के लिए अपने अस्तित्व का बलिदान कर देता है।" पूंजीवादी समाज में जीनेवाले, अपनी रचनाओं में पूंजीवादी समाज की अमानवीयता की व्यंजना करने वाले और पूंजीवादी समाज के बाजारूपन से अपने सत्व की रक्षा करने वाले दुनिया भर के अनेक जनवादी रचनाकारों ने अपनी रचना के अस्तित्व के लिए अपने-अपने अस्तित्व का बलिदान किया है। हिन्दी साहित्य में 'निराला' और 'मुक्तिबोध' इस प्रकार के जानलेवा संघर्ष और आत्मबलिदान के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

पूंजीवादी समाज और कला के परस्पर विरोधी सम्बन्ध को ध्यान में रखकर अगर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि पूंजीवादी व्यवस्था और कलाकार के बीच लगभग छः प्रकार के सम्बन्धों की सम्भावना है—ऐसे सम्बन्धों का पहला रूप वह है जिसमें कलाकार पूंजीवादी सत्ता, संस्कृति और विचारधारा के प्रति आत्मसमर्पण करता है या ग्राम्शी के शब्दों में पूंजीवादी व्यवस्था का 'आवयविक बुद्धिजीवी' बनकर उसके विचारों, हितों और उद्देश्यों का समर्थन, संचालन और संगठन करता है। इसे ही मुक्तिबोध ने 'रावण के घर पानी भरना' कहा है। सम्बन्ध का दूसरा रूप वह है जिसमें लेखक पूंजीवादी व्यवस्था की विकृतियों से ऊबकर आध्यात्मिकता या रहस्यलोक की ओर पलायन करता है। ऐसा करके वह अपने को उस समाज के बन्धनों से मुक्त मानता है जिसमें वह जीता है। यह पूंजीवाद से बचने के प्रयत्न में सामंतवाद की गोद में

जाना है। पूंजीवाद से कलाकार के सम्बन्ध का तीसरा रूप वह है जिसमें वह पूंजीवादी व्यवस्था को अस्वीकार करता हुआ अन्तर्मुखी होकर 'कला के लिए कला' की रचना करता है। इस कछुआधर्मी प्रवृति की सुविधा वही होती है जहाँ कलाकार अपने अस्तित्व सम्बन्धी चिंताओं से किसी-न-किसी कारण से मुक्त होता है। पूंजीवादी समाज के साथ लेखक के सम्बन्ध का चौथा रूप वह है जिसमें वह अपने व्यक्तित्व का विभाजन करता है, वह अपने कलात्मक व्यक्तित्व को व्यावसायिक व्यक्तित्व से पृथक् करता है और एक ओर कलात्मक लेखन और दूसरी ओर व्यावसायिक लेखन करता है। कलात्मक लेखन से वह अपने सत्व की रक्षा करता है और व्यावसायिक लेखन से अपने अस्तित्व की। लेकिन व्यक्तित्व के इस विभाजन का प्रभाव अंततः उसके लेखन पर पड़ता है उसका कलात्मक लेखन उसके व्यावसायिक लेखन से प्रभावित होता है। कुछ लेखक पूंजीवादी समाज व्यवस्था की वास्तविकता को समझकर उससे विद्रोह करते हैं, वे बुर्जुआ समाज-व्यवस्था और सामाजिक सम्बन्धों की निर्मम आलोचना करते हैं लेकिन उनकी दृष्टि में बुर्जुआ व्यवस्था से मुक्ति का कोई मार्ग नहीं होता। ऐसे रचनाकार जब अपनी रचना में बुर्जुआ समाज की वास्तविकता की यथार्थवादी अभिव्यंजन करते हैं, बुर्जुआ मानव-सम्बन्धों और मूल्य-व्यवस्था की आलोचना करते हैं तो रचना महान होती है लेकिन जब वे समझौतावादी समाधान प्रस्तुत करते हैं तो रचना कमजोर होती है। यह पूंजीवाद और उस समाज में जीने वाले लेखक के सम्बन्ध का पाँचवा रूप है। पूंजीवादी समाज व्यवस्था और लेखक के सम्बन्ध का छठा रूप वह है जिसमें लेखक बुर्जुआ व्यवस्था, उसकी संस्कृति और विचारधारा के खिलाफ विद्रोह करता है, वह इतिहास की प्रक्रिया और दिशा को समझकर संघर्षशील क्रांतिकारी सर्वहारा वर्ग के उद्देश्यों के साथ एकता स्थापित करता है और सर्वहारा के दृष्टिकोण से पूंजीवादी समाज को देखता है। ऐसा लेखक पूंजीवादी व्यवस्था के अंत को मानव-मुक्ति की शुरुआत समझता है।

मार्क्स ने पूंजीवादी समाज में अपनी श्रमशक्ति बेचकर मजदूरी के सहारे जीने वाले श्रमिक और कलाकार दोनों को सर्वहारा कहा है क्योंकि दोनों के पास अपने जीवन-निर्वाह के लिए श्रम-शक्ति के अतिरिक्त और कोई पूंजी नहीं होती। पूंजीवादी समाज-व्यवस्था के अमानवीकरण और अलगाव की प्रक्रिया के शिकार होकर दोनों सर्वहारा बन जाते हैं। लेकिन प्रश्न यह है कि दोनों की मुक्ति का उपाय क्या है? निश्चय ही दोनों की मुक्ति का रास्ता एक ही है और वह है सर्वहारा की वर्ग चेतना का बोध। सर्वहारा की वर्ग चेतना के बोध का अर्थ है उसके संघर्ष और उद्देश्य से एकता कायम करना। श्रमिक और कलाकार की मुक्ति अलग-अलग नहीं हो सकती, सर्वहारा की मुक्ति से ही सम्पूर्ण समाज की मुक्ति हो सकती है। 'मुक्तिबोध' ने इस सम्पूर्ण प्रक्रिया की प्रामाणिक, प्रभावशाली और काव्यात्मक अभिव्यंजना इस प्रकार की है—

"अरे : जन-संग-ऊष्मा के
बिना, व्यक्तित्व के स्तर जुड़ नहीं सकते।
प्रयासी प्रेरणा के स्रोत,
सक्रिय वेदना की ज्योति,
सब साहाय्य उनसे लो।
तुम्हारी मुक्ति उनके प्रेम से होगी।

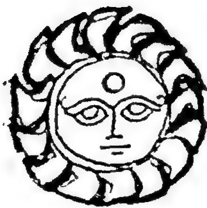
कि तद्गत लक्ष्य में से ही
हृदय के नेत्र जागेंगे,
वह जीवन-लक्ष्य उनके प्राप्त
करने की क्रिया में से
उभर-उभर
    विकसते जायेंगे निज के
    तुम्हारे गुण
कि अपनी मुक्ति के रास्ते
अकेले में नहीं मिलते ।"

तीन

इस लेख के प्रारम्भ में मार्क्स का जो कथन उद्धृत किया गया है उसमें निश्चय ही 'व्याख्या' से अधिक बुनियादी 'बदलाव' की आवश्यकता पर बल दिया गया है । यह भी कहा जा सकता है कि उसमें 'सिद्धान्त' से अधिक 'व्यवहार' को महत्व दिया गया है । इस बात पर विवाद हो सकता है कि साहित्य को 'सिद्धान्त' के अन्तर्गत रखा जाय या 'व्यवहार' के, लेकिन यह स्वीकार करने में शायद बहुत कठिनाई नहीं होगी कि साहित्य वैचारिक प्रक्रिया का परिणाम होने के कारण मुख्यतः सैद्धान्तिक क्रिया है । साहित्य की यात्रा रचनाकार की चेतना से पाठक की चेतना तक होती है, इस प्रकार साहित्य को व्यापक अर्थ में 'सिद्धान्त' के अन्तर्गत रखा जा सकता है । साहित्य को 'सिद्धान्त' के अन्तर्गत मानने के बाद यह विचारणीय हो जाता है कि बुनियादी बदलाव में उसकी भूमिका क्या है ? बुनियादी बदलाव मुख्यय: भौतिक-सामाजिक रूपांतरण होता है, केवल वैचारिक बदलाव नहीं । सारतः बुनियादी बदलाव मनुष्य के बाह्य जगत और अन्तर्जगत का मूलगामी रूपांतरण का परिणाम होता है । बुनियादी बदलाव के लिए मुख्य संघर्ष भौतिक-सामाजिक क्षेत्र में होता है, केवल लोगों के दिलों-दिमाग में नहीं । लेकिन यह ध्यान रखना होगा कि मार्क्स के अनुसार 'विचारधारात्मक रूपों' में जनता को अपने संघर्ष का बोध होता है और वह विजय तक संघर्षशील रहती है । इस प्रकार साहित्य वैचारिक संघर्ष का साधन तो है ही, वह उसके बोध का भी साधन है । दूसरे वह वैचारिक-भावात्मक चेतना को जगाने और बनाने का काम भी करता है । साहित्य 'सिद्धान्त' का अंग होने के बावजूद भौतिक शक्ति जैसा प्रभावशाली होता है । मार्क्स ने लिखा है "सिद्धान्त जब जनता के दिलो दिमाग पर छा जाता है तो वह एक भौतिक-शक्ति बन जाता है ।" लेकिन साहित्य की प्रभावशीलता एक ओर साहित्य के स्वरूप और दूसरी ओर जनता की ग्रहणशीलता से सीमित होती है । इसलिए बुनियाद बदलाव में साहित्य की सीमित भूमिका से ही संतोष करना उचित जान पड़ता है । कुछ लोग बुनियादी बदलाव में साहित्य की भूमिका को पूर्णतः अस्वीकार करते हैं तो इसके विपरीत कुछ दूसरे लोग बुनियादी बदलाव के संदर्भ में साहित्य से अतिरिक्त उम्मीद कर बैठते हैं । बुनियादी बदलाव के लिए क्रांतिकारी सिद्धान्त ही नहीं, क्रांतिकारी व्यवहार की भी आवश्यकता होती है, बल्कि दोनों की एकता की आवश्यकता

होती है। साहित्य की उपेक्षा करने वालों और साहित्य से अतिरिक्त अपेक्षा करने वालों को मार्क्स के इस कथन पर ध्यान देना चाहिए—

"The weapons of criticism can not, of course, replace criticism of weapons, Material force must be overthrown by material force."



यथार्थवाद : समाजवादी यथार्थवाद; उद्भव और विकास

डॉ० शिव कुमार मिश्र

पश्चिमी जगत में 'यथार्थवाद' सम्बन्धी विवेचन प्रधानतः दो भूमियों पर उपलब्ध होता है एक तो दर्शन की भूमि पर और दूसरे साहित्य-रचना तथा कला-चिन्तन की भूमि पर। दर्शन की भूमि पर यथार्थवाद सम्बन्धी विवेचन का एक अत्यंत सम्पन्न तथा सुदीर्घ इतिहास है, जिसकी सुस्पष्ट छाप यथार्थवाद सम्बन्धी कला तथा साहित्य-चिन्तन की भूमि पर हुए विवेचन में प्राप्त होती है। दर्शन की भूमि पर किये गये यथार्थवाद-सम्बन्धी विवेचन के विस्तार में जाने का मोह संवरण कर निष्कर्षतः हम इतना ही कहना चाहते हैं कि यथार्थवादी कला-चिन्तक और यथार्थवादी दार्शनिक, दोनों यह मानकर चलते हैं कि बाह्य जगत का अस्तित्व हमारी इच्छा-अनिच्छा से परे एक स्वतंत्र, वस्तुगत अस्तित्व है, कि ज्ञेय पदार्थों की सत्ता ज्ञाता से स्वतंत्र है। जहां तक साहित्य तथा कला-रचना का प्रश्न है, यथार्थवादी विचारकों का सुस्पष्ट अभिमत है कि उसका सम्बन्ध इसी बाह्य जगत और उसके नाना रूप-व्यापारों से है, और रहा है। साहित्य एवं कला के क्षेत्र में एक आन्दोलन के रूप में, अथवा साहित्य तथा कला-रचना के एक सुसंगत दृष्टिकोण के रूप में 'यथार्थवाद' का उद्भव भले ही सामाजिक और बौद्धिक जीवन के विकास के एक खास दौर में हुआ हो, किन्तु साहित्य तथा कला-रचना की सहज और अंतर्निहित प्रवृत्ति के रूप में उसकी स्थिति बराबर बनी रही है। बोरिस सुचोव ने इसी मत की पुष्टि करते हुए कहा है—"कला की रचना-प्रक्रिया मनुष्य के बौद्धिक और मानसिक व्यापार का सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण अंग है। इस रचना-प्रक्रिया का सारभूत तत्त्व है—बिम्बों अथवा रूपों में ही बाह्य जगत और उसके पदार्थों का ग्रहण। यह बाह्य जगत् प्रत्यक्षीकरण के क्रम में स्वभावतः अपने रूपों और बिम्बों को हमारे मन पर अंकित करता रहता

है। यहाँ तक कि कला-सर्जक जब ऐसी किसी वस्तु को आविष्कृत करना चाहता है, जिसे कि वह संभावना की परिधि से बाहर समझता है, सही अर्थों में, वह और कुछ नहीं करता, उसी समग्र के अंगीभूत अंशों को रूप में व्यवस्थित और पुर्नप्रस्तुत करता है, जिसे हम यथार्थ कहते हैं।"[1]

कला-रचना की एक सहज तथा अंतर्निहित प्रवृत्ति के रूप में 'यथार्थवाद' की स्थिति को अर्थात् यथार्थ के प्रति मनुष्य को सहज-स्वाभाविक रुझान को सामाजिक विकास के प्रत्येक युग में लक्ष्य किया जा सकता है। सभ्यता के उषा-काल में भी, जबकि मनुष्य पहली बार कलात्मक बिम्बों अथवा रूपों से परिचित हो रहा था, न केवल उसकी कला सामाजिक अनुभवों से वञ्चित नहीं थी, वरन् जीवन को समझने और अपने ढंग से उसे व्याख्यायित करने के क्रम में उसने यथार्थ के प्रति अपनी इस सहज-स्वाभाविक रुझान को स्पष्टतः व्यक्त किया था। प्राचीन युग के गुफा-चित्रों तक में इस कथन के उदाहरण देखे जा सकते हैं।

साहित्य तथा कला-रचना के एक सुसंगत दृष्टिकोण के रूप में अथवा एक रचनात्मक पद्धति के रूप में, अवश्य ही, 'यथार्थवाद' का उद्भव मनुष्य के बौद्धिक विकास के एक खास दौर में हुआ जबकि मनुष्य ने संजीदगी से अनुभव करना आरंभ किया कि उसके लिए सामाजिक विकास की प्रकृति तथा दिशाओं का संज्ञान आवश्यक है। यही नहीं, इसी क्रम में उसे यह भी अनुभव हुआ कि मानवीय क्रियाएँ तथा भावनाएँ अंधी वासना अथवा किन्हीं दैवी इशारों से संचालित न होकर यथार्थ अथवा भौतिक कारणों द्वारा नियमित होती हैं। यह सही है कि मनुष्य इस निष्कर्ष तक एक बारगी ही नहीं पहुँचा, और अपने बौद्धिक विकास के दौरान उसने शनैः-शनैः ही इस तथ्य का परिज्ञान प्राप्त किया, किन्तु इससे इतना तो स्पष्ट होता ही है कि सामाजिक विकास के दौरान मनुष्य कोरी भावनामूलकता को लेकर ही आगे नहीं बढ़ा वरन् अपने परिवेश तथा स्वतः अपने को नियमित तथा गतिशील करने वाले कारणों तथा नियमों को खोज तथा उनके संज्ञान के प्रति उसकी दिलचस्पी बराबर बनी रही।

अपनी तथा जगत् की सत्ता के विषय में क्रमशः जो परिज्ञान मनुष्य को प्राप्त हुआ उसके मूल में यों तो समय-समय पर सामने आने वाली नाना दार्शनिक चिन्तनाओं एवं वैज्ञानिक निष्पत्तियों का योग है, किन्तु सबसे जबर्दस्त योग उन वास्तववादी दार्शनिक विचारों तथा वैज्ञानिक आविष्कारों को है जो संसार की भौतिक सत्ता को प्रतिपादित करते हुए १८वीं, १९वीं तथा बीसवीं शताब्दियों में सामने आए और जिन्होंने भाववादी दार्शनिकों की इस मान्यता को करारी चोट पहुँचाई कि वस्तु जगत और उसके यथार्थ का अस्तित्त्व मानसिक है, कि मनुष्य तथा जगत के कार्य-व्यापारों का संचालन कोई पारलौकिक सत्ता करती है, कि उसके नियमों का संज्ञान मनुष्य के बस की बात नहीं है, आदि।[2]

१८वीं शताब्दी में देकार्त्त और बेकन जैसे दार्शनिकों के चिन्तन ने मानवीय अस्तित्त्व को धर्म शास्त्र तथा वितण्डावाद के अनपेक्षित प्रभावों से मुक्त करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इनके विचारों ने मनुष्य को संसार की वस्तुगत तथा भौतिक सत्ता का बोध कराते हुए उसके दिमाग पर चढ़ रही रूढ़ियों की परतों को एक बड़ी सीमा तक साफ किया। बेकन के चिन्तन की सीमाओं को पहचानते हुए भी एंगेल्स ने लिखा है कि संसार की भौतिक सत्ता को प्रतिपादित करने

वाला वह पहला अंग्रेज दार्शनिक था।[2] बेकन के कृतित्व को रेखांकित करते हुए हर्जन का कथन है कि "बेकन ने अंधसूत्रवाद की जड़ें हिला दीं, पुराने अधिभूतवाद के लिए अब इज्जत के साथ सर उठाना संभव न रहा। बेकन के बाद हर कहीं, ज्ञान के सभी क्षेत्रों में वितण्डावादियों के इंद्रिय बोधातीत सिद्धांतों के विरुद्ध प्रतिक्रिया की बाढ़-सी उमड़ पड़ी।"[3] इन विचारकों के ही चिन्तन का परिणाम है कि जो यथार्थवाद यथार्थ के प्रति एक सहज-स्वाभाविक रुझान के रूप में दैनन्दिन जीवन-व्यवहारों के चित्रण तक ही सीमित था, १८वीं शताब्दी में उसने सामाजिक अस्तित्व के चित्रण के क्षेत्र में प्रवेश किया।

१८वीं शताब्दी में एक अन्य महत्त्वपूर्ण घटना घटी, और वह थी फ्रांस की प्रसिद्ध राज्य क्रांति। इस राज्यक्रांति के फलस्वरूप न केवल सामंतवादी समाज-व्यवस्था का वैचारिक तथा आर्थिक ढांचा पूरी तरह चरमरा कर धराशायी हुआ वरन् एक नई व्यवस्था तथा बुर्जुआ वर्ग का उदय भी हुआ। १८वीं शताब्दी में इस बुर्जुआ वर्ग ने अभूतपूर्व प्रगति की। नागरिक स्वाधीनता का नारा देते हुए उसने मानव-समाज के समक्ष विकास की नई दिशाएँ उद्घाटित कीं। लेखकों तथा दार्शनिकों की एक समूची पंक्ति बुर्जुआ आदर्शों की हिमायत करती हुई सामने आई और उसने इस बुर्जुआ समाज-व्यवस्था को एक पूर्ण और आदर्श समाज-व्यवस्था के रूप में गौरवान्वित किया। किन्तु जैसे-जैसे बुर्जुआ वर्ग आर्थिक और भौतिक प्रगति के पथ पर आगे बढ़ता गया, उसके अपने अंतर्विरोध और उसके द्वारा स्थापित व्यवस्था की असंगतियाँ भी स्पष्ट होने लगीं और १९वीं शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते तो वे सतह पर उतरा उठीं। १८वीं शताब्दी के यथार्थवादी लेखन में जहाँ एक ओर सामंती आदर्शों, सामंती विचारों तथा सामंती नैतिकता के ढोंग का पर्दाफाश किया गया है, वहाँ दूसरी ओर बुर्जुआ समाज-व्यवस्था की असंगतियों को भी अपने ढंग से पहचानने और विश्लेषित करने का प्रयास उसमें लक्षित होता है। शेक्सपियर जैसी मानव-मन की गहराइयों में पैठ जाने वाली तथा परिवेश की बारीकियों में उतर जाने वाली गहरी दृष्टि अथवा रेबेलेस और सर्वेन्टीज़ जैसी कल्पनात्मक उड़ान तो उनमें नहीं है, किन्तु युग-सत्य को जिस साहस तथा निर्भीकता से उन्होंने उद्घाटित किया है, वह अपने में एक मिसाल है। रिचर्डसन, डेफो, फील्डिंग तथा स्मालेट आदि के उपन्यासों में इस कथन के प्रमाण देखे जा सकते हैं।

यथार्थवादी रचना-दृष्टि की परिपक्वता तथा एक भरे-पूरे कलांदोलन के रूप में उसके उदय और विकास की दृष्टि से १९वीं शताब्दी अतिशय महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। समूचे मानव-इतिहास को क्रांतिकारी मोड़ देने का श्रेय इस शताब्दी को प्राप्त है। इस शताब्दी में ज्ञान तथा विज्ञान के क्षेत्र में अद्भुत युगान्तर उपस्थित हुआ जिसने परम्परा से चले आते हुए चिन्तन तथा कर्म की दिशा ही बदल दी। हेगेल, फायरबाख, मार्क्स तथा एंगेल्स जैसे दार्शनिक चिन्तन के मनीषियों के अतिरिक्त न्यूटन तथा डारविन जैसे वैज्ञानिकों की क्रांतिकारी दार्शनिक तथा वैज्ञानिक निष्पत्तियाँ भी इसी शताब्दी में सामने आईं। पूँजीवादी व्यवस्था अपने सारे अंतर्विरोधों तथा असंगतियों को उजागर करती हुई एक ह्रासशील और शोषक सत्ता के रूप में इसी शताब्दी में पहचानी गई। संसार तथा समाज के विकास-नियमों की क्रांतिकारी तथा वैज्ञानिक समझ मार्क्सवादी विचार-दर्शन के रूप में इसी शताब्दी में स्पष्ट हुई। यही नहीं, इति-

ह्रास के प्रति एक गंभीर वैज्ञानिक रुख इसी शताब्दी में विकसित हुआ और उसकी गति को परखने और पहचानने के संजीदा प्रयास शुरू हुए।

जाहिर है कि १९वीं शताब्दी में ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में होने वाली इस क्रांतिकारी प्रगति का इस युग की साहित्य तथा कला-रचना पर जबर्दस्त प्रभाव पड़ा। यथार्थवादी विचारणा, जो अभी तक अन्यान्य विचारधाराओं के समानान्तर जीवन तथा कला-सम्बन्धी आयामों पर अपनी अभिव्यक्ति कर रही थी, अब साहित्य तथा कला-रचना की प्रधान प्रेरक शक्ति बनकर सामने आई। मार्क्स और एंगेल्स के द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी तथा ऐतिहासिक भौतिकवादी दार्शनिक चिन्तन ने जहाँ भाववादी दर्शन के विविध रूपों को पृष्ठ-भूमि में करते हुए दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में अपना वर्चस्व स्थापित किया, वहाँ यथार्थवादी रचना-दृष्टि ने शास्त्रीयतावाद तथा स्वच्छन्दतावाद को गत की वस्तु बनाते हुए अपने अपराजेय अस्तित्त्व का शंखनाद कर दिया। अलेक्ज़ेण्डर हर्जन ने यथार्थवादी विचारणा के इस शंखनाद का स्वागत करते हुए लिखा है—"ठीक उस समय जबकि क्लासिसिज्म और रोमांटिसिज्म के बीच संघर्ष चल रहा था····तब एक अन्य शक्तिशाली चीज उभर रही थी, और बल प्राप्त कर रही थी।····एक पाँव क्लासिसिस्टों के कंधों पर रखे और दूसरा रोमांटि-सिस्टों के, वह उन दोनो से कहीं अधिक ऊँची थी, मानों समस्त शक्ति उसी के हाथों में हो।····क्लासिसिज्म और रोमांटिसिज्म, दोनों को स्वीकार करना पड़ा कि उन दोनों के बीच कोई तीसरी चीज आ खड़ी हुई है····जो उन दोनों में से, किसी को शह देने को तैयार नहीं है।····क्लासिसिज्म और रोमांटिसिज्म, अतीत के दो महान युगों की उपज थे। उन्हें जिलाने के लिए चाहे कितना भी प्रयत्न किया जाय, वे अतीत की प्रेत-छायाएँ ही बने रहेंगे, जिनके लिए आज की दुनिया में कोई जगह नहीं हो सकती।"[४]

१९वीं शताब्दी में एक शक्तिशाली रचना-दृष्टि तथा चित्रण-पद्धति के रूप में यथार्थवाद का जो रूप उभरा, साहित्य-समीक्षा में उसे आलोचनात्मक यथार्थ-वाद (क्रिटिकल-रियलिज्म्) का नाम दिया गया है। जरूरी है कि इस नाम की संगति को पहचानते हुए उन परिस्थितियों का जिक्र किया जाय जो यथार्थवाद के इस रूप को सामने लाने में सहायक सिद्ध हुई, यही नहीं, जिन्हें पूंजीवादी व्यवस्था के, समाजवादी व्यवस्था में रूपांतरण, फलतः एक नई यथार्थ-दृष्टि के उद्भव का श्रेय भी प्राप्त है। इन परिस्थितियों का जिक्र करते हुए स्वभावतः हमारा ध्यान फ्रांस की उस प्रसिद्ध राज्यक्रांति की ओर चला जाता है, जिसका उल्लेख हम पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं।

जाहिर है कि फ्रांस की इस राज्यक्रांति ने आम आदमी के मन में ही नहीं, अपने समय के प्रबुद्ध दार्शनिकों तथा संवेदनशील लेखकों तथा कलाकारों के मन में भी भविष्य की अनेकानेक सुनहली संभावनाओं को जन्म दिया था। किन्तु जैसे-जैसे पूंजीवादी समाज-व्यवस्था की असंगतियाँ स्पष्ट होती गईं, लोगों को अनुभव होता गया कि न केवल स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्त्व जैसी क्रांति की सारी पवित्र उद्घोषणाएँ खोखली हैं, वरन् सामंतवादी जंजीरों से कहीं अधिक मजबूत शिकंजों में समूची मनुष्यता को जकड़ दिया गया है। जिसे वे एक आदर्श व्यवस्था समझ बैठे थे, वह कदाचित मानव-इतिहास की सर्वाधिक क्रूर और अमानवीय व्यवस्था है। यह एक जबर्दस्त मोहभंग था जिससे युग के संवेदनशील

लेखक-वर्ग को भी गुज़रना पड़ा। एंगेल्स ने पूँजीवादी व्यवस्था की इस अमानवीयता तथा उससे उपजे मोहभंग को बड़ी विशदता के साथ स्पष्ट किया है।

"जिस राज्य को 'विवेक' के आधार पर कायम किया गया था, वह बिल्कुल ढह गया। रूसो के सामाजिक समझौते की परिणति आतंक राज्य में हुई और पूँजीपति वर्ग ने, जिसे अपनी राजनीतिक योग्यता में विश्वास न रह गया था, इस आतंक से बचने के लिए पहले तो 'डाइरेक्टरेट' के भ्रष्टाचार का सहारा लिया और फिर नेपोलियन की स्वेच्छाचारिता की शरण ली। जिस शाश्वत शांति की प्रतिश्रुति दी गई थी, वह प्रभुता और अधिकार के लिए निरन्तर युद्ध में बदल गई।....पूँजीवादी आधार पर उद्योग के विकास ने मेहनतकश जनता की गरीबी और मुसीबत को समाज के अस्तित्त्व की शर्त बना दिया। कार्लाइल के शब्दों में आदमी-आदमी का एकमात्र संबंध नगद लेन-देन ही रह गया।.... जोर, जुल्म, जबर्दस्ती की जगह भ्रष्टाचार ने ले ली। बंधुत्त्व का क्रांतिकारी आदर्श होड़ के छलकपट और ईर्षा-द्वेष के रूप में फलीभूत हुआ। खड्ग की जगह स्वर्ण समाज का प्रथम उत्तोलक बन गया। पहली रात बिताने का अधिकार सामंती प्रभुओं के हाथ से निकलकर पूँजीवादी कारखानेदारों के हाथ में आ गया। वेश्यावृत्ति अभूतपूर्व रूप से बढ़ गई।....संक्षेप में, दार्शनिकों ने जो सुन्दर आशाएँ बँधा दी थीं उनकी तुलना में 'विवेक की विजय' द्वारा उत्पन्न सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाएँ घोर निराशाजनक थीं, और इन आशाओं का मखौल भर थीं। कमी केवल उन लोगों की थी जो इस निराशा को वाणी दे सकें। अठारहवीं शताब्दी का अंत होते-होते ऐसे लोग भी आ गये।"[५]

एंगेल्स का इतना लम्बा उद्धरण देने में हमारा आशय फ्रांस की बुर्जुआ राज्यक्रांति के वास्तविक चरित्र को उद्‌घाटित करना है। हमारा दृढ़ मत है कि पूँजीवाद की इस असलियत से परिचित होकर ही १९वीं शताब्दी के यथार्थवाद से परिचित हुआ जा सकता है।

ऐतिहासिक प्रक्रिया के जिन मूलभूत कारणों की खोज न तो १८वीं शताब्दी के यथार्थवादी कर सके थे और न १९वीं शताब्दी के स्वच्छन्दतावादी उन्हें शनैः-शनैः १९वीं शताब्दी के यथार्थवादियों ने पहचाना। १८वीं शताब्दी के यथार्थवादियों की तुलना में क्रांति के बाद के सामाजिक संबन्धों की 'डाइलेक्टिक्स' को समझने के लिए तथा इतिहास की गति को नियमित करने वाले कारणों की पड़ताल के लिए, उन्होंने नये माध्यमों तथा नये साधनों का प्रयोग किया।[६]

१९वीं शताब्दी में यथार्थवाद का जो रूप विकसित हुआ, उसमें स्वच्छन्दतावाद की क्रांतिकारी आस्था को अनेक आयामों पर देखा जा सकता है। उसकी प्रारम्भिक बुनावट में स्वच्छन्दतावादी तत्त्वों का ऐसा मिश्रण है कि कभी-कभी दोनों को अलग से पहचान पाना कठिन हो जाता है। किन्तु जैसे-जैसे पूँजीवाद की विकृति स्पष्ट होती गई तथा वैज्ञानिक चिन्तन की नई भूमिकाएँ उद्‌घाटित होती गई, ये स्वच्छन्दतावादी तत्त्व उसमें विरल होते गए, गोकि पूरी तरह निःशेष नहीं हुए। एक सीमा तक, कुछ समय, प्रगतिशील स्वच्छन्दतावाद तथा यथार्थवाद की ये धाराएँ समान आदर्शों को लिये हुए, समानान्तर बहती रहीं, किन्तु कालांतर में विकासशील यथार्थवादी चेतना ने दूसरी को अंतर्भूत कर लिया। पुश्किन, बाल्ज़क, डिकेन्स, स्कॉट, गोगल, स्टेण्डल १९वीं शताब्दी के यथार्थवाद के वे पुरस्कर्ता हैं, जिनके कृतित्व में स्वच्छन्दतावादी तत्त्वों को सर-

लता पूर्वक परखा जा सकता है, किन्तु जैसा कि बोरिस सुखोव का कथन है, पुश्किन तथा वाल्टर स्काट का कृतित्त्व इस तथ्य को भी प्रमाणित करता है कि स्वच्छन्दतावाद की एकांगी जीवन-दृष्टि से अपने को क्रमशः मुक्त करते हुए किस प्रकार एक सर्वथा नए प्रकार के यथार्थवाद का जन्म हुआ और युग-जीवन के कतिपय ऐसे क्षणों को पहली वार स्पर्श किया गया जिन तक न तो स्वच्छन्दतावादियों की ही दृष्टि पहुँच सकी थी और न पूर्ववर्ती यथार्थवादियों की ।[७]

सत्य के प्रति निष्कंप निष्ठा तथा ज्ञान की अनुपम पिपासा को १९वीं शताब्दी के यथार्थवादियों की आधारभूत विशेषता माना जा सकता है । ये वे लेखक थे जिन्होंने पूँजीवाद की असंगतियों के उद्घाटन तथा जीवन-सत्यों की खोज और उसके चित्रण के सिलसिले में बुर्जुआ समाज-व्यवस्था के प्रति निर्मम आलोचना का रुख ग्रहण किया । यही कारण है कि 'यथार्थवाद' के इतिहास में उनके यथार्थवाद को 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' के नाम से अभिहित किया गया है । १९वीं शताब्दी के अंग्रेज-उपन्यासकारों की प्रशस्ति में मार्क्स ने अपना जो अभिमत प्रकट किया है, उसे इस शताब्दी के समूचे आलोचनात्मक यथार्थवादियों पर लागू किया जा सकता है ।[८]

वर्ग-संघर्ष, सामाजिक असमानता, अमीर और गरीब में समाज का विभाजन, ये सब पूँजीवादी उत्पादन पद्धति का परिणाम थे । पूँजीवाद की इस असलियत पर प्रहार करते हुए तथा काल्पनिक समाजवादियों की सदिच्छाओं को अव्यावहारिक ठहराते हुए मार्क्स-एंगेल्स के द्वारा जिस वैज्ञानिक समाजवाद की प्रतिष्ठा हुई उसने वैज्ञानिक पद्धति पर शोषण विहीन एक नये समाज तथा नई दुनिया के लिए संघर्ष का पथ प्रशस्त कर दिया । १९१७ ई० में रूस में हुई महान समाजवादी क्रांति ने पहली वार मानवीय शोषण के सारे औजारों को दफन करते हुए मजदूरों के समाजवादी राज्य को जन्म दिया । समाजवादी क्रांति की सफलता ने विश्व भर के शोषित जन-समाज के मन में अपने भविष्य के प्रति एक नई आस्था को जन्म दिया, फलतः समूची दुनिया में पूँजीवाद की चूलें हिल गईं । इस समाजवादी क्रांति के पीछे जो विचारधारा कार्य कर रही थी, समाज-विकास के नियमों की जो वैज्ञानिक समझ निहित थी, उसने लेखकों और कलाकारों को भी सामाजिक यथार्थ की नई दृष्टि प्रदान की; इसका परिणाम यथार्थवादी साहित्य तथा कलांदोलन में एक नए और क्रांतिकारी मोड़ में स्पष्ट हुआ । समाजवादी समाज की स्थापना ने जिस नए यथार्थ को प्रस्तुत किया उसके संदर्भ में १९वीं शताब्दी के आलोचनात्मक यथार्थवाद की अपर्याप्ता तथा एकांगिता को लक्ष्य करते हुए यथार्थ के प्रति एक रचनात्मक दृष्टिकोण की आवश्यकता का अनुभव किया गया, फलतः समाजवाद की धरती से एक नए प्रकार की यथार्थवादी सौंदर्य-दृष्टि का अभ्युदय हुआ, जिसे उसके प्रस्तोताओं ने 'समाजवादी यथार्थवाद' का नाम दिया ।

बावजूद इसके कि बीसवीं शताब्दी में 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' की धारा प्रवाहित रही, इस शताब्दी को 'समाजवादी यथार्थवाद' को जन्म देने और उसे विकास के नए-नए आयामों तक पहुँचाने का श्रेय प्राप्त है । इस समाजवादी-यथार्थ-दृष्टि के जन्म के मूल में मार्क्सवादी विचार-दर्शन के अलावा रूस के बेलिंस्की, चर्निशवस्की, दोब्रोल्युबोव तथा अलेक्जेण्डर हर्जन जैसे उन क्रांतिकारी प्रजातन्त्रवादियों के दार्शनिक-सामाजिक चिन्तन का भी सक्रिय योग है, जो एक

दूसरे ही स्रोत से उसी लक्ष्य की ओर इंगित कर रहा था जिसे मार्क्सवादी विचार-दर्शन ने साकार किया।

यह पश्चिमी साहित्य में 'यथार्थवाद' के उदय और विकास का एक सर्वेक्षण मात्र है, जो इस तथ्य की पुष्टि करता है कि एक सहज-स्वाभाविक रुझान के रूप में सभ्यता के प्रत्येक युग में अपनी स्थिति की सूचना देने के बावजूद एक रचनात्मक सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि तथा चित्रण-पद्धति के रूप में 'यथार्थवाद' का आन्दोलनबद्ध विकास १९वीं शताब्दी में, और वह भी सन् १८४० के बाद में हुआ। १९वीं शताब्दी के मध्य से लेकर बीसवीं शताब्दी के इस चरण तक का साहित्य इसी यथार्थवाद की मूल प्रेरणा को लेकर रचा गया है। 'यथार्थवाद' की महान उपलब्धियों का श्रेय भी इन्हीं दो शताब्दियों को है। कदाचित ही, विश्व के सर्जनात्मक साहित्य को, यथार्थवाद से बड़ी देन किसी अन्य माध्यम से प्राप्त हुई हो।

'यथार्थवाद' की अपनी इस चर्चा में हमने जानबूझकर 'प्रकृतिवाद' तथा 'मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद' अथवा 'अंतश्चेतनावाद यथार्थवाद' के नाम से जानी-पहचानी जाने वाली कला-दृष्टियों को छोड़ दिया है। जहाँ 'प्रकृतिवाद' अपनी आधारभूत जीवशास्त्रीय प्रेरणा के कारण हमारे द्वारा 'यथार्थवाद' की परिधि में स्वीकार नहीं किया गया, वहाँ तथा कथित मनोवैज्ञानिक अथवा अंतश्चेतनावादी यथार्थवाद को 'यथार्थवाद' की सीमा में हम इस कारण परिगणित नहीं कर सके हैं कि उसके मूल में यथार्थवाद सम्बन्धी उस दार्शनिक दृष्टिकोण का अस्वीकार निहित है, जिसका उल्लेख हमने प्रारम्भ में किया है। अस्तु—

अगले पृष्ठों में हम यथार्थवादी साहित्यान्दोलन के दो प्रधान स्तम्भों के रूप में क्रमशः 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' तथा 'समाजवादी यथार्थवाद' की कुछ विशद चर्चा करेंगे।

आलोचनात्मक यथार्थवाद

'आलोचनात्मक यथार्थवाद' की चर्चा करते हुए अर्न्स्ट फिशर ने लिखा है कि "पूँजीवादी दुनिया में हर उल्लेखनीय कलाकार तथा लेखक की यह सामान्य प्रवृत्ति मानी जा सकती है कि वह अपने चारों ओर के सामाजिक यथार्थ से समझौता कर पाने में कतई असमर्थ रहा है। यों तो हर सामाजिक व्यवस्था के अपने वकील तथा विरोधी दोनों रहे हैं, किन्तु यह केवल पूँजीवादी समाज-व्यवस्था ही है, जिससे हर कला ने, सामान्यता की एक हद से ऊपर, महज विद्रोह और विरोध की कला के रूप में अपना परिचय दिया है।"[६]

१९वीं शताब्दी तक स्पष्ट हो जाने वाली पूँजीवाद की असंगतियों तथा उससे उत्पन्न मोह भंग का जिक्र हम कर चुके हैं। वस्तुतः १८वीं शताब्दी के मध्य तक समाज-व्यवस्था तथा लेखक-वर्ग के बीच असामंजस्य की असहनीय स्थिति न आ पाई थी। लेखक मनुष्य को, जिस रूप में वह था, देख सकने में और उसे संपूर्णता में प्रस्तुत कर सकने में बहुत दिक्कत का अनुभव न करता था, किन्तु पूँजीवाद की असंगतियों के क्रमशः उद्घाटित होने के साथ-साथ समाज-व्यवस्था तथा लेखक-वर्ग के बीच असंतुलन बढ़ता गया, और एक स्थिति यह आई कि लेखक का रचना-धर्म ही संकट में पड़ गया। जैसा कि राल्फ फाक्स ने लिखा है—समूची १९वीं शताब्दी के दौरान हम लेखक वर्ग को व्यवस्था तथा उससे सामंजस्य बिठाने के असफल प्रयास में संघर्षरत देखते हैं, उसे एक ऐसी

व्यवस्था से जूझते हुए पाते हैं जो उसे ऐसे नियमों तथा कानून-कायदों में बाँधकर जीवित रखना चाहती है, जिन्हें स्वीकार करने में वह कतई असमर्थ था। यह वह व्यवस्था थी जिसने उसे बुरी तरह धोखा दिया था, उससे उसकी स्वतंत्रता ही नहीं, आत्मसम्मान के साथ जीने का सारा अधिकार छीन लिया था, जिसने कला तथा मनुष्य को महज खरीदे तथा बेचे जाने वाले माल के रूप में बदल दिया था। रूसो, शेली, बायरन सब अपने-अपने ढंग से इस अमानवीय व्यवस्था को धिक्कार चुके थे, किन्तु अब एक ऐसी स्थिति आ गई थी कि विद्रोह, मृत्यु अथवा समाज से संपूर्ण पलायन के अतिरिक्त उनके सामने कोई रास्ता ही शेष न बचा था। कुछ ने विरोध, विद्रोह तथा धिक्कार की अपनी प्रखरता कायम रखी, किन्तु शेष को या तो 'कला-कला के लिए' का नारा लगाते हुए समाज से पलायन करना पड़ा अथवा आत्महत्या तथा मृत्यु के लिए विवश होना पड़ा।[१०] फ्लावेयर के पत्र तथा डायरी के अंश संवेदनशील लेखकों की उस दयनीय नियति का प्रमाण हैं, जिसे परिस्थितियों ने उन पर थोप दिया था।[११]

किन्तु इन संवेदनशील, ईमानदार तथा प्रतिभा-सम्पन्न लेखकों का व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह वस्तुतः इनके अपने 'आत्म' का उस व्यवस्था के अतिचार के खिलाफ विद्रोह था जिसने उन्हें चारों ओर से काटकर अकेलेपन में घुटने और तड़पने के लिए छोड़ दिया था। इसी बिन्दु पर अर्न फिशर की टिप्पणी है— 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' पूँजीवादी व्यवस्था के खिलाफ इसी अकेले 'आत्म' के रोमानी विद्रोह तथा बुर्जुआ मूल्यों के प्रति एक ऐसे विलक्षण 'अस्वीकार' का प्रतिफल है, जिसमें अभिजात तथा गैर-अभिजात, दोनों प्रकार की मानसिकता घुली-मिली है। कहने की आवश्यकता नहीं कि बुर्जुआ समाज-व्यवस्था के खिलाफ कलाकार के अकेले 'आत्म' का यह विद्रोह व्यापक और प्रगाढ़तर ही होता गया है, गोकि इस क्रम में विद्रोह करने वाले आत्म का स्वरूप ज्यों का त्यों रहा है।[१२] अर्न फिशर का इशारा यहाँ इस तथ्य की ओर है कि 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' में उसके जन्म से ही रोमानी किस्म की प्रतिक्रियाएँ निहित हैं। इस भूमि पर वे स्वच्छन्दतावाद को 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' का एक प्रारम्भिक दौर मानने के लिए भी तैयार हैं, गोकि दोनों की पद्धतियों में अंतर को स्वीकृति देते हैं। इसके विपरीत बोरिस सुखोव दृष्टिकोण के स्तर पर भी स्वच्छन्दतावाद से प्रारम्भिक यथार्थवाद को अलग करते हैं। उनके अनुसार यथार्थवाद में स्वच्छन्दतावाद जैसी एकांगिता का अभाव है। 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' के पुरस्कर्त्ताओं में उन्होंने पुश्किन का नाम लिया है और कहा है कि धीमी गति से विकसित होने वाले पूंजीवाद के अपने अनुभवों के कारण पुश्किन नए सामाजिक सम्बन्धों के निर्माण और उनकी प्रतिष्ठा को संपूर्णता अथवा विस्तार में भले चित्रित न कर पाये हों, किन्तु एक नये प्रकार के यथार्थवाद की नींव डालने का श्रेय उन्हें है, जो अपनी प्रकृति में आलोचनात्मक है तथा मनुष्य और उसके अपने परिवेश तथा मनुष्य और समाज के बीच के पारस्परिक सम्बन्धों के चित्रण में संश्लेषात्मक है।[१३] आलोचनात्मक यथार्थवाद की उसी पद्धति को बालजक, स्टेण्ढल, डिकेन्स, ब्रान्ती बहिनों तथा गोगल आदि के द्वारा किये गये सामंतवाद की ढूह पर पनपने वाले नए पूँजीवादी सम्बन्धों में निहित असंगतियों के उद्घाटन और चित्रण में देखा जा सकता है। बुर्जुआ यथार्थवादी धारणा से 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' इस अर्थ में विशिष्ट है कि उसके विपरीत उसमें मनुष्य

को जिन्दगी को सामाजिक संदर्भता से अलगाकर नहीं, उसके साथ संयुक्त करके देखा गया है, तथा केवल समाज से सही मनुष्य की जिंदगी ही नहीं; सामाजिक असंगतियों का भी चित्रण किया गया है। 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' के पुरस्कर्त्ताओं ने अपनी पैनी दृष्टि के बल पर सामाजिक असंगतियों को पहचानते हुए बुर्जुआ चेतना तथा उसके द्वारा अनुकूलित सामाजिक व्यवस्था का विश्लेषण भी किया है। इन बिन्दुओं पर भी 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' स्वच्छंदतावाद के विपरीत नई लीकों की सृष्टि करता है, और इस कारण उससे विशिष्ट है।

पूंजीवादी समाज-व्यवस्था की असंगतियों के प्रति तथा उसके समूचे कर्म के प्रति एक आलोचनात्मक रुख इन यथार्थवादियों के लिए एक विवशता भी बन गया था। इस संदर्भ में बाल्जक ने लिखा है—"जनता हमसे सुन्दर चित्रों की मांग करती है, किन्तु उनके नमूने इस समाज-व्यवस्था में हैं कहां? आपके घिनौने वस्त्र, आपकी आपरिपक्व क्रांतियां, आपका बातूनी बुर्जुआ, आपका मृतधर्म, आपकी निकृष्ट शक्ति, बिना सिंहासन के आपके बादशाह, ये सब क्या इतने काव्यात्मक हैं कि इनका चित्रण किया जाय? हम अधिक से अधिक इनकी मखौल उड़ा सकते हैं।"[१४]

सत्य की निष्ठा से की गई शोध, तथा ज्ञान की उत्कट पिपासा आलोचनात्मक यथार्थवाद के प्रत्येक समर्थ पुरस्कर्त्ता की केन्द्रीय विशेषता है। अपने रचना-धर्म के प्रति अद्भुत ईमानदारी बरतते हुए ये अपनी इन केन्द्रीय विशेषताओं को स्थिर रख सके हैं। इसी संदर्भ में एंगेल्स ने बाल्जक पर लिखते हुए उसके कृतित्व को यथार्थवाद की महान विजय (Triumph of Realism) का उदाहरण माना है, और कहा है कि तत्कालीन समाज के बारे में उन्होंने बाल्जक से इतना कुछ पाया है जो उन्हें उस युग के सारे पेशेवर इतिहासकारों, अर्थ-शास्त्रियों तथा सांख्यिकीकारों का कृतित्व सम्मिलित रूप से भी नहीं दे सका है।[१५] लेनिन ने टॉलसटॉय की रचनात्मक ऊँचाई की चर्चा करते हुए लगभग यही बातें कहीं हैं और उनके कृतित्व को रूसी क्रांति के दर्पण की संज्ञा दी है।[१६]

यह सही है कि 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' के पुरस्कर्त्ताओं में समाज तथा जिन्दगी के प्रति रुख को लेकर कुछ अन्तर है, उनकी राजनीतिक आस्थाएँ भी एक नहीं है, किन्तु उनके लक्ष्य में, अर्थात् सामाजिक जीवन और उसके विकास के संदर्भ में मनुष्य के चित्रण, अमानवीयता की हद तक पहुँची हुई पूंजीवादी व्यवस्था की विकृतियों के उद्घाटन, तथा उस व्यवस्था में पिसते सामान्यजन के प्रति अतिशय संवेदनशील तथा आत्मीय भाव में, कहीं भी पार्थक्य नहीं है। उनकी कला वस्तुतः प्रजातांत्रिक कला है जो शैली, माध्यमों तथा पद्धतियों का अन्तर स्वीकार करती हुई चलती है।[१७]

'आलोचनात्मक यथार्थवाद' की रचनागत उपलब्धियों का यह एक संक्षिप्त सर्वेक्षण है। वस्तुतः युग की दूसरी रचनात्मक प्रवृत्तियों तथा विचार दृष्टियों के समानांतर, वरन् उन्हें पीछे छोड़ते हुए 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' ने यथार्थवादी कला को उसकी महान ऊँचाइयों तक पहुँचाया है। १९वीं और २०वीं शताब्दी का पूंजीवाद, तथा अपनी समूची सड़ान्ध के साथ समाप्त होती हुई सामंतवादी व्यवस्था अपने एकदम नग्न तथा घिनौने रूप में यहां विद्यमान है। अपने रचना-धर्म के प्रति एक निहायत ईमानदार रुख, प्रखर यथार्थ बोध, गहरा सामाजिक

लगाव तथा समर्थ चित्रण शैली, 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' के पुरस्कर्त्ताओं की विशिष्ट उपलब्धियाँ हैं। इन रचनाकारों का मूल स्वर विरोध, विद्रोह, अनास्था तथा अस्वीकार का स्वर है। इनके कृतित्व में व्यवस्था के विनाश का उद्बोधन है, उसकी अमानवीयता की भर्त्सना है, उसके खोखले आदर्शों की मखौल है। सामान्य जीवन के प्रति इन लेखकों की निष्ठा, जनता के दुःखी जीवन के प्रति इनकी संवेदना, व्यवस्था जन्य विकृतियों एवं उनका पोषण करने वाले सुविधा-भोगी वर्गों के प्रति उनका आक्रोश, परिवर्तन की उत्कट आकांक्षा वे बातें हैं जो इन रचनाकारों की यथार्थ दृष्टि को सार्थक बनाती हैं और उसे प्रकृतिवादियों तथा मनोवैज्ञानिक यथार्थवादियों की छद्म यथार्थ-दृष्टि से अलग करती हैं।[१८] यह सही है कि इन रचनाकारों के पास वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव रहा है और ये दुःखी मनुष्यता के भविष्य को उस वैज्ञानिक दृष्टिकोण के संदर्भ में नहीं देख सके हैं, किन्तु फिर भी, इनकी यथार्थ-दृष्टि ने आगे की पीढ़ियों के लिए ऐसा बहुत कुछ उद्घाटित कर दिया है जो मनुष्य के उज्वल भविष्य की संरचना में उनका संबल बन सके। इन्होंने यथार्थवाद की कला को महाकाव्य की ऊँचाइयों तक पहुँचाया है, और यथार्थवाद के रचनात्मक विकास को जबर्दस्त बल प्रदान किया है।

'आलोचनात्मक यथार्थवाद' की इन्हीं उपलब्धियों के संदर्भ में जार्ज लुकाच ने 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' तथा यथार्थवादी कला के अगले विकास 'समाजवादी यथार्थवाद' के बीच संधि की चर्चा की है।[१९] 'समाजवादी यथार्थवाद' की अपनी चर्चा के क्रम में हम इस प्रश्न पर गौर करेंगे।

समाजवादी यथार्थवाद

'समाजवादी यथार्थवाद' यथार्थवादी आन्दोलन का नव्यतम विकास है। सन् १९३४ ई० में सोवियत लेखकों की यूनियन के पहले अधिवेशन में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए मैक्सिम गोर्की ने सर्वप्रथम उसका नाम लिया और उसकी रूपरेखा स्पष्ट की।[२०] उन्होंने उसे सोवियत साहित्य के एकमात्र सौंदर्य शास्त्रीय प्रतिमान के रूप में स्वीकार करने के लिए लेखक-वर्ग का आह्वान किया। तब से लेकर आज तक न केवल सोवियत लेखकों और कला-चिन्तकों के बीच, वरन् यथार्थवादी कलांदोलन की सर्वोत्तम उपलब्धि के रूप में वह समूचे विश्व के प्रबुद्ध यथार्थवादी रचनाकारों एवं विचारकों के मध्य चर्चा का विषय बना हुआ है।

वस्तुतः सन् १९१७ ई०की सफल समाजवादी क्रांति के उपरांत रूस में जिस नये समाज की स्थापना हुई और जो नई वास्तविकता सामने आई, उसे समझने और चित्रित करने के लिए एक नई कला-दृष्टि और नई रचनात्मक पद्धति की आवश्यकता अनुभव हुई, फलतः यथार्थवाद के दायरे के भीतर चिन्तन और मनन के क्रम में 'समाजवादी यथार्थवाद' का रूप उभरा और उसे मान्यता प्राप्त हुई।

नई यथार्थ-दृष्टि की आवश्यकता तथा खोज के बीच स्वभावतः पूर्ववर्ती आलोचनात्मक यथार्थ-दृष्टि भी चर्चा का विषय बनी। उसके गौरवमय इतिहास तथा जीवंत उपलब्धियों के बावजूद समाजवादी कला-चिन्तकों का मत था कि आलोचनात्मक यथार्थवादी दृष्टि नई वास्तविकता के चित्रण के हेतु नई रचना-शील पीढ़ी के लिए इस कारण प्रेरणा का स्रोत नहीं बन सकती कि नई वास्त-

विकृता को कलात्मक अभिव्यक्ति देने के लिए जिस 'पाजिटिव', सक्रिय तथा रचनात्मक दृष्टिकोण की आवश्यकता है, उसका 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' में सर्वथा अभाव है, अतएव विरासत के रूप में उसकी सार्थक प्रेरणा को स्वीकार करते हुए भी उसका अनुगमन संभव नहीं है।[२१]

वस्तुतः 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' अपने समय की ऐतिहासिक आवश्यकता थी, किन्तु नई वास्तविकता नये दृष्टिकोण की माँग कर रही थी और उसके प्रति वही रुख नहीं रखा जा सकता था जो सामंतवादी-पूँजीवादी व्यवस्थाओं के प्रति 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' में स्पष्ट हुआ था। जहाँ तक सोवियत लेखकों का प्रश्न है, जो नई वास्तविकता अपने चित्रण के लिए उनकी रचनाशीलता को आमन्त्रण दे रही थी, उसके संदर्भ में समाजवादी यथार्थ-दृष्टि का स्वीकार उनके लिए आवश्यक था, किन्तु एक दूसरा सवाल था कि वे लेखक जो अभी भी पूँजीवादी व्यवस्था में रह रहे थे, वास्तविकता के बारे में वे कौन-सा रुख अपनावें? इस सवाल का उत्तर इस रूप में सामने आया कि ऐसे लेखक विद्यमान पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति अपने कठोर आलोचनात्मक रुख को कायम रखें, साथ ही वैज्ञानिक समाजवाद ने उन्हें जो नई समझ दी है, उसके प्रकाश में समाज में उभर रही उन प्रगतिशील ताकतों को अपना दृढ़ समर्थन प्रदान करें, इतिहास देर-सवेर जिनके पक्ष में निर्णय देने वाला है।

यह प्रश्न हमने यहाँ इसलिए उठाया है कि 'समाजवादी यथार्थवाद' के अंतर्गत निहित यथार्थ-दृष्टि को लेकर स्वयं उन लोगों में भी कुछ दृष्टिभेद है, जो उसके पुरस्कर्त्ता हैं। दृष्टिभेद का मूलभूत मुद्दा यही है कि समाजवादी यथार्थ दृष्टि से सही आशय क्या है? समाजवादी वास्तविकता का चित्रण करना उसका लक्ष्य है अथवा वास्तविकता का समाजवादी दृष्टि के आधार पर चित्रण करना उसका साध्य है? लूनाचरस्की उन विचारकों का प्रतिनिधित्व करते हैं जो समाजवादी वास्तविकता के चित्रण को 'समाजवादी यथार्थवाद' का लक्ष्य घोषित करते हैं,[२२] जबकि चाउ यांग 'समाजवादी यथार्थवाद' से यह आशय लेते हैं कि वास्तविकता का उसके क्रांतिकारी विकास-क्रम के अनुरूप ईमानदारी से चित्रण किया जाय।[२३] जहाँ तक हमारा अभिमत है, ऊपर के मंतव्यों में जो दृष्टिभेद हमें लक्षित होता है, वह बहुत तात्त्विक नहीं है। तात्त्विक बात यह है कि वैज्ञानिक समाजवाद द्वारा प्रदत्त समझ की अनुकूलता में लेखक अपने चारों ओर फैली वास्तविकता का ईमानदारी तथा सचाई से चित्रण करें। यदि उसकी समझ साफ है, पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति उसका आलोचनात्मक रुख वही नहीं रहेगा, जैसा कि वैज्ञानिक समाजवाद की समझ के अभाव में आलोचनात्मक यथार्थवाद के अंतर्गत उसका रूप उभरा है। ऐसी स्थिति में दृष्टिभेद और विवाद के लिए वस्तुतः कोई गुन्जाइश नहीं रह जाती। फिर, 'समाजवादी यथार्थवाद' आलोचनात्मक रुख से सर्वथा शून्य हो, ऐसी बात भी नहीं है। सर्वहारा-संस्कृति के निर्माण के प्रति रचनात्मक दृष्टि पर बल देते हुए भी सोवियत लेखकों की पहली कांग्रेस में ही फादयेव ने रचनाकारों को चेतावनी देते हुए कहा था कि पूर्ववर्ती यथार्थवाद के विषय में गोर्की के दृष्टिकोण को संपूर्णतः स्वीकार करने का कोई सवाल नहीं है। उन्होंने स्पष्टतः घोषित किया कि 'समाजवादी यथार्थवाद' न केवल सामाजिक सम्बन्धों के नये रूपों पर बल देता है, वह सर्वाधिक आलोचनात्मक किस्म का यथार्थवाद भी है।[२४] नई वास्तविकता के प्रति

रचनात्मक दृष्टि के साथ-साथ आलोचनात्मक रुख रखने का स्पष्ट संकेत करते हुए लेनिन ने भी कहा कि नई संस्कृति का निर्माण पूँजीवादी मानसिकता में ढले व्यक्ति ही, नई वास्तविकता के संदर्भ में, शनैः शनैः अपने को बदलते हुए करेंगे। क्रांति के तुरन्तबाद रूसी समाज नई समाजवादी मूल्यवत्ता ग्रहण न कर लेगा। अपने ह्रासशील संस्कारों का क्रमशः परित्याग करते हुए लोग शनैः-शनैः ही समाजवादी नैतिकता तथा समाजवादी मूल्यों को प्रश्रय देंगे। कहने का मतलब यह कि क्रांति के उपरांत भी रूस में ऐसा कुछ बचा रहेगा जो आलोचना की अपेक्षा रखता हो। ऐसी स्थिति में रचनात्मक और विधेयात्मक तत्त्वों से आधारतः निर्मित होते हुए भी 'समाजवादी यथार्थवाद' के लिए जरूरी है कि वह आलोचनात्मक रुख का भी परित्याग न करे।

इस प्रकार की धाराणाएँ ही पूर्ववर्ती 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' तथा 'समाजवादी यथार्थवाद' के बीच एक रिश्ता कायम करती हैं, और जार्ज लुकाच ने उन्हीं के सूत्रों को उठाते हुए इस रिश्ते को कायम रखने पर बल दिया है।

इसके पहले कि हम 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' तथा 'समाजवादी यथार्थवाद' के इस रिश्ते को स्पष्ट करें, हम 'समाजवादी यथार्थवाद' के सिद्धांत-पक्ष पर एक सरसरी दृष्टि डालना आवश्यक समझते हैं।

'समाजवादी यथार्थवाद' रचनाकार से इस समझ की अपेक्षा रखता है कि वह सामाजिक विकास-नियमों को उनकी मूल द्वन्द्वात्मकता में परखे और पहचाने, सामाजिक विकास की मूलवर्ती दिशा को उसकी संपूर्ण ऐतिहासिक प्रकृति के साथ समझे ताकि अंतर्विरोधों तथा असंगतियों के बीच से होने वाले समाज के गुणात्मक विकास के प्रति उसकी दृष्टि धुंधली न होने पावे। 'समाजवादी यथार्थवादी' की यह वैज्ञानिक समझ रचनाकार को वस्तुगत यथार्थ को उसके क्रांतिकारी तथा वैज्ञानिक विकास के साथ देखने की प्रेरणा देती है। समाजवादी यथार्थ-दृष्टि से युक्त लेखक की यह समझ उसे यह बोध देती है कि इतिहास की गति अदृश्य शक्तियों द्वारा संचालित न होकर कतिपय नियमों से निर्धारित होती है, और उन नियमों को समझा और परखा जा सकता है। इतिहास की गति का नियमन करने वाले नियमों के भौतिक आधार की यह पहचान ही उसे इस निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि मनुष्य इतिहास और परिस्थितियों का दास नहीं, वरन् उनका निर्माता है। वह अपने सार्थक तथा संगठित प्रयास से इतिहास तथा परिस्थितियों को बदल सकता है। इतिहास के अपने नियम उसका बन्धन न होकर उसके सहायक हैं। मनुष्य द्वारा अपनी शक्ति तथा क्षमता का यह अहसास समाजवादी यथार्थ-दृष्टि की बहुत बड़ी विशेषता है, जिसे 'समाजवादी यथार्थवाद' के सिद्धान्तकारों ने 'ऐतिहासिक आशावाद' का नाम दिया है। जाहिर है कि यह आशावाद रोमांटिकों के आशावाद से इस कारण भिन्न है कि जहाँ रोमांटिकों का आशावाद उनकी भोली कल्पना के अलावा कुछ नहीं है, वहाँ इस आशावाद की जड़ें समाज तथा इतिहास के विकास-नियमों की समझ में गहराई से जमी हैं। रोमांटिकों का थोथा आशावाद जहाँ मोह भंग की नियति पाता है, वहाँ यह आशावाद मनुष्य के उज्ज्वल भविष्य को साकार उपस्थिति में अपनी प्रामाणिकता सूचित करता है।

'समाजवादी यथार्थवाद' लेखक से अपेक्षा करता है कि वह समाज-विकास की वैज्ञानिक समझ को आत्मसात करके ही यथार्थ-चित्रण में अग्रसर हो।

राल्फ फाक्स के अनुसार 'उसे निरे वर्णन या आत्मगत विश्लेषण से ही नहीं, बल्कि परिवर्तन से, कार्य-कारण-सम्बन्ध से, संकट और द्वन्द्व से सरोकार रखना चाहिए।'[२५] समाजवादी यथार्थवाद' का आग्रह है कि लेखक वस्तुगत यथार्थ को उसकी सम्पूर्णता में, उसके क्रान्तिकारी विकास के साथ उद्घाटित करे, न कि उसे खण्डशः अथवा जड़ रूप में चित्रित करे। समाजवादी यथार्थ के लेखक की ऐतिहासिक समझ इस प्रकार की हो कि वह जान सके कि इतिहास का विकास पुराने को सुरक्षित रखने से और उसे नष्ट होने से रोकने से नहीं, वरन् नए द्वारा पुराने का स्थान ग्रहण करने से होता है। उसका कर्त्तव्य है कि वह समाज में उभरने वाले नये आर्थिक-सामाजिक रूप को देखे, नई वर्ग-शक्तियों का अध्ययन करे, पुरानों की तुलना में, पुरानों के साथ उनका संघर्ष दिखाते हुए नए विचारों तथा नये व्यक्तियों को प्रतिबिम्बित करे।[२६]

'समाजवादी यथार्थवाद' जीवित चरित्रों के चित्रण पर बल देता है। राल्फ फाक्स के अनुसार-"आज मानव हमारी समाज व्यवस्था के भरभराकर ढह जाने के साथ उत्पन्न होने वाली वाह्य वस्तुगत विभीषिकाओं के खिलाफ, बेकारी और कृषि के ह्रास के खिलाफ, मशीन के प्रभुत्व के खिलाफ लड़ने पर बाध्य है। साथ ही उसे अपने मस्तिष्क के अन्दर इन सब चीजों के मनोगत प्रतिबिम्ब के खिलाफ भी लड़ना है। उसे लड़ना है दुनिया को बदलने के लिए, सभ्यता को बचाने के लिए। और, साथ ही उसे मानव-आत्मा में पूंजीवादी अराजकता को खत्म करने के लिए भी लड़ना है।"[२७] "इस दुहरे संघर्ष में ही, जिसमें प्रत्येक पक्ष बारी-बारी से एक दूसरे को प्रभावित करता और एक-दूसरे से प्रभावित होता है, अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी यथार्थवाद के बीच के पुराने तथा कृत्रिम विभाजन का अन्त होगा।"[२८]

'समाजवादी यथार्थवाद' के पुरस्कर्त्ताओं ने चरित्र-चित्रण के अन्तर्गत जीवित तथा सक्रिय चरित्रों की प्रस्तुति का विशेष रूप से आग्रह किया है और ऐसे चरितों का स्रोत जन-जीवन को माना है, जिसका गहरा परिचय और जिससे अत्यन्त घनिष्ठ सम्पृक्ति समाजवादी यथार्थ के लेखक के लिए अनिवार्य है। इसी क्रम में उन्होंने सक्रिय नायकों की चर्चा की है, जो विपरीत परिस्थितियों के बीच संघर्ष करते हुए अपने लक्ष्य तक पहुँचते हैं।

'समाजवादी यथार्थवाद' के अन्तर्गत लेखक की भविष्य-दृष्टि अर्थात् उस 'विज़न' की चर्चा विशेष रूप से हुई है, जो उसकी कृति के बीच से उभरता हुआ उसकी समाजवादी यथार्थ-दृष्टि को सार्थक बनाता है। समाजवादी यथार्थवाद' के प्रवक्ता इस भविष्य-दृष्टि को यथार्थ-विरोधी नहीं मानते और उसे रोमांटिकों के 'हवाई स्वप्नों' से इस आधार पर एकदम भिन्न मानते हैं कि यह भविष्य-दृष्टि लेखन की समाज-विकास-सम्बन्धी वैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक समझ के अनुकूल साकार होने वाली एक जीवित सचाई है,[२९] जिसका आधार वर्तमान का यथार्थ ही है। यथार्थ मात्र वही नहीं है जो कि हमारे समक्ष अथवा हमारे चारों ओर विद्यमान है। वह भी उतना ही जीवित यथार्थ है, जिसे कि वर्तमान के गर्भ से, उसकी ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक परिणति के रूप में सामने आता है।

'समाजवादी यथार्थवाद' के सिद्धान्त पक्ष की यह एक सामान्य रूपरेखा है, जिसे सूत्र रूप में हम निम्नलिखित तरीके से प्रस्तुत कर सकते हैं।

(१) वस्तुगत यथार्थ का उसके क्रान्तिकारी विकास की अनुरूपता में, समाज-

-वादी दृष्टि के आधार पर चित्रण ।

(२) समाज-विकास की द्वन्द्वात्मक तथा ऐतिहासिक प्रक्रिया के बीच प्रगतिशील तथा प्रतिगामी शक्तियों की परख एवं उनका चित्रण ।

(३) ऐतिहासिक विकास की मूलभूत अन्तर्धाराओं का ज्ञान, नई और उभरती हुई वास्तविकता को समर्थन देते हुए जर्जर तथा ह्रासमूलक शक्तियों का विरोध । जीवन के रचनात्मक पक्ष पर विशेष बल और संपूर्ण कलात्मक क्षमता के साथ उसका चित्रण ।

(४) समाज में व्याप्त वर्ग-संघर्ष तथा वर्गीय असंगतियों का गहरा और सूक्ष्म विश्लेषण तथा उद्घाटन ।

(५) मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का चित्रण; जीवित सक्रिय तथा सामाजिक मनुष्य की प्रतिष्ठा, साथ ही सक्रिय नायक की सृष्टि ।

(६) भविष्य के एक क्रान्तिकारी, रचनात्मक तथा तर्क-सम्मत 'विजन' का मूर्त्तीकरण ।

(७) सर्वहारा विश्व-दृष्टिकोण के साथ सम्पूर्ण वैचारिक तादात्म्य ।

'समाजवादी यथार्थवाद' की उक्त आकृति को मूर्त करने का दावा करती हुई जो रचनाशीलता, उसके उद्भव के साथ सामने आई, कुछ तो लेखकों की अपनी रचनागत असामर्थ्य, सतही कलात्मक समझ तथा दृष्टिगत यांत्रिकता और बहुत कुछ सत्ता के शीर्ष पर बैठे हुए लोगों के अवाञ्छित हस्तक्षेपों और भ्रान्त मार्गदर्शन के कारण, वह रचनाशीलता समाजवादी यथार्थ-दृष्टि को उसके वास्तविक आशयों एवं सम्पूर्ण कलात्मकता के साथ मूर्त नहीं कर सकी । उसका दावा अधिकांशतः निस्सार साबित हुआ । सरलीकृत, यांत्रिक दृष्टि समर्थ से समर्थ रचनाशीलता को भी किस तरह गुमराह कर सकती है, एक नहीं, अनेक आयामों पर इसके उदाहरण स्पष्ट हुए । स्टालिन-जंदानोव युग की रूस की सर्जना को देखकर हमारे उक्त कथन की असलियत को परखा जा सकता है ।

आर्थिक-भौतिक आधार में परिवर्त्तन होते ही उसके ऊपर स्थिति समूची बाह्य-संरचना भी कमोबेश उसी तेजी के साथ रूपांतरित हो जाती है, इसका अर्थ यह लगाया गया कि समाजवादी क्रन्ति की सफलता के साथ ही रूस में समाजवादी व्यवस्था भी अपनी सम्पूर्णता में आ गई, फलतः उस व्यवस्था के, उस व्यवस्था में रहने और कार्य करने वालों के ऐसे आदर्श चित्र प्रस्तुत किये गये गोया किसी जादू से रातों-रात लोगों की मानसिकता बदल गई हो । रूस के समाज में पुराने संस्कारों का लेश मात्र भी न रह गया हो, रातों-रात अपनी सारी असंगतियों से मुक्त वह एक समाजवादी समाज में ढल गया हो । आदर्श तथा सक्रिय नायकों के ऐसे पुतले खड़े किये गये जिन्हें देखकर पुराने महाकाव्यों के महामानवों का भ्रम होता था । भविष्य का ऐसा क्रान्तिकारी 'विजन' प्रस्तुत किया गया, गोया 'समाजवादी यथार्थवाद' यथार्थवादी कलान्दोलन का नहीं, रोमांटिक कलान्दोलन का अगला विकास हो । समाजवादी व्यवस्था में जन्म लेने वाली कला पूंजीवादी व्यवस्था में पनपने वाली कला से श्रेष्ठ होगी, इस स्थापना का आधार लेते हुए अपनी सर्जना की तुलना में पूर्ववर्ती युगों की समस्त सर्जना को हलकी घोषित किया गया । ऐसे विषयों को लेकर सर्जना की गई जो कला-रचना के लिए सर्वथा अनुपयुक्त थे । कहने का तात्पर्य यह कि एक खास दौर में रूस में ऐसी सर्जना की बाढ़-सी आ गई जो न केवल समाजवादी-यथार्थ-दृष्टि की

जीवन्त सम्भावनाओं से शून्य थी, वरन् जो अपने कलात्मक व्यक्तित्व की दृष्टि से भी बहुत दरिद्र थी। कुछेक सशक्त अपवादों को छोड़कर स्टालिन-जदानोव युग में रूस में कला-सर्जना का औसत रूप इसी प्रकार का रहा। स्थूल सिद्धान्तों का जामा पहनकर सामने आने वाली इस निर्जीव रचनाशीलता के विरोध में एक तीखी प्रतिक्रिया का उठना स्वाभाविक था, और परिस्थितियों के अनुकूल होते ही, इस प्रकार की प्रतिक्रिया सामने आई भी। न केवल वरिष्ठ रचनाकारों तथा साहित्य-चिंतकों ने इस स्थिति के प्रति चिन्ता व्यक्त की, नई पीढ़ी के रचनाकार-विचारकों ने भी उसके खिलाफ आवाज उठाई।[१०]

किन्तु एक खास-दौर की रचनाशीलता के आधार पर गैर-समाजवादी देशों के निहित-स्वार्थ कला-चितकों तथा रचनाकारों का इस रचनाशीलता के साथ-साथ स्वतः समाजवादी-यथार्थ-दृष्टि को नकारने का प्रयास कहीं अधिक चित्य है। औसत रचनाशीलता की बात छोड़ दी जाई तो काव्य, कथा-साहित्य, नाटकों तथा अन्य कला-माध्यमों के क्षेत्र में समाजवादी यथार्थ-दृष्टि की उपलब्धियां इतनी भास्वर हैं, कि निहित स्वार्थ व्यक्तियों द्वारा समाजवादी कला-दृष्टि पर लगाये जाने वाले आरोप अपनी सारी अहमियत खो देते हैं। अपनी सशक्त सर्जना के बल पर ही गोर्की, शोलोखोव, फादयेव, फेदिव, मायकोवस्की, आस्त्रावस्की जैसे रूस के सर्जना ही नहीं, वरन् लुई अरागा, नाजिम हिकमत, पाब्लो नेरुदा जैसे विश्व के दूसरे देशों के रचनाकार भी विश्व-स्तर की ख्याति अर्जित कर सके हैं। इनकी सर्जनागत सामर्थ्य समाजवादी यथार्थ-दृष्टि की सामर्थ्य तथा कलात्मक क्षमता को ही प्रमाणित करती हैं। समाजवादी यथार्थ-दृष्टि की सामर्थ्य के आधार पर ही जार्ज लुकाच ने 'आलोचनात्मक-यथार्थवाद' के साथ उसके घनिष्ठ सम्बन्धों पर बल दिया है, ताकि यथार्थवादी कलान्दोलन का यह नव्यतम विकास अपनी समूची कलात्मक तथा दृष्टिगत सम्भावनाओं को चरितार्थ कर सके।

आलोचनात्मक यथार्थवाद तथा समाजवादी यथार्थवाद

'समाजवादी यथार्थवाद' की श्रेष्ठता को लुकाच ने परिप्रेक्ष्य के प्रश्न से जोड़ा है।[११] 'समाजवादी यथार्थवाद' का परिप्रेक्ष्य निश्चित रूप से समाजवाद के लिए संघर्ष है। अतः 'समाजवादी यथार्थवाद' आलोचनात्मक यथार्थवाद से महज़ इस कारण ही भिन्न नहीं है कि वह एक ठोस समाजवादी परिप्रेक्ष्य पर आधारित है, वरन् इस कारण भी भिन्न है कि वह समाजवाद की स्थापना के लिए संघर्षरत शक्तियों का चित्रण करने के लिए इस परिप्रेक्ष्य का इस्तेमाल एक भीतरी ताकत के रूप में भीतर से करता है। इसके लिए समाजवादी समाज पूंजीवादी समाज से जुड़ा न रहकर अपने में एक स्वतंत्र सत्ता रखता है, या आलोचनात्मक यथार्थवादियों की भाँति पूंजीवादी उलझनों से मुक्ति पाने का शरण स्थल न होकर उसके अपने जीवन की सचाई है।[१२] आलोचनात्मक यथार्थवाद' का लेखन यदि समाजवाद का चित्रण करता भी है, तो एक बाहरी व्यक्ति के रूप में। समाजवाद का परिप्रेक्ष्य लेखन को इतिहास तथा समाज को इस रूप में देखने की दृष्टि देता है, जिसमें उनकी अपनी चरितार्थता निहित है। साहित्य-सर्जना के क्षेत्र में यह बात एक अत्यन्त लाभकारी और नये अध्याय की सृष्टि करती है, किन्तु चूंकि सामाजिक तथा ऐतिहासिक यथार्थ की सही सौंदर्यशास्त्रीय समझ 'यथार्थवाद' की अनिवार्य-पूर्व-शर्त है, और इसका सम्बन्ध आलोचनात्मक

तथा समाजवादी दोनों प्रकार की यथार्थ-दृष्टियों से है, अतएव किसी भी यथार्थ-वादी लेखन का इस कसौटी पर खरा उतरना आवश्यक है। आलोचनात्मक यथार्थवादी लेखकों में अनेक इस दृष्टि से सफल रहे हैं, और उन्होंने समाज को उसकी सम्पूर्णता में देखने और चित्रित करने में दूर तक सफलता प्राप्त की है। ये बातें बावजूद 'भीतर से' किये गये चित्रण के अभाव के, 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' को 'समाजवादी यथार्थवाद' से एकदम पृथक् नहीं करतीं। ये कुछ ऐसे सूत्र प्रस्तुत करती हैं कि दोनों के बीच सम्बन्ध कायम किया जा सके। लुकाच के अनुसार इन दोनों यथार्थवादी दृष्टियों के बीच सन्धि का एक ठोस सैद्धान्तिक आधार सत्य के प्रति समाजवाद का उत्कट आग्रह है। यथार्थ के सही चित्रण को जितनी केन्द्रीयता मार्क्सवाद में प्राप्त है, उतनी किसी भी सौन्दर्य-शास्त्र में नहीं।[३३] सत्य के प्रति यह निष्ठा ही समाजवाद को यथार्थवाद से जोड़ती है, और यही प्रकारान्तर से 'समाजवादी यथार्थवाद' और 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' को एक-दूसरे के निकट लाती है। सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर्गत 'यथार्थ-वाद' की प्रभुता स्थापित करने के संघर्ष में समाजवादी यथार्थ के सिद्धान्तविदों ने आलोचनात्मक यथार्थवादियों को सदैव अपने सहायकों के रूप में स्वीकार किया है। अ-यथार्थवादी दृष्टियों के विरोध में दोनों सबसे आगे रहे हैं। यह तथ्य भी इन दोनों यथार्थवादी दृष्टियों के बीच एकता की आवश्यकता का प्रति-पादन करता है।[३४] लुकाच के अनुसार यह 'समाजवादी यथार्थवाद' के हित में है कि वह इस एकता के सूत्र को दृढ़ करे।

सर्वहारा वर्ग के द्वारा सत्ता छीन लेने के उपरान्त आलोचनात्मक और समाजवादी यथार्थवाद के सम्बन्ध की क्या स्थिति हो सकती है, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भी लुकाच ने कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं। उनके अनुसार, इस बात को सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि जनता के संस्कार सत्ता के बदलते ही आप से आप नहीं बदल जाते। सत्य यह है कि यथार्थ के रूपांतरण के क्रम में ही मनुष्य अपने को बदलता है। ऐसी स्थिति में बुर्जुआ प्रगतिशील आलोचनात्मक यथार्थवादियों का रूपांतरण भी, यथार्थ के नए सन्दर्भों में शनैः शनैः होगा। कहने का तात्पर्य यह कि नये समाजवादी समाज में 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' के लिए गुंजाइश रहेगी। जैसे-जैसे समाज नए समाजवादी आदर्शों के अनुरूप ढलता जायगा, 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' के लेखक की सत्य तथा यथार्थ निष्ठा उसे इस नये यथार्थ के चित्रण के लिए प्रेरित करेगी, कारण तब समाजवाद उसके लिए मात्र एक परिप्रेक्ष्य के रूप में न रहकर उसके अपने अस्तित्व के आधार के रूप में होगा।[३५] अतएव, समाजवादी यथार्थवाद' को 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' से अलग हटाने की जरूरत नहीं है वरन् चूंकि सच्ची मार्क्सवादी दृष्टि का आधार वस्तुगत यथार्थ का अन्वेषण ही है, अतः यह समाजवादी यथार्थवाद' के अपने हित में है कि वह 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' से गहरा रिश्ता कायम करे। 'समाजवादी यथार्थवाद' का सम्बन्ध भविष्य के विषय में ही एक नये दृष्टिकोण से नहीं, अतीत के भी, समाजवादी दृष्टिकोण से किये गये मूल्यांकन तथा विश्लेषण से है।

समग्रतः, कहा जा सकता है कि समाजवादी समाज की स्थापना के साथ शनैः शनैः 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' अपना रूपांतरण करता जायगा, और एक स्थिति ऐसी आयेगी जब वह अपने पुराने सन्दर्भों में रह ही न जायगा।

यथार्थवादी कलान्दोलन के इन दो प्रधान स्तम्भों की रचनागत उपलब्धियों के विषय में, प्रस्तुत निबन्ध में, हम विशेष चर्चा नहीं कर सके हैं, किन्तु बालज़ाक, डिकेन्स, रोमा, रोलाँ, स्टेंडल, अनातोले फ्रान्स, दोस्ताएव्स्की, गोगल, टॉलस्टॉय, एण्टन चेखव तथा गोर्की, शोलोखोव, फादयेव, आस्त्रावस्की, फेदिन, लुई अरगाँ, पाब्लो नेरुदा, मायकोवस्की आदि वे नाम हैं, जिनके रचनात्मक कृतित्व ने विश्व को क्लासिक की कोटि में रखी जाने वाली देन दी है। इन रचनाकारों के कृतित्व में 'यथार्थवाद' की शिखर-उपलब्धियों के दर्शन किये जा सकते हैं। पूंजीवादी सभ्यता के महान् गद्य-रूप उपन्यास को 'यथार्थवाद' ने महाकाव्य की ऊँचाइयों तक पहुँचाया है। दो विराट सभ्यताओं के उत्कर्ष तथा ह्रास का सारा इतिहास इन उपन्यासों में मूर्त है। इनके खण्डहरों पर आकृति ग्रहण करती हुई एक महान् सभ्यता की जीवन्त छवि भी इनमें है। शताब्दियों की अवधि में मनुष्यता के विराट प्रयास, उसके हर्ष-विषाद, आशाएँ, आकांक्षाएँ, सब इनमें बड़े यथार्थ सन्दर्भों में उभरी हैं। उपन्यास ही नहीं, कविता, नाटक तथा अन्य कला-माध्यमों में भी यथार्थवादी दृष्टि ने अपनी कलात्मक क्षमता को समूचे उत्कर्ष के साथ प्रस्तुत किया है।

'यथार्थवाद' वाह्यजगत की भौतिक सत्ता को स्वीकार करने वाला दर्शन है, और 'यथार्थवाद' की कला-चेतना भी इसी दार्शनिक विचार की देन है। यथार्थवादी जीवन-दृष्टि तथा कला-दृष्टि का विकास विज्ञान द्वारा अनुमूलित और पुष्ट है। चूंकि विज्ञान स्वतः अपनी अनन्त सम्भावनाओं के साथ आज विकासशील है, अतः उससे नया आलोक प्राप्त करते हुए 'यथार्थवाद' की विकास-यात्रा भी अबाध गति से जारी रहेगी।

हमारा युग-जीवन आज विभीषिकाओं से आक्रांत है। सामंतवादी-पूंजीवादी दमन चक्र आज भी मनुष्यता के एक बड़े भाग को पीस रहा है। आणविक युद्ध की धमकी देकर आक्रांतकारी शक्तियाँ समूची मनुष्यता को आतंकित कर रही हैं। किन्तु, इसके साथ-साथ शान्ति की शक्तियाँ भी सक्रिय हैं, वरन् युद्ध की शक्तियों की अपेक्षा वे अधिक प्रबल हैं। दुःख और दैन्य से संत्रस्त मनुष्य को उबारने के लिए मनुष्य की ही संगठित शक्ति आगे आ गई है। यथार्थवादी साहित्य तथा कला को, इस सारे परिदृश्य को समेटना और अभिव्यक्ति देना है। वही इस भूमिका का सही मायने में निर्वाह भी कर सकती है। उसे संघर्ष करना है मनुष्य को निःशेष और निःस्वत्त्व कर देने वाली व्यवस्थाओं से, उसे संघर्ष करना है युग की तमाम बीमार और ह्रासशील दार्शनिक तथा कलात्मक रुझानों से, और कहने की आवश्यकता नहीं कि यह कार्य आसान नहीं है। दृढ़ प्रतिज्ञ, समर्थ तथा हर प्रकार का जोखिम उठाने के लिए तैयार रचनाकार ही उसे संपादित कर सकते हैं।

सवाल, वास्तविकता की तेज आँच से घबड़ाकर प्राप्त की जाने वाली क्षणिक सुरक्षा का नहीं, बाहर निकलने और जोखिम उठाने का है, खुले दिल और दिमाग से वास्तविकता के साक्षात्कार का है, समाज और जीवन के भीतर प्रविष्ट होकर सारे उलझावों के बीच रास्ता ढूंढने, रास्ता बनाने और रास्ता बताने का है। पिछली दो शताब्दियों से यथार्थवादी रचनाकार अपनी यह निर्णायक भूमिका निभा रहे हैं, और आज, जबकि मिटती हुई व्यवस्थाएँ अधिक उग्र होकर मनुष्यता के हित को रौंद देना चाहती हैं, उन्हें अपनी कर्मठता को नये

आयाम देते हैं।[२६] यथार्थ दृष्टि रचनाकारों के पास महान् पूर्ववर्तियों का उदाहरण है, उनके पास समर्थ वैज्ञानिक दृष्टि तथा सक्षम-रचनाशीलता है, अतएव आश्वस्त होकर कहा जा सकता है कि वे अपने दायित्व को निभायेंगे तथा यथार्थवादी कला की पताका ऊँची रखेंगे। जार्ज लुकाच के शब्दों में—"समूची दुनिया की निगाहें आज एक ऐसे साहित्य की प्रतीक्षा में लगी हुई हैं जो एक शहतीर की भाँति हमारे अपने समय के उलझावों से भरे जंगल के भीतर तक बिंधता चला जाय। महान् यथार्थवादी साहित्य ही यह भूमिका निभा सकता है। वही राष्ट्रों के प्रजातांत्रिक पुनर्जन्म की अगवाई भी कर सकता है।[२७]

●

सन्दर्भ-सूची

१. बोरिस सुखोव—हिस्ट्री आफ रियलिज्म, पृष्ठ-५
२. मार्क्स-एंगेल्स—संकलित रचनाएँ, भाग-३, प्रगति प्रकाशन, मास्को, पृष्ठ-४०१।
३. अलेक्जेण्डर हर्जन—दर्शन, साहित्य और आलोचना, अनु० नरोत्तम नागर, पृष्ठ-१२७।
४. वही—पृष्ठ-१००।
५. मार्क्स-एंगेल्स, संकलित रचनाएँ, भाग-३ पृष्ठ-६७-६६।
६. बोरिस सुखोव, हिस्ट्री आफ रियलिज्म, पृष्ठ ७६।
७. वही।
८. कार्ल मार्क्स—दि न्यूयार्क ट्रिब्यून-१८५४ ई०।
९. अर्न फिशर—दि नेसेसिटी आफ आर्ट पृष्ठ-१०१।
१०. राल्फ फाक्स, दि नावेल एण्ड दि पीपुल, पृष्ठ-८७-८८।
११. वही, पृष्ठ-११०।
१२. अर्न फिशर—दि नेसेसिटी आफ आर्ट, पृष्ठ-१०३।
१३. बोरिस सुखोव, हिस्ट्री आफ रियलिज्म, पृष्ठ १०१।
१४. वही, पृष्ठ-१०४।
१५. एंगेल्स—मार्गरेट हार्कनेस को लिखा गया पत्र, उद्धृत, राल्फ फाक्स, दि नावेल एण्ड दि पीपुल, पृष्ठ १११-११२।
१६. लेनिन—लियो तो टालस्टाय-रूसी क्रांति का दर्पण।
१७. अर्न फिशर—दि नेसेसिटी आफ आर्ट, पृष्ठ-१०७।
१८. जार्ज लुकाच—स्टडीज़ इन यूरोपियन रियलिज्म, पृष्ठ-६।
१९. जार्ज लुकाच, दि मीनिंग आफ कन्टेमपरेरी रियलिज्म, पृष्ठ-१०८।
२०. मैक्सिम गोर्की—ऑन लिटरेचर, पृष्ठ-२६४।
२१. वही, पृष्ठ-२६४।
२२. ए० लूना चरस्की—सोशलिस्ट रियलिज्म इन लिटरेचर एण्ड आर्ट, पृष्ठ-५७।
२३. चाउ यांग—चाइनाज़ न्यू लिटरेचर एण्ड आर्ट, पृष्ठ-६५।
२४. अलेक्जेण्डर फादयेव—सोशलिस्ट रियलिज्म इन लिटरेचर एण्ड आर्ट, पृष्ठ-१७।
२५. राल्फ फाक्स—दि नावेल एण्ड दि पीपुल, पृष्ठ-१३४।
२६. चाऊ यांग—चाइनाज़ न्यू लिटरेचर एण्ड आर्ट, पृष्ठ-६६।
२७. राल्फ फाक्स—उपन्यास और लोक जीवन—अनु० नरोत्तम नागर, पृष्ठ-१०१।
२८. वही, पृष्ठ-१०१।
२९. अलेक्जेण्डर फादयेव—सोशलिस्ट रियलिज्म इन लिटरेचर एण्ड आर्ट, पृष्ठ-६७।
३०. मोएसाइकगान—सोशलिस्ट रियलिज्म इन लिटरेचर एण्ड आर्ट, पृष्ठ-१६६।

३१. जार्ज लुकाच—दी मीनिंग आफ कन्टेम्परेरी रियलिज्म, पृष्ठ-९३।
३२. वही।
३३. वही।
३४. वही, पृष्ठ-१०२।
३५. वही, पृष्ठ-१०७।
३६. हावर्ड फास्ट—लिटरेचर एण्ड रियलिटी, पृष्ठ-७।
३७. जार्ज लुकाच—स्टडीज़ इन यूरोपियन रियलिज्म, पृष्ठ-१६



साहित्य में 'वस्तु' और 'रूप'

सत्य प्रकाश मिश्र

मार्क्सवादी सौन्दर्य शास्त्र में 'सुन्दरता' की धारणा का विकास 'साधन, भाषा और सहयोग' पर निर्भर माना जाता है।[१] मनुष्य की सौन्दर्य चेतना जो कला और साहित्य में विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होती है वह उसकी सामाजिक चेतना का अमूर्त्तन ही है। प्रागैतिहासिक चित्रों में मनुष्य के अस्तित्व के लिए अनिवार्य स्थितियों की ही कल्पना निहित है। भाषा और मस्तिष्क दोनों का विकास श्रम प्रक्रिया में उत्पादन की शर्तों के द्वारा हुआ है। प्रकृति और मनुष्य के संघर्ष का इतिहास औजारों और सहयोग के द्वारा उसके मस्तिष्क का इतिहास है।[२] सुन्दरता की धारणा का विकास प्राणिज वातावरण से सामूहिकता के अनुभव के द्वारा होता है। मनुष्य के अस्तित्व की अनिवार्य शर्तें और उसके लिए किये जाने वाले उत्पादन के मध्य के सामूहिक और वैयक्तिक अनुभव सौन्दर्य-बोध और मूल्यबोध दोनों का निर्माण करते हैं। मार्क्सवादी दृष्टि से यदि कला-कृति कलात्मक है तो वह नैतिक भी होगी।[३] अर्थात् लोगों को शिक्षित करेगी एक विशेष प्रकार के उद्देश्य के लिए तैयार भी करेगी। प्रत्येक सौन्दर्य चेतना चूंकि विकसित होती रहती है इसलिए अपने संदर्भ में वह भौतिक उत्पादन के तर्क से नये वस्तुतत्वों का सृजन करती है। निरन्तर संस्कारित होते हुए तकनीकी विकास जिस प्रकार से उत्पादन शक्तियों में वृद्धि कर देते हैं उसी प्रकार से सौन्दर्य चेतना भी संस्कारित होकर साहित्य को संस्कारित करती है। साहित्य साम्प्रदायिक मूल्य दृश्य बोध में बदल जाता है।[४] अभिव्यक्ति के नये रूपों और साधनों का प्रयोग तकनीकी प्रगति के कारण अनिवार्य हो जाता है। उदाहरण के लिए गद्य विद्या का वर्तमान रूप और नये अतुकांत छंद। "भौतिक उत्पादन के बदलते ही बौद्धिक उत्पादन का चरित्र भी बदल जाता है—विचारों का इतिहास यही सिद्ध करता है।[५] साहित्य के संदर्भ में भी यही सत्य है। इस सिद्धान्त के विरोधी चाहे वे जो भी हों-श्लोवस्की से लेकर आज के 'भाषा मौन-

वादी' तक, उनका उत्तर दिया जा चुका है।[६] इस प्रकार की रचनाओं और आलोचनाओं के सामाजिक कारणों पर प्लेखानोव, ट्राटस्की, गोर्की के मतों का यहाँ उल्लेख करना पृष्ठवृद्धि के लिए उचित नहीं है। ट्राटस्की का 'लिटरेचर एँड रेवोल्यूशन' तथा प्लेखानोव को 'आर्ट एन्ड सोशल लाइफ' तथा 'दि मोनिस्ट व्यू ऑफ हिस्ट्री' उन ग्रंथों में प्रमुख हैं। एक ही प्रमुख प्रश्न है कि वे लोग भी मनुष्य हैं, भाषा का प्रयोग करते हैं और इस भौतिक संसार में ही रहते हैं। क्या वे इससे इनकार करते हैं ? यदि हाँ तो उनका लेखन महज एक चालाकी पूर्ण बकवास, छिपाव और पलायन है और यदि नहीं तो ध्यान देने की आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि वे स्वीकार करते हैं कि मनुष्य नहीं है।

'वस्तुतत्व' पुराने साहित्य के संदर्भ में ही अपना रूप ग्रहण करता है। साहित्य का समग्र विकास जब एक समय के अपने क्रान्तिकारी या प्रगतिशील चरित्र का स्थिरीकरण करके शोषक वर्ग से सम्बद्ध होकर उसकी विचारधाराओं की अभिव्यक्ति करने लगता है तो धीरे-धीरे सामाजिक शक्ति के कारण उसके मध्य से ही नयी संभावनाएँ उत्पन्न होने लगती हैं। मनुष्य के जीने की शर्त के बदलते ही मनुष्य की चेतना बदल जाती है। जिसके कारण साहित्य के आधार भूत तत्व सामाजिक वातावरण और चेतना दोनों के बदलाव से साहित्य का वस्तुतत्व बदल जाता है। "मनुष्य जब उन विचारों के बारे में बात करता है जो समाज को क्रान्तिकारी बनाती हैं तो वे यही कहते हैं कि पुराने समाज के भीतर नये समाज के तत्व निर्मित हो गये हैं। यहाँ तक कि पुराने विचारों की समाप्ति अस्तित्व की पुरानी शर्तों की समाप्ति के साथ पद प्रति पद होती है।"[७] इसके लिए सामाजिक जीवन ही महत्वपूर्ण आधार हो सकता है क्योंकि कलात्मक रूप तो विचारों और अनुभवों को सम्पोषित और सम्प्रेषित करने के साधन हैं। चूँकि वे बौद्धिक उत्पादन के साधन हैं इसीलिए अर्थ में उत्पादन शक्ति दोनों हैं। इसलिए कुछ समय तक उन पुराने कलात्मक रूपों का प्रयोग नये वस्तुतत्व के लिए वैसे ही होता है जैसे कि पुराने विकसित साधनों और संस्थाओं का प्रयोग होता है। कालान्तर में जब नये वस्तुतत्व के प्रभाव से धीरे-धीरे समाज की अन्तर्वस्तु का गुणात्मक स्वरूप बदल जाता है तो कलात्मक रूप भी बदलता है। वस्तुतः वस्तुतत्व और कलात्मक रूप का सम्बन्ध मूलाधार और अधिरचना से है। प्लेखानोव के अनुसार मूलाधार और अधिरचना के बीच सम्बन्ध का सार तत्व मार्क्स और एंगेल्स के अनुसार इस प्रकार से है।

(१) उत्पादन शक्तियों के विकास की स्थिति।

(२) इन शक्तियों के द्वारा निर्धारित आर्थिक सम्बन्ध।

(३) प्राप्त आर्थिक आधार पर विकसित सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था।

(४) उस समाज में रहने वाले लोगों के सोचने की आदत, जो कुछ तो सीधे प्राप्त आर्थिक स्थितियों से और कुछ उस समग्र सामाजिक, राजनीतिक व्यवस्था से जो उस आर्थिक नींव पर खड़ा है, निर्धारित होती है।

(५) विभिन्न विचारधाराएँ जो उस सोचने की प्रणाली के मूल गुणों को बताती हैं।[८]

प्लेखानोव का यह निष्कर्ष साहित्य के संदर्भ में यही सिद्ध करता है कि साहित्य में 'वस्तुतत्व' मात्र भौतिक परिस्थिति के संदर्भ में मनुष्य की स्थिति और सामाजिक सम्बन्धों के द्वन्द्वात्मक परिणतियों का पर्याय ही नहीं होता है बल्कि

उसमें उस काल विशेष का समग्र ऐतिहासिक विकास, आधार और अधिरचना के सभी गुणात्मक परिवर्तनों की प्रतीति भी विद्यमान रहती है। मनुष्य स्वयं भी भौतिक परिस्थिति का अंग होता है। उसके द्वारा अर्जित ज्ञान राशि और अभि-व्यक्ति के सभी माध्यम-साहित्य, कला आदि, वस्तुतत्व के निर्माण में उसी प्रकार से सहायक होते हैं, जैसे मजदूर श्रम प्रक्रिया के विभिन्न तार्किक परिणतियों के परिणाम स्वरूप स्वयं भी उत्पादन शक्ति होता है। पूर्ण यथार्थ की दृष्टि से केवल एक स्थिति का वर्णन वस्तुतत्व की अपूर्णता का कारण है। अकेलेपन और मान-वीयता की निरन्तर हानि, श्रमिक का निरन्तर मशीन के वेजान पुरजों में बदलते जाना आदि ऐसी स्थितियाँ है जो वस्तुओं के नामांकन के बजाय वस्तु तत्व का प्रमुख आधार होती हैं क्योंकि साहित्य की दृष्टि से वस्तुतत्व का तात्पर्य है वह वस्तु जो मनुष्य ही हो—मनुष्य का पर्याय हो। घोषित मनुष्यता या प्रचारित मनुष्यता के तत्व वस्तु के बजाय वस्तुतत्व को छिपाने के साधन भी हो सकते हैं। इसलिए इस लक्ष्य को ध्यान में रखकर जिस प्रकार के साहित्य की रचना होगी उसमें एक प्रकार का आदर्शवादी और वैचारिक वस्तुतत्व होगा परिणामस्वरूप उसका रूप तत्व भी उसी प्रकार से यथार्थ को अधिक छिपाने के तत्व से युक्त होगा। प्रतीकों और चिह्नों का प्रयोग अधिक होगा। सामाजिक सम्बन्ध की दृष्टि से विकास की ऐतिहासिक अवस्था में जो मानवीय होता है वह प्राणिज (जानवर) और जो प्राणिज होता है वह मानवीय हो जाता है।[९] क्यों और कैसे होता है इसी का सम्बन्ध यथार्थ से है। यदि वस्तु-तत्व इस क्यों की खोज का परिणाम होगा तो वह साहित्य को 'जन प्रिय और यथार्थवादी' दोनों बनायेगा और अगर इससे भिन्न हुआ तो वह निरन्तर अमूर्त होता जायगा। वस्तुतः वस्तु तत्व साहित्य में 'मनुष्य के होने' का प्रमाण है। मार्क्स के अनुसार वह 'समाज तत्व' का पर्याय है। और रूप मनुष्य के रहने के विभिन्न तरीकों का रूपा-न्तरण है।[१०]

"मनुष्य के होने" का तात्पर्य वस्तुओं से सम्बन्ध होना, सामाजिक होना है। उत्पादन में लीन व्यक्ति ही, श्रम प्रक्रिया के तर्क से सामाजिक होता है क्योंकि वह कई एक ग्रुप मनुष्यों के साथ मशीन को चलाने और गतिशील रखने में हिस्सा लेता है। इसलिए उसकी संवेदनाएँ अनुत्पादकी व्यक्तियों से भिन्न होती हैं। मजदूर और पूँजीपति की संवेदनाओं में इसी कारण से अन्तर पड़ता है क्योंकि एक भोक्ता होता है दूसरा आनन्द का अनुभव करने वाला। एक को मार्क्स ने सामाजिक और दूसरे को असामाजिक कहा है। उनके अनुसार 'सामाजिक व्यक्ति की संवेदनाएँ असामाजिक व्यक्ति से भिन्न होती है।'[११] इसी अर्थ में और इन्हीं कारणों से साहित्य भी सामाजिक और असामाजिक दो प्रकार का होता है एक का सम्बन्ध शोषित वर्ग से है दूसरे का शोषक से। दोनों प्रकार के साहित्यों में भौतिक शक्तियों के तर्क से अन्तर रहना लाजिमी है क्योंकि 'जो वर्ग भौतिक शक्तियों का स्वामी होता है वही बौद्धिक उत्पादन का भी स्वामी होता है।'[१२] परन्तु शासक वर्ग में स्थिरता रहने के कारण अमूर्तन की प्रक्रिया उस वर्ग के अस्तित्व के तर्क से बढ़ती जाती है जब कि उभरते हुए इस क्रान्ति वर्ग के साहित्य में नवीनता के कारण यथार्थ का जीवित स्पंदन रहता है। इस वर्ग में कलात्मकता तो उतनी नहीं रहती है। एक प्रकार का अनगढ़पन पाया जाता है पर जो नये वर्ग के वस्तु तत्व और चेतना के कारण होता है। परन्तु धीरे-धीरे

द्वन्द्वात्मकता के तर्क से वह वस्तु तत्व भी कलात्मक रूपों को वैसे ही ग्रहण करता है जैसे रूस ने पूंजीवादी औद्योगिक साधनों को ग्रहण कर लिया। फिर जैसे-जैसे यह नया तत्व रूप ग्रहण करता है संगठित होता है वैसे ही वैसे उस तत्व के स्वरूप में भी परिवर्तन होता है। कच्चे माल के 'प्रयोग मूल्य' को 'विनिमय मूल्य' के सन्दर्भ में बदलने पर यह सही है कि दोनों में 'सापेक्ष मूल्य' अन्ततः 'प्रयोग मूल्यों' के स्वरूप पर ही निर्भर करता है फिर भी प्रयोग मूल्य बदल जाता है। साहित्य का वस्तु तत्व और रूप तत्व का सम्बन्ध भी वैसा ही है। लेफब्रे ने तो इन्हें वस्तु तत्व और रूप तत्व के रूप में स्वीकार भी किया है।[13] रचनाकार के लिए भी इस समाज से ही कच्चा माल प्राप्त होता है, जिसे वह विशेष प्रकार के ग्राहक को ध्यान में रखकर विनिमय मूल्यों (रूपाकारों) के संदर्भ में बदल कर प्रस्तुत करता है।

इन्द्रिय बोध से बुद्धि संगत ज्ञान तक और फिर बुद्धि संगत ज्ञान से 'क्रान्तिकारी छलांग' तक का सिद्धांत साहित्य के संदर्भ मे अत्यन्त महत्वपूर्ण है।[14] साहित्य के निर्माण की प्रक्रिया साहित्य के निजी स्वरूप संदर्भ में भी इसी प्रकार की होनी चाहिए। ऐसी चेतना से सम्पन्न व्यक्ति जब जिंदगी को देखता है तो उसे वह समग्र परिदृश्य बदला हुआ प्रतीत होता है वह जिंदगी में ठहराव और बदलाव दोनों का अनुभव करता है। संसार के प्रत्यक्ष की वास्तविकता का कारण समझने का प्रयास करता है। वह उसे जानकर ही बदल सकता है। इसलिए वस्तु तत्व किसी प्रकार के आदर्शों या नियमों के आधार पर निर्मित नहीं होता है बल्कि मनुष्यों के होने की स्थिति और शर्तों से सम्बद्ध होकर वह मनुष्य के होने को और अधिक प्रमाणित करता है। इसीलिए साहित्य में बाहरी सिद्धांत या आदर्श के आधार पर साहित्य के वस्तु तत्व की काल्पनिक रचना, चाहे वह मार्क्सवाद के सिद्धांत के आधार पर ही क्यों न हो, एक प्रकार का आदर्शवादी सिद्धांत है। ऐसे लोग यह मानकर चलते है कि 'विचार के द्वारा अस्तित्व का निर्धारण होता' है। "तमस", प्रतिबद्ध, नौजवान और 'अपना मोर्चा' ऐसी ही रचनाएं हैं। सिद्धांत के प्रकाश में दुनियां को देखने से और दुनिया की दृष्टि से सिद्धांत को परखने से भिन्न प्रकार की रचनाओं का निर्माण होता है। पहली प्रक्रिया रूपवादी है दूसरी प्रक्रिया वस्तुवादी है। अनेक मार्क्सवादी रचनाकार इस द्वन्द्व से परेशान रहे हैं। मुक्तिबोध और शमशेर का द्वन्द्व आप इससे समझ सकते हैं। निराला की कविता उनके जीवनानुभव का प्रयोग है भले ही उसका वस्तुतत्व प्रतिक्रियावादी हो। मुक्तिबोध का अनुभव और सिद्धांत का द्वन्द्व उनकी कविताओं में भी है। 'अंधेरे में' कविता इसीलिए महत्वपूर्ण है कि उसमें वस्तु तत्व का अतिरेक रूप का निर्धारण करता है। वास्तविक रचना ही वही है जिसमें रूप का अनुभव हो ही नहीं। इसीलिए निरन्तर यथार्थ को ही महत्वपूर्ण माना गया है। लासाल को लिखे हुए मार्क्स और एंगेल्स के पत्र इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं। मार्क्स ने 'चरित्रों का समकालीन सिद्धांतों के लिए भोंपू के रूप में बदलने को भयानक कमी के रूप में स्वीकार किया है।'[15]

एंगेल्स के अनुसार 'स्पष्ट कथन के बजाय समस्याओं का हल स्थितियों और क्रियाकलापों के प्रकाशन से ही होना चाहिए। लेखक को भविष्य में होने वाले सामाजिक संघर्ष की विषय-वस्तु का वर्णन करके पाठक के प्रति कृतज्ञ नहीं होना चाहिए।'[16] एक दूसरे पत्र में उनके ही अनुसार 'यथार्थ को लेखक की राय के

बगैर ही रचना में झलकना चाहिए। जितना रचनाकार की राय छिपी रहती है उतना ही साहित्य के लिए बेहतर होता है।[17] ब्रेख्त ने ऐंगेल्स की ही भाँति वस्तु तत्व के निर्माण या चयन अथवा रूप तत्व के प्रश्न पर और भी स्पष्टता से अपना मत व्यक्त किया है जो हिन्दी में प्रेमचन्द या मुक्तिबोध आदि को ही 'आदर्श' मानने वाले लेखकों के लिए महत्वपूर्ण है। वस्तु शून्य से शून्य ही पैदा होता है। अर्थात् वस्तु तत्व का निरन्तर दोहराया जाता रहना जड़ता का प्रतीक है। अनेक कहानीकारों और उपन्यासकारों के उपन्यासों में चरित्रों के वर्ग सम्बन्ध और उनकी प्रवृत्तियों का चित्रण प्रायः २० वर्षों के लेखन के बाद आज भी वैसा ही बना हुआ है। हिन्दी में प्रेमचन्द, यशपाल आदि अभी तक आदर्श के रूप में स्वीकार किये जाते हैं। परन्तु जो वस्तु तत्व इनकी रचनाओं में अभिव्यक्त है, वह आज हमारे काल का वस्तु तत्व नहीं हो सकता है। क्योंकि वस्तु तत्व का सम्बन्ध सदा उस काल विशेष के मानवीय सम्बन्धों और उत्पादन शक्तियों से ही होता है। कल का यथार्थ आज का यथार्थ नहीं हो सकता है। ब्रेख्त के अनुसार 'किसी काल विशेष के ऐतिहासिक उपन्यासों से सम्बन्ध यथार्थ का वर्णन करने से, चाहे वह टॉलस्टॉय या बालजक से ही सम्बन्ध क्यों न हो, बचना चाहिए। क्योंकि यह एक प्रकार का शुद्ध कलात्मक और साहित्यिक यथार्थ ही होगा। हमें केवल उसी प्रकार के यथार्थ से अपने को सीमित नहीं करना चाहिए जहाँ लोग देख सकें, सुन सकें सूंघ सकें या महसूस कर सकें। जहाँ वातावरण का इस प्रकार से निर्माण हुआ हो और कहानियाँ इस प्रकार से वर्णित हों कि चरित्र अपने को शारीरिक रूप से उतार सकें। यथार्थ के बारे में हमारी धारणा व्यापक और राजनैतिक सौन्दर्यात्मक विधि 'निषेधों' से मुक्त होनी चाहिए।[18] किसी भी समय का साहित्यिक रूपाकार तब तक ध्वस्त नहीं होता है जब तक कि उसके आधारभूत समाज में ही परिवर्तन की स्थितियाँ न पैदा हो जाय। और जब उस मूलभूत सामाजिक सम्बन्धों और उत्पादन शक्तियों में किसी प्रकार का संघर्ष उत्पन्न होता है तो भी साहित्य के वस्तु तत्व में परिवर्तन होता है। इसका प्रमाण साहित्य में व्यक्त विद्रोह आदि की भावनाओं से मिल सकता है परन्तु वह विद्रोह वर्ग के अन्तर्गत एक प्रकार के सुधार की इच्छा का परिणाम होता है उससे रूपाकार में परिवर्तन नहीं होता है। छायावादी, प्रयोगवादी और तथाकथित विद्रोही सभी का वस्तु तत्व इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि उत्पादन शक्तियों और सामाजिक सम्बन्धों में एक प्रकार का अन्तर्विरोध उत्पन्न हो गया है। यह पता हमें धूमिल आदि की कविताओं से भी चलता है, जिसका तात्पर्य प्लेखानाव के शब्दों में इतना ही है कि उनके सम्बन्ध अपने वर्ग से अच्छे नहीं है। परन्तु यह वस्तु तत्व और उस पर आधारित कलात्मक रूप दोनों तभी बदलते है, जब उत्पादन शक्तियों के ही स्रोत से नये प्रकार के सम्बन्ध विकसित होते हैं। लूसुन के अनुसार 'जब तक क्रान्ति की सफलता की सम्भावना नहीं पैदा हो जाती है, केवल तभी जब कि क्रान्ति का परिणाम निकट हो और मनुष्य को मुक्त सांस लेने का अवसर मिले तभी नये क्रान्तिकारी लेखक पैदा हो सकते हैं। क्योंकि जब पुराना समाज नष्ट होने वाला हो उस समय क्रान्तिकारी लगने वाली रचनाएँ प्रायः प्राप्त होती हैं लेकिन वे वास्तव में क्रान्तिकारी नहीं होती है। उदाहरण के लिए आदमी पुराने समाज से घृणा कर सकता है परन्तु उसके पास घृणा के अलावा भविष्य की दृष्टि नहीं रहती है।[19]

साहित्य में वस्तु और रूप निश्चय ही इतने भिन्न नहीं है और न ही इन्हें परस्पर विरोधी समझा जा सकता है परन्तु इतना अवश्य कि सामाजिक परिवर्तन की स्थिति और कभी-कभी संक्रमण की स्थिति में यह स्वरूप भी दिखायी देता है। जब उत्पादन शक्तियों की वृद्धि, जिसमें मनुष्य की विकसित चेतना भी शामिल है, नये सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण करने लगती है जिसके कारण गड्डमड्ड की स्थिति उत्पन्न होती है तब उस स्थिति में पुराने वस्तु तत्व के भीतर ही नये की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है। लेकिन इससे कभी भी रूप नहीं बदलता है बल्कि इस स्थिति में वह उस परिवर्तन को रोकने से बाध्य भी करता है। यह बाध्यता, भाषा छन्द और कथ्य सभी दृष्टियों से पैदा की जाती है। साहित्य के निश्चित प्रतिमान और धारणाएँ एक निश्चित वर्ग से सम्बद्ध होते हैं, जो उन धारणाओं के विकास के साथ ही साथ शासन में आता है और शोषक वर्ग की स्थिति में वह पुनः अधिरचना की अमूर्त्त और सर्वव्यापकता की भ्रम मूलक प्रकृति के कारण उस प्रकार की धारणाओं को निरंतर इस अर्थ में अमूर्त करता जाता है ताकि वे सार्वजनीनता का भ्रम उत्पन्न कर सकें। इसे इस प्रकार की 'साहित्यिक नैतिकता' कहते हैं जो शासक वर्ग की विचारधारा के अमूर्तन का परिणाम होती है और उसकी रक्षा करती है। परन्तु मार्क्स के अनुसार जैसे-जैसे उत्पादन शक्तियाँ और सामाजिक व्यवस्था में अन्तर्विरोध तेज होता जाता है वैसे ही वैसे शासक वर्ग की विचारधारा शब्दाडम्बर से मुक्त होती जाती है। जीवन के द्वारा जितना ही विचारधारा का असत्य उद्घाटित होता जाता है उतना ही उस वर्ग की भाषा में गुणात्मकता और आभिजात्यता का भाव पैदा होता है।"[२०] उत्पादन शक्तियों के परिवर्तन से उत्पादन की प्रक्रिया में जो नये सम्बन्ध बनते हैं उससे नये प्रकार का सामाजिक सम्बन्ध बनता है और वही एक प्रकार से पुराने को बदलने का आग्रह करता उस वर्ग के द्वारा रचे हुए साहित्य में उसी प्रकार के वस्तु गत उत्पादन का अमूर्तन पाया जायगा। नये प्रकार के वस्तु तत्व का सम्बन्ध भी इस प्रक्रिया से है। युवा लेखकों की रचनाओं में भले ही सामाजिक सम्बन्धों के अल्प परिवर्तन के कारण रूप तत्व न बदले परन्तु उनका सार तत्व प्रायः पुरानों से भिन्न होता है। इसका कारण वस्तुतः उनके सामने प्रस्तुत विकसित उत्पादन शक्तियों से ही होता है। इसीलिए नया तत्व रूपाकार को भी बदलने का प्रयत्न करता है इस सन्दर्भ में सिद्धों सन्तों और भक्तों की रचनाओं का विश्लेषण सम्भव है और किया जाना चाहिए।

साहित्य का वस्तु तत्व अपने सन्दर्भ की तुलना में यदि भिन्न नहीं है तो बासीपन के कारण वह कभी भी साहित्य नहीं हो सकता है। साहित्य में वह यथार्थ का अमूर्तन और प्रस्तुतीकरण दोनों ही हो सकता है। परन्तु अमूर्तन और प्रस्तुतीकरण दोनों का सम्बन्ध द्रष्टा की विकसित चेतना से होता है। चुनाव का प्रश्न इसी चेतना के सन्दर्भ में ही उठता है। इसीलिए 'ध्येय' महत्वपूर्ण होता है। मुक्तिबोध का तीसरा क्षण प्रथम क्षण के द्वन्द्वात्मक परिणति का ही परिणाम है। इसी तीसरे क्षण में ही 'संवेदनात्मक ज्ञान' और 'ज्ञानात्मक संवेदना' के परिणामस्वरूप अनुभव एक विशेष ध्येय के अनुसार वस्तु तत्व में परिवर्तित होकर रूप ग्रहण करता है।[२१] रूप ग्रहण के प्रसंग में यह ध्यान देने की बात है कि यह प्रक्रिया भी उसी ध्येय से सम्बद्ध होती है। लेखक की वर्गीय स्थिति और

वर्ग चेतना उसके ध्येय में महत्वपूर्ण भूमिका का कार्य करते हैं। ऐसी स्थिति में उसके ध्येय में लक्ष्यीभूत श्रोता भी निहित रहता है अर्थात् रचना किसके लिए किस वर्ग के लिए का समाधान भी वस्तु तत्व के रूप ग्रहण करने में महत्वपूर्ण कदम होता है। वस्तुतः संवेदन, इन्द्रिय-बोध और अनुभव में भाषा निहित ही होती है। उसके द्वारा ही हम उस ज्ञान को समाज से प्राप्त करते हैं और उसी के द्वारा सम्भव भी बनाते हैं। अर्थात् वस्तु तत्व और रूप ग्रहण में समाज स्वयं ही विद्यमान रहता है। इसे एक प्रकार का समाजीकरण कहते हैं। इस अनुभव की प्रक्रिया के कारण ही पुराने रूपों की अपर्याप्तता का अनुभव होता है और धीरे-धीरे करके उस काल के माल (Commodity) की प्रकृति के ही अनुसार स्वयं भाषा की प्रवृति बदलती है।[२२] वह भी प्रभाव डालती है। धीरे-धीरे उस रूप के सामाजिक चेतना के रूप में बदल जाने पर साहित्य में पूर्ण रूपेण परिवर्तन घटित होता है।

साहित्य की यह रचनात्मक प्रक्रिया यथार्थ या चेतना के द्वन्द्वात्मकता का प्रकाशन ही है। यदि ऐसा नहीं है तो निश्चय ही साहित्य में आदर्शवादी पद्धति के अनुसार किसी सिद्धान्त या विचार के अनुकूल उदाहरण लिखे गये है। जैसे रीतिकाल में लक्षण ग्रन्थों के आधार पर लक्ष्य ग्रन्थों की रचना होती थी। इसे हम साहित्य की रीतिकालीन प्रवृति ही कह सकते हैं। अधिकांश लेखक-नये और पुराने इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत आयेंगे। मनुष्य को भगवान बनाने की प्रवृत्ति और उसे वस्तु के रूप में चित्रित करने की प्रवृत्ति निश्चय ही सामन्ती और पूंजोवादी उत्पादन प्रणाली का प्रभाव ही है। परन्तु यह दोनों स्थितियां साहित्य की दृष्टि से निरर्थक है। वस्तुतः यांत्रिक भौतिकवादिता अथवा अतिरूपवादिता या अधिरचनावादिता दोनों ही द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की दृष्टि से गलत है।[२३] साहित्य मात्र वस्तुओं का इंद्रिय संवेदन नहीं वल्कि विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के देखने से प्राप्त वस्तुओं का 'सारतत्व' है। इसी से सामाजिक सार तत्व को पहचानने की दृष्टि प्राप्त होती है जो राजनीति के क्षेत्र में सामाजिक परिवर्तन के आधार का और साहित्य में अन्तर्वस्तु का कार्य करती है।

साहित्य वस्तु और रूप तत्व के आपसी सम्बन्धों के आधार पर साहित्य का विश्लेपण तभी सम्भव है जब यह माना जाय कि साहित्य जो कुछ भी कहता वही अन्ततः यह भी निर्धारित करता है कि वह ठीक कहा गया है या नहीं है। इस विश्लेपण की प्रक्रिया भी द्वन्द्वात्मक होती है। एक वार कथ्य के आधार पर रचना को पुनः परखा जाता है फिर वही कथ्य उस माध्यम की पर्याप्तता और अपर्याप्तता को भी व्याख्यायित करता है। लूनाचार्स्की ने इस सन्दर्भ में तीन आधार वतायें हैं। पहले दूसरे लगभग एक ही हैं। पहला तो यह कि पाठक पर उस कथ्य को जिसको ध्यान में रख कर रचना की गयी है पूर्णतम अभिव्यक्ति प्रदान करते हुये जहाँ तक सम्भव हो सके रूप तत्व को वस्तु तत्व को अत्यधिक निकटता से आनुपंगिक होना चाहिए। दूसरे रूपाकार को भाव या वस्तु तत्व के साथ घुलकर एक इकाई होना चाहिए। तीसरे यदि सम्भव हो सके तो अत्यन्त सजगता के साथ रचना के रूप की सार्वभौमिकता के वारे में भी सोचना चाहिये।

लूनाचार्स्की ने इसके अलावा विचारों की संश्लिप्टता और कलात्मक रूप की सरलता को भी यशस्वी रचनाकार का गुण माना है।[२४] निश्चय ही यह

किसी भी साहित्य का महत्वपूर्ण गुण अवश्य है परन्तु इसके साथ ही साथ यह भी महत्वपूर्ण सवाल है कि जो कुछ कहा जा रहा है वह किस लिये और किसके लिये है। क्योंकि अन्ततः रचना मात्र ध्येय रहित नहीं हो सकती है। मनुष्य का दिमाग निष्कर्षात्मक और ध्येयात्मक ही गतिमान हो सकता है। लूनाचार्स्की ने इस सम्बन्ध में साहित्य के रचनात्मक सम्बन्धों पर चर्चा करते हुए इन उत्पादक शक्तियों पर चर्चा नहीं की है। वस्तुतः साहित्य मात्र की रचनात्मक शक्ति वही होते हैं जो प्रकृति को अपना बनाते हुए, जड़ को चेतन करते हुये, वस्तु को मनुष्य के रूप में बदलते हुये अपने को और समाज को बदल रहे हैं। लेनिन उन्हें 'सर्वहारा' और मेहनतकश कहते हैं तथा माओत्से तुंग उसे मजदूर, किसान, निम्न पूंजीपति वर्ग और सैनिक कहते हैं।[२५] वस्तुतः इसका तात्पर्य है श्रम की प्रक्रिया में लगे वे सभी लोग जो अतिरिक्त मूल्य का निर्माण कर रहे होते है। इसलिए इस बात का विवेचन अवश्य ही होना चाहिये कि जो कथ्य है क्या वह इस प्रकार के लोगों और प्रक्रियाओं का जीवित संवेदन है या नहीं। क्योंकि अत्यन्त कलात्मक रूप के द्वारा प्रतिक्रियावादी वस्तु तत्व भी सम्प्रेषित होता है। और अत्यन्त प्रगतिशील वस्तु का अभिव्यक्ति रूप कलात्मक नहीं भी हो सकता है। इसलिए मात्र वस्तु और कलात्मक रूपों के सम्बन्ध ही नहीं बल्कि उन तत्वों का भी विवेचना होना चाहिए। आज कल के 'शैली विज्ञानियों' और 'नये आलोचकों' की तरह से 'भाषा की विभिन्न सूक्ष्म इकाइयों का विश्लेषण करके मौन रह जाना' बिना यह देखे हुए कि विटेगेंस्टाइन, ऐयर और रसेल आदि उन्हीं के क्षेत्र के विद्वानों ने भाषा और यथार्थ के बारे में क्या कहा है, अधकचरे पन और जड़ता का ही लक्षण है। साहित्य वस्तु का एक मात्र आधार यदि कोई भी हो सकता है तो इहलोक ही हो सकता है। इसलिए साहित्य की 'रचनात्मक शक्तियों' का विवेचन अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि बगैर उसके बौद्धिक उत्पादन का कोई मतलब नहीं है। वस्तु शून्य साहित्य अत्यन्त सुन्दर मृत शरीर की भांति है। वस्तु तत्व तो सामाजिक तत्व ही है। इसीलिए 'अनुभव की पूर्णता' का प्रश्न उठाया गया है। यह पूर्णता है हर वर्ग के चित्रण से सम्बन्ध उस सामाजिक पर्यावरण की जिसमें और जिसके कारण हम हैं। और यह है मनुष्य का परिश्रम इसीलिए गोर्की के शब्दों में यही कहा जा सकता है कि परिश्रम में लीन मनुष्य—काम करता हुआ आदमी ही वस्तुतत्व का प्रमुख केन्द्र हो सकता है।[२६] इससे जो विचार अमूर्त्तन की प्रक्रिया में रचना में आयेगा अगर वह सही है तो वह सत्य से दूर नहीं होगा बल्कि उसके निकट होगा। प्राकृतिक नियमों के तत्वों और मूल्यों का अमूर्त्तन संक्षेप हर प्रकार के वैज्ञानिक अमूर्त्तन प्रकृति को अधिक गहराई, सत्यता और पूर्णता के साथ अभिव्यक्त करते हैं।' साहित्य में भी यदि उसका अनुभव कर संसार श्रम का संसार है तो वह अमूर्त्तन के बावजूद सत्य से युक्त होगा।[२७] इस प्रकार विषय वस्तु और सत्य वस्तु की एकता का सम्बन्ध वस्तुतः भौतिक जगत और उस जगत के होने के पीछे वर्तमान कारणों से है। अर्थात् साहित्य में घटना नहीं घटना हेतुओं और उनके परिवर्तन का दृष्टिकोण भी होना चाहिए।

वस्तुतः वस्तु सत्य भिन्न-भिन्न नहीं हो सकते हैं। परन्तु शासक वर्ग उसे अपनी प्रकृति के अनुसार व्याख्यायित करता है। पूंजीपति वर्ग के लिए इसके द्वारा भ्रमात्मक चेतना का निर्माण करने में सुविधा होती है। प्लेखानाव के

अनुसार यदि 'कलात्मक उत्पादन यथार्थ को विकृत करता है तो वह कला के रूप में नाकामयाव होता है।'[२८]

साहित्य के संदर्भ में इन तत्वों का विवेचन करते समय साहित्य के ऐतिहासिक और वर्गीय विकास को ज्ञान के द्वन्द्वात्मक नियमों और उत्पादन शक्तियों तथा उत्पादन सम्वन्धों के अन्तर्विरोधों को भी ध्यान में रखना चाहिए। उसका विवेचन साहित्य के ऐतिहासिक विकास की मंजिलों और भौतिक जगत् के विकसित संदर्भों में भी होना चाहिए। माओ ने इसके लिए 'राजनैतिक' और 'कलात्मक' दोनों मापदण्डों के प्रयोग अनिवार्य माने है।[२९] कोई चाहे तो इन्हें सामाजिक और साहित्यिक दोनों कह सकता है। यद्यपि राजनीतिक शब्द में वदलने की इच्छा भी निहित रहती है। साहित्यिक कथ्य, सामाजिक तथ्य का पर्याय इस दृष्टि से भले ही न हो परन्तु उसमें उसकी झलक अनिवार्य है। प्लेखानाव के अनुसार 'वस्तु सत्य' लोगों का विचार न होकर प्रकृति और समाज में व्याप्त वे सम्वन्ध होते हैं जो उन विचारों में व्यक्त होते हैं। सत्य का मापदण्ड मुझ में नहीं वल्कि उन सम्वन्धों में रहता है जो मेरे वाहर हैं। वही विचार सही है जो उन सम्वन्धों को व्यक्त करते हैं। स्वयं मार्क्स के ही अनुसार 'विचार तो सत्य, असत्य, उहात्मक और ठोस कई प्रकार के होते हैं। परन्तु विचार वही सत्य होते हैं जो आर्थिक आधार से सम्वद्ध होते है।"[३०] शोलोखोव ने सौन्दर्य शास्त्र के दो ही मूल नियम साहित्य के वस्तु तत्व के संदर्भ में स्वीकार किये हैं 'जनता के साथ रहना और जनता के वीच में रहना।[३१] लेनिन और माओ के विचार इस संदर्भ में प्रसिद्ध ही हैं कि साहित्यकार को किसानों, मजदूरों और सैनिकों के वीच में रहना चाहिए। मार्क्स ने भी विचारों को वास्तविकता और अनुवास्तविकता पर विद्वतापूर्ण वहसों को निरर्थक कहा है जब तक कि उसका सम्वन्ध अभ्यास से न हो।[३२] माओं ने प्रत्यक्ष अनुभव के साथ ही साथ दूसरों के अनुभव को भी महत्वपूर्ण माना है परन्तु इसके लिए "रूपान्तरण या सर्वहाराकरण" की अनिवार्यता भी वतायी है।[३३]

मार्क्सवादी दृष्टि से साहित्य में वस्तु तत्व और कलात्मक रूप का सम्वन्ध मात्र सैद्धान्तिक ही नहीं व्यवहारात्मक भी है। लू सुन ने लिखने के ढंग पर विचार करते हुए चार नियम निर्धारित किये हैं। उसमें वस्तु तत्व और रूप तत्व पर अलग से नहीं वल्कि एक साथ विचार किया गया है। वे नियम हैं :—

(१) सभी प्रकार की वस्तुओं पर सूक्ष्म रूप से ध्यान दो, उनका ज्यादा से ज्यादा निरीक्षण करो और अगर आप ने केवल वहुत थोड़ा निरीक्षण किया है, तो उनके वारे में मत लिखो।

(२) जव आपके पास कहने के लिए कुछ न हो तो उस समय अपने को लिखने के लिए वाध्य मत करो।

(३) कोई चीज लिखने के वाद कम से कम दो वार उसको अवश्य दोहराओ और उसमें से अनावश्यक शब्दों, वाक्यों और पैराग्राफों को विना किसी अफसोस के वाहर निकाल दो। समूचे उपन्यास की सामग्री को एक रेखाचित्र में भर दो, लेकिन रेखाचित्र की सामग्री को वढ़ाकर उपन्यास के रूप में कभी मत पेश करो।

(४) ऐसे नये-नये विशेषणों या अन्य शब्दों को मत गढ़ो जो आपके सिवाय और किसी के लिए वोधगम्य न हों।[३४]

मनुष्य का प्रकृति से निरन्तर संघर्ष और उसके परिणाम उसकी विजय और शक्ति को ही प्रमाणित करते हैं इसलिए साहित्य में "सामाजिक मनुष्य" को दिखायी पड़ना चाहिए। मार्क्सवाद में आचरण प्रमुख है। रचना को कर्म से कर्म तक होना चाहिए, न निराशा और न शून्यता होनी चाहिए, यद्यपि इसके भी कारण सामाजिक सम्बन्धों में ही निहित ही रहते हैं। वस्तु तत्व और कलात्मक रूप का सम्बद्ध श्रम की प्रक्रिया में प्रयुक्त औजारों सहित मनुष्य से है। वास्तविक साहित्य मनुष्य को ही प्रतिष्ठापित करता है। मानवीय वस्तु और वस्तु युक्त मानव की द्वन्द्वात्मक परिणतियाँ ही साहित्य को मूल्यवत्ता प्रदान करती हैं। वस्तु तत्व और रूप की एकता लोकप्रियता और स्तरात्मकता की भावना से युक्त होने पर साहित्य को महत्वपूर्णता और मूल्यवत्ता प्रदान करती है। जनता को यदि वह नई दृष्टि देता है या जागरूक बनाता है तो वह उत्पादक शक्ति भी होता है अंत में माओ त्से तुंग के शब्दों में जिस चीज की माँग मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र करता है "वह है राजनीति और कला की एकता, विषय वस्तु और रूप की एकता, क्रान्तिकारी राजनीतिक विषय वस्तु और यथासम्भव अधिक पूर्ण कलात्मक रूप की एकता। वे कला कृतियाँ जिनमें कलात्मक प्रक्रिया का अभाव होता है बिल्कुल शक्तिहीन होती हैं, चाहे वे राजनीतिक दृष्टि से कितनी ही प्रगतिशील क्यों न हों। इसलिए हम ऐसी कलाकृतियों के सृजन का जिनका राजनीतिक दृष्टिकोण गलत होता है तथा "पोस्टरबाजी व नारेबाजी जैसी शैली" वाली उन कलाकृतियों के सृजन का जिनका राजनीतिक दृष्टिकोण तो सही होता है लेकिन जिनमें कलात्मकता का अभाव होता है, दोनों ही प्रवृत्तियों का विरोध करते हैं।[१४]

●

सन्दर्भ

१. जार्ज थाम्पसन, 'स्पीच एण्ड थाट' लेख संकलित मार्क्सिस्ट आन लिटरेचर एन एन्थालोजी पृष्ठ-२५ मार्क्स ने 'भाषा को विचारों की सीधी वास्तविकता कहा है मार्क्स एंगेल्स : कलेक्टेड वर्क्स वाल्यूम ३।
२. वही पृष्ठ-२१।
३. डिक्शनरी आफ फिलासफी सं० रोजेन्थाल एण्ड पी० यूदिन पृष्ठ-९ "एस्थेटिक एण्ड एथिक्स'।
४. वही पृष्ठ बारह, 'एस्थेटिक एण्ड टेक्नालाजी' और वाल्टर बेंजामिन का लेख 'दि वर्क आफ आर्ट इन दि एज आफ मैकेनिकल रिप्रोडक्शन' 'इल्यूमिनेशन्स' में पृष्ठ-२२६।
५. मार्क्स एंगेल्स : मैनिफेस्टो आफ दि कम्युनिस्ट पार्टी पृष्ठ-७२।
६. द्र० लियोन ट्राटस्की : दि फार्मलिस्ट स्कूल आफ पोयट्री एण्ड मार्क्सिज्म—लिटरेचर एण्ड रिवोल्यूशन में।
७. मार्क्स-एंगेल्स : मेनिफेस्टो आफ दि कम्युनिस्ट पार्टी पृष्ठ-७२।
८. अफानासयेव : फन्डामेन्टल प्राब्लम्स आफ मार्क्सिज्म पृष्ठ-७०।
९. मार्क्स-एंगेल्स : कलेक्टेड वर्क्स वाल्यूम ३ पृष्ठ-२७५।
१०. वही पृष्ठ-२९८-९९।
११. वही पृष्ठ-३०१।
१२. पर्मन साइकियोलाजी पृष्ठ-३७-३८।
१३. सेफवे : दि सोशियोलाजी आफ मार्क्स पृष्ठ-९३ और २०४।

१४. लेनिन, कलेक्टेड वर्क्स वाल्यूम चौदह पृ०-१०३ से १२७ तक और माओत्से तुंग की चुनी हुई कृतियाँ भाग एक, लेख 'व्यवहार के बारे में' पृ० ३६२-६३ ।
१५. मार्क्स : लेटर टू लसाले १९ अप्रैल १८५९ ई० । और—एंगेल्स : लेटर टू लासाले १८ मई १८५९ ई० ।
१६ एंगेल्स : लेटर टू मिन्ना काउत्स्की २६ नवम्बर १८८५ ई० ।
१७. एंगेल्स : लेटर टू मार्गरेट हार्कनेस अप्रैल १८८८ ।
१८. ब्रेख्त : दि पाप्पुलर एण्ड दि रियलिस्टिक लेख संकलित 'मार्क्सिस्ट आन लिटरेचर एन एन्थोलाजी पृ०-४२३-२४ इस संदर्भ में लेनिन का 'जर्नल स्वोबोद' के संदर्भ में लिखा लेख में भी महत्वपूर्ण है। इसमें लेनिन लोकप्रियता और भ्रष्टता में अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "लोक प्रिय रचनाकार पाठक को विचारों की पूर्णता, व्यापक अध्ययन को प्रोत्साहित करता है।" दे० लेनिन: कलेक्टेड वर्क्स वाल्यूम ५ पृ०-३११-१२, माओत्से तुंग ने भी जनता के स्तर उठाने की चर्चा लोक प्रियता के संदर्भ में की है।" इसका सम्बन्ध लक्ष्यपूर्ण नये वस्तु तत्व से है।
१९. लूसुन : सम थाट्स आन अवर न्यू लिटरेचर 'मार्क्सिस्ट आफ लिटरेचर एन एन्थोलाजी' में संकलित पृ०-३९६ ।
२०. दे० फन्डामेन्टल प्राब्लम आफ मार्क्सिज्म पृष्ठ ७७ ।
२१. मुक्तिबोध : एक साहित्यिक की डायरी पृ०-७९ ।
२२. लेफब्रे : सोशियोलाजी आफ मार्क्स पृष्ठ २०४ ।
२३. माओत्से तुंग की चुनी हुई कृतियाँ भाग एक 'अन्तर्विरोध के वारे में, पृष्ठ ३९९'।
२४. ए० लूनाचार्स्की: आन लिटरेचर एण्ड आर्ट पृष्ठ १५ से १८ ।
२५. लेनिन : कलेक्टेड वर्क्स वाल्यूम १० पृष्ठ ४८-४९ लेख पार्टी आर्गनाइजेशन एण्ड पार्टी लिटरेचर तथा माओत्से तुंग की चुनी हुई कृतियाँ भाग ३ पृष्ठ १००,
२६. मैक्सिम गोर्की: आन लिटरेचर पृष्ठ-२५४ ।
२७. लेनिन : कलेक्टेड वर्क्स वाल्यूम ३८ पृष्ठ १७१ ।
२८. प्लेखानाव : आर्ट एण्ड सोशल लाइफ पृष्ठ ७० ।
२९. माओत्से तुंग की चुनी कृतियाँ भाग ३ पृष्ठ ११७ ।
३०. प्लेखानाव : दि मोनिस्ट व्यू आफ हिस्ट्री पृष्ठ १९६-९७ ।
३१. शोलोखोव ए क्रिटिकल एप्रिशियेशन्स लेव याकिमेन्को पृष्ठ ३६४ ।
३२. (मार्क्स : थीसिस आन फायरवाख II) लेनिन कलेक्टेड वर्क्स वाल्यूम चौदह पृष्ठ १०४ ।
३३. माओत्से तुंग की चुनी हुई कृतियाँ पृष्ठ ९४-९५ ।
३४. वही पृष्ठ ८५ माओ द्वारा उद्धृत 'घिसे पिटे पार्टी लेखन का विरोध करो।'
३५. माओ की चुनी हुई कृतियाँ भाग ३ 'साहित्य और कला के सम्वन्ध में येनान-गोष्ठी के समक्ष भाषण पृष्ठ ११९ ।



आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों के संदर्भ में कला और साहित्य

—आनंद प्रकाश

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से ही विश्वस्तर पर पूंजीवाद-विरोध का सार्थक दौर शुरू हो गया था, क्योंकि अपनी लम्बी ऐतिहासिक यात्रा के दौरान प्राकृतिक-साधनों से संघर्ष करते हुए अंततः मनुष्य ने इतनी सामर्थ्य अर्जित कर ली थी कि अपनी सामूहिक श्रम-शक्ति का नियोजित इस्तेमाल करते हुए सामान्य पार्थिव आवश्यकताओं पर विजय प्राप्त कर ले। इतिहास की इस लम्बी संघर्ष-यात्रा के दौरान मनुष्य ने न केवल अपनी उत्पादक शक्ति बढ़ाई, बल्कि उसकी निरंतर वृद्धि के अनुरूप अपने सामाजिक सम्बन्धों को भी परिवर्तित और विकसित किया। यह मनुष्य के कठिन प्रयत्नों का ही फल था कि पूंजीवादी उत्पादन के विकास के साथ इतिहास में फिर एक ऐसी स्थिति पैदा हो गई कि मनुष्य की उत्पादक-शक्ति बिल्कुल नये सामाजिक सम्बन्धों की मांग करने लगी ताकि इस नयी उत्पादक-शक्ति का नियोजन अंततः मानव-समाज के सबसे आधुनिक और समर्थ वर्ग (सर्वहारा) के अपने हाथों ही पूरे समाज की मूल पार्थिव आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होने लगे। अर्थात् सामाजिक-सम्बन्धों का स्वरूप पहले की अपेक्षा अधिक जनवादी, विवेकपूर्ण, व्यापक और मानवीय हो, इस आवश्यकता को रेखांकित किया गया। समाजवादी संघर्ष की दिशा में पहला कदम उत्पादन-शक्ति और सामाजिक सम्बन्धों की इसी वास्तविक और अनिवार्य लड़ाई का परिणाम था। उत्पादन-शक्ति और सामाजिक सम्बन्धों के मध्य इस तरह के कम या अधिक संघर्षपूर्ण यथार्थ को हम संक्षेप में इस युग की आर्थिक स्थिति कह सकते हैं।

आर्थिक स्थिति दूसरे शब्दों में मनुष्य का भौतिक सामाजिक परिवेश ही है और इसकी मुख्य विशेषता यह है कि यह स्थिति मनुष्य की इच्छा, उसकी चेतना, उसकी अपेक्षाओं और आशाओं आदि के फ्रेमवर्क से बाहर अपनी स्वतंत्र सत्ता लिये रहती है। इस कारण प्रारम्भ से ही हमें यह मान कर चलना होगा

कि अपनी आर्थिक या सामाजिक स्थिति में हम अपनी सामाजिक भूमिका तो अदा कर सकते हैं और ऐसा करते हुए सामाजिक यथार्थ के कुछ सामान्य नियमों और निष्कर्षों के विषय में प्राप्त ज्ञान के आधार पर उक्त स्थिति को वास्तविक सीमाओं के भीतर तथा अपनी राजनीतिक क्षमताओं के अनुपात में बदल भी सकते हैं लेकिन इसके संदर्भ में निरंकुश और मुक्त व्यवहार नहीं कर सकते—आर्थिक स्थिति की मूर्त या संभावित सीमाओं को लाँघ कर मानव-व्यवहार की कल्पना करना मात्र स्वप्नशीलता और नकली रूमानियत ही कहा जायेगा।

आर्थिक स्थिति के समकक्ष ही यानी उसके व्यापक परिप्रेक्ष्य में एक विशेष वर्ग-समाज की राजनीतिक क्रिया चलती है। यह सही है कि एक ही आर्थिक स्थिति के परिप्रेक्ष्य में राजनीति कई और परस्पर भिन्न स्वरूप अपना सकती है और हमें बहुत समय तक अपनी विविधता के कारण उलझाती रहती है। लेकिन राजनीति की यह विविधता आमतौर पर उन तबकों की विशेष और अपेक्षतया भिन्न सामाजिक स्थिति पर निर्भर करती है जो अलग-अलग रूपों में मूल सामाजिक उत्पादन से जुड़े होते हैं। दूसरे, एक पूरा का पूरा समूह स्वयं को मूल उत्पादन से पृथक् करके मात्र राजनीति को स्वतंत्र क्रिया के रूप में भी चलाने लगता है और हममें इस भ्रम की भी सृष्टि करना है कि शायद असल में समाज को ये ही लोग शासित कर रहे हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि बूर्ज्वा जनतन्त्र में आम जनसमाज लम्बे समय तक यही सोचता रहता है कि उनकी समस्याओं और कठिनाइयों का मुख्य कारण शासन तथा राजनीति को चलाने वाले व्यक्ति हैं जो अपनी बेईमानी, आलस या अकर्मण्यता के कारण कठिनाइयों का समाधान नहीं कर रहे हैं। तभी बहुत दिनों तक वे यह भी सोचते रहते हैं कि एक बेहतर योजना बनाने वाले और उसे लागू करने वाले लोग जैसे ही शासन और राजनीति संभालेंगे, उनकी समस्याएँ सुलझ जाएँगी।

लेकिन राजनीति के इस ऊपरी स्वरूप की असलियत अपेक्षतया अलग तथा अधिक गहरी होती है—वह है राजनीतिक दलों की क्रिया, सोच, नीतियों, उनके सामाजिक विश्लेषण और प्रचार के मूल में काम करने वाली तथा शासक वर्गों के आर्थिक हितों से जुड़ी हुई व्यवहार-दृष्टि। इस व्यवहार दृष्टि को पहचानने-परखने की असमर्थता ही हमें प्रायः एक विशिष्ट राजनीतिक, क्रिया के विषय में उलझा देती है। विभिन्न दलों की क्रिया को हम शासक वर्ग के आर्थिक रूप से अधिक अथवा कम विकसित हिस्सों की किंचित भिन्न प्रकार की ऐसी सामाजिक अभिव्यक्ति न मान कर जो मूल रूप में एक व्यापक तथा सामान्य वर्ग-दृष्टि से निर्धारित-परिचालित होती है, यह मान लेते हैं कि उनमें से प्रत्येक किसी न किसी समय अवश्य ही पूरे समाज के हितों को सही रूप में पूरा करने की क्षमता रखती है। अर्थात् ऐसा सोचते हुए हम उनके ऊपरी सामाजिक प्रचार की तह में काम करने वाले मूल वर्ग हितों तक पहुँचने की वैचारिक सामर्थ्य नहीं रखते।

आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन की धुरी निश्चित रूप से समाज के उत्पादन-वितरण सम्बन्ध हैं, जिसका संकेत ऊपर किया गया है। यहाँ यह देखना आवश्यक है कि ज्यों-ज्यों श्रमशक्ति और सामाजिक सम्बन्धों के बीच खिंचाव संघर्ष बढ़ता है, शासक-वर्गीय राजनीति अनायास ही अधिक सक्रिय, प्रचारशील कठोर और असहिष्णु हो जाती है। अर्थात् परिवर्तन की संभावना जहाँ श्रमिक वर्ग को दिशा-संकेत देने लगती है वहाँ शासक-वर्ग के विभिन्न

तबकों को भी शंकालु और भयभीत बनाती है। भयग्रस्त ये तबके उस अवस्था में अधिक सुनियोजित-सुविचारित ढंग से क्रियाशील होने का निर्णय लेते हैं और अपने बीच के मामूली भेद-भाव मिटा कर एक सुसंगठित और अनुशासित वर्ग-सचेतता विकसित करने लगते हैं। ऐसी स्थिति में सम्भव है कि उत्पादन-साधनों पर स्वामित्व कायम किये हुए लोगों का एक तबका अपनी लम्बी राजनीतिक परम्परा और अनुभव की परिपक्वता के कारण पूरे वर्ग को नेतृत्व प्रदान करने के लिए सामने आ जाये और शासक वर्गों में से ही नेतृत्व के इच्छुक दूसरे कम अनुभवी या कमजोर तबके को बलपूर्वक दबा दे। लेकिन इसके विपरीत यह भी हो सकता है कि शासक वर्ग के विभिन्न हिस्सों के हितों के बीच सामंजस्य बनाये रखने की बजाय कोई एक हिस्सा अनावश्यक रूप में महत्वाकांक्षी हो जाए और थोड़े समय के लिये राजनीतिक सत्ता को हथियाने में सफल होकर सामाजिक सन्तुलन को झटका दे दे। अर्थात् कमोबेश एक ही तरह की आर्थिक स्थिति अनेक राजनीतिक विकल्पों को प्रश्रय देती हुई अन्ततः उस वर्ग के व्यापक हितों को लगातार चलाती रह सकती है जिसके हाथ में उत्पादन-साधनों का स्वामित्व होता है।

यहाँ पर राजनीति का अर्थ मात्र वह क्रिया नहीं है, जो एक समाज के राजनीतिक परिवेश (संसद, पालिका की सामान्य शासकीय गतिविधियाँ आदि) में नेताओं के नीतिसम्बन्धी निर्णय, स्थानीय, राष्ट्रीय अथवा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर होने वाले राजकीय कार्यों आदि के इर्द-गिर्द घूमती नजर आती है, बल्कि वह सम्पूर्ण क्रिया है जिसके मध्य विभिन्न दल लगातार आम जनता से निरंतर संवाद करते हुए उसे कुछ-कुछ अलग तरह के विचारों, जीवनमूल्यों, आदर्शों, सीमित संघर्षों आदि के लिए प्रेरित करते रहते हैं जो इस तरह उपरोक्त विचारों और आदर्शों में निहित मूल वर्ग हितों को ही पुष्ट करते हैं। असल में राजनीतिक क्रिया इतनी व्यापक है कि जीवन का कोई भी महत्वपूर्ण हिस्सा इससे अछूता नहीं रह पाता, वह भी नहीं जिसे हम आमतौर पर अपने निजी सन्दर्भों में नितान्त व्यक्तिगत कहते हैं। कारण यह है कि व्यक्ति और समूह रूप में हमारी सम्पूर्ण व्यवहार-क्रिया जिस नैतिकता, विचार प्रणाली और मूल्यव्यवस्था के अधीन चलती है, उन सबके बीच केन्द्रीय तत्व तत्कालीन विशिष्ट समाज के उत्पादन साधनों के स्वामियों की व्यापक राजनीतिक दृष्टि का होता है।

इसका यह अर्थ नहीं कि एक विशिष्ट वर्ग-समाज की राजनीति में आम जनता के जीवन की झलक नहीं मिलती, अथवा आम जनता की गतिशीलता, जीवंतता और उसके विचारों का न्यूनाधिक प्रभाव विद्यमान नहीं रहता। उत्पादन-क्रिया के अधीन संगठित जनता अपने राजनीतिक-जीवन में एक लम्बे समय तक अवश्य असंगठित रहती है, फिर भी समय-समय पर अपने सामाजिक दबावों के विरुद्ध उसकी प्रति-क्रियाएँ और संघर्ष दिखते रहते हैं। अर्थात् आम जनता सामाजिक रूप से इतनी निष्क्रिय कभी नहीं रहती कि शासक वर्गों द्वारा प्रचारित आदर्शों और विचारों को बिना संदेह और अविश्वास के सीधे-सीधे स्वीकार करती रहे—यदि ऐसा होता तो विभिन्न समाजों का शासकवर्ग दमनकारी तन्त्र विकसित करने के लिए अपने मुनाफे का बड़ा हिस्सा व्यय करने की आवश्यकता न समझता। लेकिन यह स्पष्ट रूप से मानना होगा कि वर्ग-समाज की राजनीतिक क्रिया से लम्बे समय तक आम जनता के संघर्ष प्रायः मात्र

प्रतिक्रियात्मक, स्वतः स्फूर्त कमजोर और सीमित-संकुचित होते हैं और उनके संघर्षों का यह रूप सीमित इसलिए होता है कि उनकी चेतना में सक्रिय विचार और मूल्य उनके अपने न होकर समाज के ऊपरी सीमित हिस्से के होते हैं।

जैसा कि प्रारम्भ में कहा है, आर्थिक उत्पादन की विकासशीलता एक विशेष अवस्था में पहुँच कर संकटग्रस्त हो जाती है, चूंकि पूंजी और मानव-श्रम के बीच परस्पर-विरोध की दशा अत्यधिक गंभीर स्वरूप धारण कर लेती है। यह वह समय होता है जब मानव-श्रम की जीवंतता नये समाधान खोजने की ओर अनिवार्य रूप से प्रवृत्त होती है और पूंजी उसका विरोध करने के लिए अतिशय नकारात्मक और प्रतिगामी हो जाती है। कारण यह है कि पूंजी और मानव श्रम-शक्ति का यह संघर्ष दोनों के ही लिए जीवन-मरण का संघर्ष बन जाता है—एक के जीवन में दूसरे की मृत्यु अनिवार्य रूप से निहित होती है। तब एक ओर मानव श्रम नये सामाजिक सम्बन्ध विकसित करने की क्रान्तिकारी भविष्योन्मुखी दिशा ढूंढ़ता है और पूरी आम जनता को सर्वहारा के नेतृत्व में सार्थक रूप से एकबद्ध करने की बात सोचता है, और दूसरी ओर पूंजी सभी पुरातन पंथी और प्रतिगामी तबकों को अपने नेतृत्व में एकबद्ध करके आम जनता पर सांस्कृतिक, वैचारिक, सामाजिक और राजनीतिक प्रहार करने का निर्णय लेती है। यही नहीं, विश्व स्तर पर संगठित रूप से सक्रिय पूंजी पूरे विश्व के मानव-श्रम के विरुद्ध संघर्ष चलाने के लिए अत्यधिक नियोजित रूप में, विविध प्रकार से तथा अनेक कोणों से आक्रमण करने के लिए तैयारी शुरू कर देती है। आमतौर पर उन्नीसवीं सदी के मध्य से और विशेष रूप से बीसवीं सदी के प्रारम्भ से विश्व के हर समाज के आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन का व्यापक फ्रेमवर्क अंतर्राष्ट्रीय पूंजी और अंतर्राष्ट्रीय मानव श्रम के बीच यही अपरिहार्य और ऐतिहासिक रूप से निर्णायक संघर्ष है। कहने का अर्थ यह है कि पूंजी और श्रम के मध्य इस जीवन-मरण के संघर्ष की शुरूआत के साथ-साथ पूंजीवाद इतना नकारात्मक, विध्वंसकारी और विवेकहीन हो गया है कि अब उससे किसी भी प्रकार के सार्थक विकास की अपेक्षा करना रूमानीपन कहलाएगा। साथ ही बीसवीं सदी में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर पूंजी पर इतने गहरे और निर्णायक प्रहार हुए हैं कि सफल समाजवादी संघर्षों के ऐतिहासिक दौर में जनतंत्र, मानव-स्वतंत्रता, समानता आदि को लेकर उसका आदर्शवादी और रूमानी शब्दजाल भी प्रायः अपनी प्रतिष्ठा और प्रभावात्मकता खो बैठा है। तभी कितने ही तथाकथित, विकसित और विकासशील समाजों में पूंजी की स्वरूप निरंतर अधिक दमनकारी, नियंत्रक और नकारात्मक होता जा रहा है। कहना न होगा कि यदि एक तरफ विश्वस्तर पर संगठित पूंजी के विकसित-अविकसित स्थानीय रूपों का वास्तविक राजनीतिक स्वरूप धीरे-धीरे स्पष्ट होता गया है तो दूसरी तरफ विश्व का मानवश्रम स्थानीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संघर्षशील होकर मूल सम्बन्धों को परिवर्तित करने के लिए अपेक्षित राजनीति कटिबद्धता की आवश्यकता को रेखांकित कर रहा है।

सामाजिक सम्बन्धों के संदर्भ में राजनीतिक गतिविधि को अधिरचनात्मक तत्वों में शामिल करते हुए मार्क्स ने कहा है कि वैचारिक, राजनीतिक, वैधानिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में मनुष्य अपने मूलभूत सामाजिक द्वन्द्व के विषय में समझ प्राप्त करते हैं और गतिशील तथा जीवन्त श्रमशक्ति के पक्ष में

पुराने सम्बन्धों के विरुद्ध इस उद्देश्य में संघर्ष करते हैं कि उस द्वन्द्व को समाप्त किया जा सके। यह एक महत्वपूर्ण उक्ति है क्योंकि इससे आर्थिक और राजनीतिक पक्षों के परस्पर सम्बन्ध की क्रान्तिकारी प्रकृति का पता चलता है, और यह भी कि सचेत राजनीतिक कार्य की सार्थकता का अनुपात तत्कालीन आर्थिक सच्चाई की समझ से जुड़ा होता है। अर्थात् यह स्पष्ट है कि आर्थिक सच्चाई वह वस्तुजगत का परिवेश है जो मनुष्य की इच्छाओं, आकांक्षाओं तथा चेतना से बाहर और स्वतन्त्र है, तथा दूसरी ओर राजनीति मनुष्य की चेतना से प्रचलित वह सामाजिक व्यवहार है जिसके बीच व्यक्ति धीरे-धीरे किन्तु अनिवार्यतः अपने मूल ऐतिहासिक कर्म की समझ विकसित करते हैं और उस कर्म को सम्पन्न करने की दिशा में प्रवृत्त होते हैं।

परिवर्तनशील और द्वन्द्वात्मक सामाजिक जीवन के संदर्भ में कला और साहित्य की भूमिका को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता, यह दूसरी बात है कि कला और साहित्य का क्षेत्र अपनी मूल प्रकृति में राजनीतिक और आर्थिक सच्चाई से कुछ अधिक विस्तृत परिप्रेक्ष्य लिए रहता है। इस प्रकार कला का क्षेत्र एक ओर जहाँ स्थानीय तथा अंतराष्ट्रीय संस्कृति की लम्बी परम्परा की दिशा में उन्मुख और उससे जुड़ा रहता है वहाँ हर विशिष्ट सम्बन्ध में उसकी शक्ति मूल सामाजिक सम्बन्धों और उनके बीच कटु संघर्ष करते मनुष्यों के अनुभवों से आती है। साथ ही कला और साहित्य की विकास-परम्परा मनुष्य की उस कल्पनाशीलता की भी प्रतीक है जिसके आधार पर विभिन्न मानव समाजों ने अपने समय के दबावों के समानांतर एक परिकल्पनात्मक अनुभव-संसार की रचना की और इस तरह अपनी सौन्दर्य चेतना को न केवल बचाए रखा बल्कि उसे लगातार विकसित भी किया।

असल में मनुष्य की कला-चेतना उसकी सृजन शक्ति के ही एक रूप में प्रतिफलित होती रही है। सृजनशक्ति चूंकि कल्पना, प्रयोगशीलता, भविष्योन्मुखता और गहरी उद्देश्यपरकता जैसे तत्वों के बल पर अपने भौतिक परिवेश से टक्कर लेने की मानव-क्षमता है, इसलिए कला-चेतना की प्रकृति और उसकी भूमिका को भी भौतिक परिवेश और मानवीय-सृजनशक्ति के बीच चलने वाले द्वन्द्व से ही जोड़ कर देखना उपयोगी होगा। अर्थात् कला के मूल में लम्बी तथा व्यापक सांस्कृतिक परम्परा की संघर्षशीलता से जीवंत रूप में जुड़ कर और साथ ही अपने समय के गहरे भौतिक संदर्भों से टक्कर लेने की आधारभूत मानव-क्षमता को ही स्वीकार करना होगा।

व्यापक कला चेतना की बात करते हुए यह याद रखना आवश्यक है कि यद्यपि इसके मूल में मानवीय सृजनशक्ति है, फिर भी विभिन्न कलाएँ अपने समय के भौतिक और वैचारिक यथार्थ से किन्चित भिन्न रूप में जुड़ी होती हैं और उनके जुड़ने की भिन्नता के मूल में उनका अपना माध्यम केन्द्रीय भूमिका निभाता है। अर्थात् वे सब बातें जो हम सामान्य रूप से साहित्य के विषय में कहते हैं, चित्र-कला, नृत्य, संगीत आदि पर सीधे-सीधे लागू नहीं होती। यह प्रायः देखने में आता है कि नृत्य और संगीत में कलाकार की सामाजिक प्रतिबद्धता स्पष्ट स्वरूप ग्रहण नहीं कर पाती और इसीलिए एक वर्ग-विभक्ति समाज में इन कला-रूपों तथा राजनीतिक-आर्थिक द्वन्द्वों के बीच किन्चित् अलगाव और दूरी बनी रहती है। यही नहीं, एक वर्ग-विभक्त समाज का शासक वर्ग इन

कलाकारों को अपना संरक्षण प्रायः अधिक आसानी से देता है, चूंकि एक ओर रूपों के सामाजिक इस्तेमाल में अधिक कठिनाई नहीं होती और दूसरे शासक वर्ग अपनी कला-प्रियता को सिद्ध करके समाज के अधिक संवेदनशील तबकों का समर्थन और स्वीकृति भी शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। तीसरे, इतिहास में कला-रूपों और माध्यमों के विकास में विभिन्न शासक वर्गों के संरक्षण का भी अपना विशिष्ट योगदान रहा है, जिसके अभाव में शायद लम्बी सांस्कृतिक परम्परा लोक संस्कृति से अलग शायद विकसित ही न हो पाती। यानी विभिन्न इतिहास-खण्डों के शासक वर्गों ने मानों मानव-संस्कृति की आवश्यकता को अपने वस्तु-परक व्यवहार में फलीभूत करते हुए कला-परंपरा को जीवित रखा है। शायद इसी कारण कितने ही कला-रूप और माध्यम आज भी सामाजिक द्वन्द्व के प्रति इतना सचेत और साथक रुख नहीं अपना पाते जितना साहित्य के क्षेत्र में दिखाई पड़ता है।

इन साहित्येतर कलारूपों तथा सामाजिक परिवेश के बीच द्वन्द्वात्मक संबन्ध के समझने के लिए एक तरफ तो हमें इनकी विशिष्ट कृतियों और तत्कालीन विशिष्ट सामाजिक स्पन्दनों के बीच आदान-प्रदान को रेखांकित करना होगा और दूसरी तरफ कलाकार के सामाजिक व्यवहार तथा रुख को ध्यान से विश्लेषित करके यह जानना होगा कि सामाजिक जीवन-स्पंदनों को पकड़ने की कितनी वैचारिक और संवेदनात्मक क्षमता कलाकार ने विकसित की है।

साहित्येतर विशिष्ट कलाकृतियाँ अपने माध्यम (जो ऐतिहासिक परंपरा में विकसित हुआ है) के अनुशासन में बँधकर जीवन के संवेगों, उसकी गतिपरकता, तारतम्यता, अनुभव-पैटर्न, लय आदि की पहचान करती दिखलाई पड़ती है और एक विशिष्ट जन-समाज की भाव-दशाओं को अपने माध्यम का सृजन-धर्मी प्रयोग करती हुई घनीभूत रूप में प्रस्तुत करती हैं। तभी शायद पूरे युग में प्रायः सभी प्रतिभावान कलाकार कुछ नव-विकसित सामान्य जीवन स्पंदनों और भाव दशाओं को पकड़ कर एक सर्वसामान्य कला-परम्परा का विकास करते हैं, और इसके दौरान अपनी सृजन-क्षमता के बल पर भिन्न-भिन्न स्तरों की कला-कृतियों की रचना करते हैं।

विभिन्न ऐतिहासिक युगों में यह देखा गया है कि एक समूची कला-परंपरा कुछ सामान्य सांस्कृतिक संवेगों के आधार पर खड़ी हुई अलग-अलग कलाकारों के हाथों में उनकी सृजनात्मक विशिष्टता के कारण रचना-क्षमता और कला-उत्कर्ष के अलग-अलग आयाम और विकास-बिन्दु छूती है। अर्थात् एक कला-परम्परा के विकास का सामान्य संदर्भ उस समय-विशेष का सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश माना जा सकता है जब समर्थ कलाकारों का एक पूरा समूह अपनी सामाजिकता में जीता हुआ अपने परिवेश के सामान्य संवेगों के साथ रचनात्मक संघर्ष करता है। विभिन्न कला-रूप तब मानों तत्कालीन समय के जीवन-स्पंदनों का वहन करने लगते हैं और उसी सीमा तक सौन्दर्य तथा उत्कर्ष के आयाम छू पाते हैं जिस सीमा तक उन्होंने जीवन की केन्द्रीय उत्पादन-वितरण क्रिया से उद्भूत और अनुशासित अनुभव-पैटर्नों, संवेगों और स्पंदनों के प्रति गहरी गृहण-शीलता अर्जित कर ली है।

साहित्येतर कला-रूपों के सृजन के संदर्भ में दूसरा बहुत महत्वपूर्ण आयाम वह सामाजिक रवैया है जो एक कलाकार अपने वैचारिक व्यवहार-कर्म के

दौरान लगातार विकसित करता है। इसका महत्व पहले तो इसीलिये है कि कोई भी कला-परम्परा मात्रः स्फूर्त तथा यांत्रिक रूप से चलने वाली मानवक्रिया नहीं होती जिसमें व्यक्ति सिर्फ माध्यम, द्रष्टा या उत्प्रेरक तत्व के रूप में प्रगतित होती है। इसके विपरीत हर सांस्कृतिक-सामाजिक सन्दर्भ में विभिन्न कलाकार सामान्य अनुभवों की मूल प्रकृति को पकड़ने के लिए और उनके आधारभूत पक्षों का यथोचित माध्यम द्वारा कलात्मक सृजन करते हुए भीषण वैचारिक संघर्ष करते हैं, चूंकि आर्थिक, राजनीतिक, वैचारिक तथा सांस्कृतिक संश्लेष की जटिलता के बीच में एक समाज के मूल जीवन-स्पंदनों को पकड़ पाना आसान नहीं होता। इसी कारण सामाजिक दृष्टिकोण का महत्व स्वीकार करना होता है। अपने सामाजिक जीवन में विभिन्न वस्तुओं के प्रति लगातार जिज्ञासा, संदेहशीलता, प्रयोगधर्मिता तथा वैचारिक विश्लेषण का रुख अपनाता हुआ कलाकार स्वयं को उन शास्त्रीय विचार-ग्रंथियों और रूढ़ियों से मुक्त करने में समर्थ होता है जो उसके तथा सामाजिक सच्चाई के बीच बाधा बनी रहती हैं। जितनी बेबाकी और निर्भीकता से, जितनी आलोचनात्मकता और विवेकशीलता से कलाकार अपने समाज को लम्बे संघर्षमय ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से देख सकता है, मूल जीवन-स्पंदनों की प्रकृति की उसकी पहचान भी उतनी ही तीखी होती है।

दूसरे, उक्त कला-रूपों के बीच विकासशीलता और ह्रासोन्मुखता के तत्व पहचानने के लिए भी जहाँ विशिष्ट कृतियों तथा कला-परम्परा का सामना तत्कालीन ऐतिहासिक परिवेश से कराना आवश्यक होता है वहाँ विशिष्ट कलाकारों के व्यवहार-दर्शन और दृष्टिकोण के विश्लेषण से भी हमें काफी मदद मिलती है। कारण यह है कि अमूर्त कलाएँ अपने आप में समाज-निरपेक्ष या ह्रासोन्मुखी नहीं होतीं, बल्कि ये तत्व उनमें कलाकार के सचेत अथवा अनजाने व्यवहार-कर्म से आते हैं। आज के संदर्भ में यदि अमूर्त कलाओं में प्रवृत्त कलाकार जन-जीवन की ऐतिहासिक आवश्यकताओं की ओर उन्मुख न होकर पूंजीवादी अर्थ-प्रणाली से जुड़ी मानसिकता तथा व्यावहारिकता अपनाते हैं तो उनकी अपनी कृतियाँ अनायास ही तान, लय, पैटर्न या संयोजन का मात्र यांत्रिक निर्माण कर पाती हैं और पुरानी कला परम्पराओं की ओर यांत्रिक रूप से लौटती हुई शासक-वर्गों तथा उनकी सांस्कृतिक गिरफ्त में आयी जनता की प्रतिगामी सौन्दर्य-चेतना को ही प्रायः संतुष्ट कर पाती हैं।

अमूर्त कलाओं के संदर्भ में कभी-कभी हम स्वयं भी सही दृष्टिकोण नहीं अपनाते और पुरानी कला-कृतियों अथवा परम्पराओं के प्रति कलात्मक आसक्ति या संवेदनशीलता को ह्रासोन्मुखी सौन्दर्य-बोध की संज्ञा देने लगते हैं। कारण शायद यह है कि न तो हम पुरानी कला-परम्पराओं और कृतियों को उनके अपने समय के जीवन-स्पंदनों और संवेगों की शक्तिशाली अभिव्यक्ति के रूप में देख पाते हैं और न ही उस समय के सामाजिक सम्बन्धों और सांस्कृतिक भावरूपों के साथ अपने ऐतिहासिक जुड़ाव की बात समझ पाते हैं। असल में हमारा परिप्रेक्ष्य यह होना चाहिए कि मानव-इतिहास के अंतर्गत अत्यन्त कठिन परिवेश में भी धर्म, कला, संस्कृति, अटूट विश्वास और आस्था आदि अनुभव-तत्वों के बल पर मनुष्य ने अपना संघर्षमय मार्ग प्रशस्त किया है और सौन्दर्य-चेतना का लगातार विकास करते हुए अपनी असंभव-प्राय जीवन-स्थितियों के कुछ क्षणों को प्रकाशित करने की क्षमता दिखाई है। यदि पुरानी कला-कृतियाँ और सृजन-

परम्पराएँ आज भी हमें सुखद प्रतीत होती हैं तो शायद इसलिए कि मनुष्य की ऐतिहासिक सौन्दर्य-चेतना में उनका महत्वपूर्ण स्थान बन गया है। साथ ही यदि मानव इतिहास के अत्यन्त भ्रष्ट, निम्नतम और अंतिम नकारात्मक इस पूंजीवादी युग के वर्तमान दशकों में बेहद पतनशील, यांत्रिक और उथले कलारूपों से ऊब कर लोग कभी क्षणिक रूप से पुरानी कला परम्पराओं में सौन्दर्य और आनन्द खोजने के लिए प्रवृत्त हो जाएँ तो इसे ह्रासोन्मुखी सौन्दर्य बोध कहना उचित प्रतीत नहीं होता। सर्वहारा की लम्बी मानवीय कला-परम्परा का उत्तराधिकार स्वीकार करके उसके जीवन्त और सुखद स्वरूप को संरक्षण देना होगा और उसके सकारात्मक पक्ष को आज की कलात्मक आवश्यकता से जोड़ना होगा। अर्थात् यदि अमूर्त कलाओं के पुरातन स्वरूप के प्रति हममें आसक्ति दिखलाई देती है तो इसलिए नहीं कि हमारी सौन्दर्य-चेतना अंतितकामी है; बल्कि शायद इसलिए कि हमारे समय के कलाकारों ने अपनी सांस्कृतिक परम्परा के श्रेष्ठतम स्वरूप को आत्मसात करके तथा वैचारिक संघर्ष की तीव्र प्रक्रिया से गुजरते हुए आज के जीवन-संवेगों और केन्द्रीय स्पंदनों से सही सम्बन्ध स्थापित नहीं किया है और इस तरह ऐसी कला-कृतियों के सृजन के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार नहीं की है जो सर्वहारा के अनुभवों और सौन्दर्यात्मक भावों की सही पहचान विकसित करा सके।

साहित्य भी यद्यपि मानवीय सृजनशक्ति का कलात्मक प्रतिफलन है, फिर भी भाषा-माध्यम के कारण उसका महत्व बाकी कलारूपों से काफी अधिक तथा विशिष्ट हो जाता है। भाषा के कारण उसे एक ओर जहाँ मानव-इतिहास के दौरान विकसित होने वाली वैचारिक समृद्धि से द्वन्द्व करना पड़ता है तथा संस्कृति की पूरी अर्थ-परम्परा और अनुभवमूर्तता की निरन्तरता को आगे बढ़ाना होता है, वहाँ हर काल-खण्ड में समाज-सत्य की अभिव्यक्ति का जोखम भी झेलना होता है। अर्थात् जहाँ बाकी कलाएँ अपनी अमूर्तता या आंशिक अमूर्तता के कारण प्रायः सामाजिक और वर्गीय निरीक्षण तथा अनुशासन से बच जाती हैं, तथा सामाजिक अनुभवों के अर्थायाम से कुछ अलगाव रखती हुई 'सौन्दर्य सिद्धि' कर लेती हैं, वहाँ साहित्य एक अपेक्षाकृत स्पष्ट सामाजिक रवैया प्रतिच्छवित करने की सार्थक मजबूरी झेलता है। तभी साहित्येतर कलाओं में प्रवृत्त होने वाले कलाकार अपनी साधना करते हुए तब तक अतिरिक्त रूप से नहीं चौंकाते जब तक वे अपने सामाजिक जीवन में भाषा के माध्यम से अपना दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त न कर दें। इसके विपरीत साहित्य अपने आधारभूत माध्यम के कारण प्रायः हर कृति के साथ सामाजिक रुचि और व्यापक आलोचना को आमंत्रित करता है।

भाषा-माध्यम की उपरोक्त कठिनाई असल में कोई नकारात्मक कठिनाई नहीं, बल्कि साहित्य की अतिरिक्त विशेषता है जिसके कारण साहित्यकार अपनी रचनात्मक भूमिका अधिक प्रभावी ढंग से निभाता है। जिन केन्द्रीय अनुभव-संवेगों और जीवन-स्पंदनों को साहित्येतर कला-रूप शुद्ध गतिमयता या अमूर्त परिवर्तन-धर्मिता में पकड़ते हैं, साहित्य उन स्पंदनों को आर्थिक और राजनैतिक परिवेश के द्वन्द्वों के बीच पहचान कर मनुष्य की चेतना से टकराता है। तभी मनुष्य की सांस्कृतिक क्षमता कितने ही अन्य मूर्त सामाजिक पक्षों से जुड़ती है और मानव-चेतना को भावात्मक या वैचारिकता से संपृक्त संवेदनात्मक झटके

देकर उसकी राजनीतिक क्रिया और सामाजिक परिवर्तन-धर्मिता को पुष्ट करती है।

अर्थात् साहित्य के सन्दर्भ में दो आयामों को लेकर सोचना होगा—उसके सौन्दर्यपरक कलारूप को लेकर तथा अर्थपरक उद्देश्य-शीलता को लेकर। कला के रूप में साहित्य जीवनानुभवों को उनकी लयात्मकता, या विशिष्ट ताल-बद्धता के जरिये पकड़ कर अथवा अनुभवों के अंतर्विरोधों को लयात्मकता और ताल बद्धता की सृजनधर्मी सामर्थ्य के बल पर सामंजस्य प्रदान करता हुआ सौन्दर्य तथा कलागत संतोष की सृष्टि करता है और इस पूरी प्रक्रिया में पाठक-श्रोता की सांस्कृतिक क्षमता और संवेदन शीलता को पैनापन तथा विस्तार प्रदान करता है। ऐसे लेखन में अर्थशीलता या व्याख्यार्धमिता की भूमिका हो सकती है श्रेष्ठ मानवीय लेखन में वह पर्याप्त मात्र में मिलती ही है, लेकिन इसमें अर्थ का अनुशासन कलागत संतोष के हाथ में रहता है और साहित्य का प्रभाव अन्ततः सौन्दर्यमूलक बना रहता है। साथ ही यह साहित्य पाठक वर्ग पर बहुत व्यापक प्रभाव डालता है, क्योंकि अन्तर्विरोधों के सृजनात्मक सामंजस्य की पृष्ठभूमि में लेखक की वस्तुपरक सृष्टि निहित रहती है जो समाज-सत्य के विविध आयामों के बीच उन केन्द्रीय स्पंदनों को पकड़ पाती है जो उत्पादक शक्तियों तथा समाज-सम्बन्धों के बीच विद्यमान सार्थक द्वन्द्व के अधीन पूरी ऐतिहासिक समाज-परम्परा के सन्दर्भ में उद्भूत होते हैं। कितने ही सौन्दर्यसृष्टा लेखक अपनी सृजन-प्रतिभा के बल पर उन मूल अनुभवसूत्रों को पकड़ लेते हैं, जिनके परिप्रेक्ष्य में विभिन्न सामाजिक विकृतियों की सार्थक व्याख्या संभव होती है, और जिनके कारण लेखक सामाजिक अन्तर्विरोधों के बीच परिकल्पनात्मक तारतम्य की सृष्टि करते हैं।

दूसरी ओर विभिन्न समाजों के इतिहास में ऐसे साहित्य-लेखन की भी लम्बी परम्परा देखने को मिल सकती है जिसमें लेखकों ने मूलरूप से सामाजिक सच्चाई और अर्थशीलता से बँधकर अपने समय के जन-समुदाय को नई व्याख्यायें प्रदान कीं और उनकी वैचारिकता को जागृत तथा पुष्ट करने के लिये अपनी सृजनात्मक क्षमता का इस्तेमाल किया। इस साहित्य-परम्परा का मूल उद्देश्य पाठक-श्रोता-दर्शक वर्ग को सौदर्न्य चेतना संप्रेषित करना नहीं रहा, बल्कि अपने सामाजिक सम्बन्धों, नियमों-उपनियमों, रुचियों तथा मूल्यों का लगातार विवेकपूर्ण टिप्पणी और विश्लेषण के माध्यम से समझना और समझाना रहा। इस अर्थ में यह साहित्य परम्परा-प्रायः अपने समय की सामाजिक सच्चाई और राजनीति-धारा से रचनात्मक द्वन्द्व स्थापित करती हुई जन-समाज की दृष्टि को व्यापक तथा जागरूक बनाने में प्रवृत्त रही। साथ ही चूंकि परिकल्पनात्मक अभिव्यक्ति को प्रस्तुत-माध्यम के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता था जिसके आधार पर आवश्यक पक्षों के चित्रण में यथोचित चुनाव और कांट-छांट का भी सहारा लिया जा सकता, इस लेखन-परम्परा ने अपने समय के बारे में उस लेखन-अध्ययन से किंचित् अधिक सूक्ष्म और सही बातें भी कहने की सामर्थ्य दिखाई जिसे आमतौर पर इतिहास-लेखन के नाम से जाना जाता है। शायद इसी कारण गेटे, बाल्जाक स्टैंडल, डिकेंस, टॉलस्टॉय, प्रेमचन्द आदि के लेखन में अपने-अपने समाज के आधारभूत पक्षों का जो सही और सूक्ष्म चित्रण मिलता है उसके सामने इतिहास-लेखन के नाम से आने वाली कृतियों का अध्ययन आमतौर पर मात्र औपचारिक

और किताबी दिखलाई पड़ती है।

अपने समय के तार्किक विश्लेषण, सैद्धान्तिक विवेचन, सामाचिक चिंतन, वैज्ञानिक विकास-आर्थिक प्रचार-प्रसार, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय टकरावों के बीच से केन्द्रीय-सूत्रों को पकड़ता हुआ और समाज के मूल पक्षों के प्रति स्पष्ट रुख अपनाकर विशिष्ट प्रश्नों को समर्थन अथवा विरोध प्रदान करता हुआ यह साहित्य लेखन निरन्तर संघर्षशील भूमिका निभाता रहा। इसका अर्थ यह नहीं कि इस लेखन ने जीवन के सौन्दर्यात्मक पक्षों की ओर पीठ फेरे रखी या शब्द-चयन, शैली, तकनीक आदि के प्रति उदासीनता बरती, अथवा समाज के मूल संवेगों और अमूर्त स्पन्दनों को पकड़ने की वस्तु-परक आकांक्षा और क्षमता का अपनी कृतियों में प्रदर्शन नहीं किया, बल्कि यह कि, जैसा ऊपर कहा गया है, इस लेखन का मूल और अनुशासनात्मक बिन्दु अपने समाज के अंतर्विरोधों के सन्दर्भ में उद्देश्यपरक भूमिका निभाना बन गया और कला के अमूर्त और अपेक्षतया सूक्ष्म पक्षों को उद्देश्य की सम्पूर्णता से प्रचालित होने वाले घटक के रूप में द्वितीयक महत्व प्राप्त हुआ।

स्पष्ट है कि अमूर्त कलाओं की मूल प्रकृति और सामाजिक उद्देश्य-पूर्णता से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध मानव-चिंतन के बीच विकसित होने वाली ये दो साहित्य-धारायें न तो एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न होती हैं और न ही एक दूसरे के पूर्णतः विरोध में खड़ी होती हैं, यद्यपि इनके बीच एक तरह का खिंचाव या तनाव लगातार बना रहता है। कारण यह है कि इतिहास-धारा के एक विशिष्ट कालखण्ड में उत्पादन-वितरण की तथा मूल सामाजिक सम्बन्धों के विरोध अथवा आंशिक एकत्व की धुरी पर पूरे ऐतिहासिक यथार्थ के परिवेश में जो वस्तुपरक स्पंदन और संवेग बनते तथा प्रवाहित होते हैं—दोनों साहित्य-प्रवृत्तियों की शक्ति उन्हीं की सही पहचान और पकड़ में निहित होती है। तभी अनेक लेखक अपनी सांस्कृतिक परम्परा के महत्त्वपूर्ण तत्वों को आत्मसात करके या तो व्यापक सौन्दर्य-चेतना को अपने संदर्भ में विकसित करने का जिम्मा लेते हैं और इस तरह नये वस्तुपरक जीवन-स्पंदनों के साथ सृजनात्मक तादात्म्य स्थापित करते हुए मूल मानव-अनुभावों की गरिमा और सुन्दरता को नया आयाम देने की सोचते हैं, या अपने तात्कालिक संदर्भ में मानव-व्यवहार को परिवर्तन-प्रक्रिया से सीधे जोड़कर संघर्षशील सामाजिक भूमिका निभाने की मानवीय आवश्यकता पर बल देते हैं। इस तरह इन दो साहित्य-प्रवृत्तियों का अपना किंचित् पृथक महत्व है जो व्यापक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में मनुष्य की सृजन-धर्मिता और विवेकशीलता के बीच विद्यमान सार्थक द्वन्द्व का ही विशिष्ट सांस्कृतिक प्रतिफलन है और उससे परिचालित-अनुशासित होता है।

विभिन्न साहित्यों के इतिहास को दृष्टि में रखकर एक और सामान्य बात यहाँ कही जा सकती है, यद्यपि उसके एकाध अपवाद भी इधर-उधर मिल जायेंगे। वह है इन दो तरह की साहित्य-धाराओं तथा सामाजिक गतिशीलता के बीच स्थापित होने वाले सम्बन्ध को लेकर। यह प्रायः देखा गया है कि राज-नीतिक और आर्थिक परिवर्तनों के लिये पृष्ठभूमि तैयार होने पर जन-समुदाय अतिशय गतिशील हो उठता है और अपने विचारकों, नेताओं, लेखकों आदि से सीधी और स्पष्ट भूमिका की अपेक्षा करने लगता है। कितने ही नये प्रश्न तब अपनी व्याख्या के लिए मानव समुदाय के सम्मुख-प्रस्तुत होते हैं और चितकों के

लिए चुनौती बन जाते हैं। पुरानी चीजें तब सहसा अर्थहीन हो उठती हैं और सामान्य जनता उन्हें नष्ट करने के लिए उद्यत होने लगती हैं। सामाजिक द्वन्द्वों के तेज होने से पुरानी व्यवस्था कमजोर पड़ जाती है, क्योंकि एक नयी और बेहतर व्यवस्था का सार्थक सूत्रपात हो चुका होता है। नयी परिवर्तनकारी शक्तियों के सामने तब सभी अर्थहीन सम्बन्धों, नकारात्मक प्रवृत्तियों, विचारों, मूल्यों आदि को अस्वीकार करने तथा सकारात्मक सम्बन्धों तथा मूल्यों के विकसित करने का महत्वपूर्ण कार्य प्रस्तुत होता है। जब भी मानव-इतिहास में परिवर्तन की प्रक्रिया तेज हुई है और पुरानी और नई समाज-प्रणालियों के बीच द्वन्द्व बढ़ा है, तब साहित्य में वैचारिक तथा व्याख्यात्मक पक्षों की भूमिका महत्वपूर्ण हो गई है। ऐसे काल में साहित्य का इतना विस्तार हो जाता है कि दर्शन, सिद्धान्त, विज्ञान, वैधानिक नियम, सामाजिक कानून, राजनीतिक प्रश्न सामाजिक विश्लेषण आदि के तत्त्व उसकी परिधि में विशिष्ट स्थान प्राप्त करने लगते हैं। एक तरह से तब साहित्य अपने समाज-सत्य के नये तथा अधिक परिवर्तनशील मूल स्पंदनों, सवेगों आदि से तादात्म्य स्थापित करने के लिए अर्थशीलता तथा वैचारिकता का माध्यम पहले से अधिक अपनाता है और गहरे अर्थों में राजनीतिक और उद्देश्यपूर्ण हो जाता है। इससे लेखन की अर्थपरक धारा प्राथमिक धारा बन जाती है और कलाओं की अमूर्तता की ओर उसका झुकाव कम हो जाता है। यही नहीं, बल्कि शायद सामान्य सौन्दर्य-चेतना की प्रकृति में भी बदलाव आता है और अमूर्त कलाओं की लयात्मकता, हार्मनी, संयोजन आदि में तेजी और तनाव पहले की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हो उठते हैं।

इसके विपरीत अपेक्षाकृत स्थायी और शान्त काल-खण्डों में राजनीतिक, दार्शनिक तथा सांस्कृतिक अधिरचना के विभिन्न तत्व विशेषीकरण और पृथक्करण की दशा में प्रवृत्त होते हैं और कलाओं का स्वरूप आमतौर से आत्म-विश्लेषण, अंतर्मुखी, सौन्दर्यात्मक और शिल्प-धर्मी होता है। इन काल खण्डों की कलाकृतियों में मानव अनुभव के उन पक्षों की प्रधानता रहती है जो ज्यादा व्यापक स्थायी और गहरे होते हैं। तब न केवल अमूर्त कलाओं में जीवन पद्धति में तादात्म्य की प्रकृति धीमी और आत्मविश्वस्त होती है बल्कि साहित्य में भी अर्थ का स्थान स्वर, ताल, लय, घटना-संयोजन और शैल्पिक प्रयोगशीलता को मिलने लगता है। इसका यह अर्थ नहीं कि ऐसे समय में कलाओं या साहित्य का ह्रास होने लगता है, बल्कि यह कि उनकी मूल प्रकृति में कुछ अन्तर आ जाता है। साहित्यिक क्षेत्र में ऐसे कालों में कितनी ही वे कवितायें या गद्य रचनायें भी लिखी गई हैं, जिनका महत्व न केवल आने वाले लम्बे समय तक कायम रहा है बल्कि जिनके शब्द तथा अर्थ संयोजन की संश्लिष्टता ने नये कालखण्डों में पाठकों की की चेतन में नये-नये अर्थों की सृष्टि करके अपनी अतिरिक्त सृजन-क्षमता सिद्ध की है।

असल में साहित्य के कला-रूप अथवा अर्थशीलता की ओर झुकने का अभिप्राय उसकी प्रकृति के केन्द्रीय अनुशासनात्मक तत्व में परिवर्तन से है न कि एक में दूसरे का नकार दिखाने से। अर्थात् कला-रूप और अर्थ का सम्बन्ध बहुत ही सार्थक और एक दूसरे को समृद्ध करने का सम्बन्ध है। अर्थमूलक रचना अपनी कला-क्षमता और सृजनात्मकता के प्रयोग के कारण जीवन स्थितियों की समग्रता को मूर्तरूप में पकड़ती है और इसी तरह सौन्दर्यमूलक रचना जीवन के अंतर्विरोधों

से उद्भूत तथा अनुशासित संवेगों और स्पंदनों से तीव्र वैचारिकता तथा ऐतिहासिक विवेकशीलता के वल पर ही सौन्दर्यात्मक तादात्म्य स्थापित करने में सफल होती है। इसलिए किसी कालखण्ड में यदि साहित्य अथवा अमूर्तकलाओं में ह्रास के तत्व उभरने लगते हैं तो इसका सम्वन्ध उनकी उस असमर्थता में ढूंढ़ना चाहिए जो अपने समय की वास्तविक स्थितियों, भावदशाओं, संवेगों आदि को समझाने और पकड़ने में लक्षित होती है और जिसका कारण है उन कृतियों में कलारूप तथा अर्थशीलता के वीच सही द्वन्द्वात्मक सम्वन्ध की अनुपस्थिति।

ह्रासशील पूंजीवाद के वर्तमान चरण में साहित्य तथा अन्य कलाओं को लेकर अर्थशीलता तथा कलाधर्मिता के उपरोक्त द्वन्द्वात्मक सम्वन्ध पर लगातार चोट की गई है। एक ओर यदि साहित्य को ऐतिहासिक अर्थशीलता से काट कर मात्र सीमित अनुभवों की गैर सामाजिक और शिल्प केन्द्रित अभिव्यक्ति बना दिया गया है जिसकी परिणति आधुनिक लेखन के विभिन्न तकनीकी और शिल्प-प्रयोगों में होती देखी जा सकती है तो दूसरी ओर अमूर्त कलाओं का सामना अपने समय के वास्तविक सन्दर्भों से सही रूप में नहीं हो पा रहा, जिसके कारण उनकी लयात्मकता और गतिशीलता यांत्रिक, निर्जीव और उबाऊ हो गयी लगती है। दिलचस्प वात यह है कि साहित्य तथा कलाओं में नयी शक्ति का संचार करने के लिए जिन नये तरीकों, संयोजनों, तकनीकी लटकों और अतिनाटकीय पैंतरों का सहारा लिया जा रहा है उनसे मानव-सृजन के ये पक्ष एक क्षणिक-सा चमत्कार ही पैदा कर पाते हैं। लेखन और कलाओं को ऐतिहासिक विवेक और गहरी सिद्धान्तशीलता से काटने का ही यह परिणाम है कि सृजन धर्मी क्षेत्रों में जीवन-सन्दर्भों की केन्द्रीय सच्चाई का अहसास नहीं मिलता।

पतनशील पूंजीवादी समाज-व्यवस्था के अन्तर्गत, जो विश्व-स्तर पर काफी लम्वे समय से मानव-विरोधी और विध्वंसात्मक हो गई हैं, कलाओं और साहित्य का सामान्य ह्रास एक व्यापक सच्चाई है। यह जीवन-प्रणाली विश्व के सभी गैर-समाजवादी देशों के सर्वहारा वर्ग के लिए एक गम्भीर चुनौती के रूप में प्रस्तुत है और व्यापक जनसमुदाय की विचारशीलता और सौन्दर्य-धर्मिता को कुंठित करने के लिए योजना-वद्ध रूप से सक्रिय है। सांस्कृतिक क्षेत्र में इसका सवसे कारगर हथियार है सृजन और ऐतिहासिक विवेक के वीच अलगाव और विरोध स्थापित करके साहित्य तथा अन्य कलाओं को कमजोर वनाना। सर्वहारा वर्ग से गहरे रूप में जुड़ा हुआ लेखक या कलाकार किस तरह अपनी सृजन-धर्मिता और वैचारिकता को परस्पर सम्वद्ध करके मूल सामाजिक परिवर्तन में साहित्य तथा अन्य कलाओं का मार्ग प्रशस्त करता है यह देखना वाकी है।



वाम साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र

अलख नारायण

व्यापकतः सौन्दर्यशास्त्र कला विषयक शास्त्र है। विज्ञान वा शास्त्र दो पैरों से चलता है। एक कदम पर वह आब्जर्वेशन अथवा अभाव में एक्सपेरिमेंट करता है और इस तरह तथ्य संग्रह करता है तथा दूसरे कदम पर इनफेरेंस करता हुआ तथ्यों की व्याख्या—कारण निर्देश करता है। इन दोनों के समन्वय से अधिकृत विषय का सत्य निर्णीत होता है। दायें पैर के उठते ही बायें पैर को स्थिर रहना होता है फिर बायें पैर के चलने पर दायाँ पैर चलना बन्द कर देता है। तब इनका मेल कहाँ और किस तरह होता है? दाहिना पैर जब उठता है और आगे बढ़ता है उसकी गति की 'सेंटर ऑव ग्राविटी' को बायाँ पैर धारण किये रहता है। यदि दाहिना पैर अस्वीकार करता है अथवा बायाँ पैर कोई गड़बड़ी करता है तो निश्चित रूप से गतिरोध उत्पन्न होगा। जैसे कि यदि मिट्टी को अच्छी तरह छान न लिया जाय तो जो मूर्ति उससे बनेगी वह अवश्य टूट जायेगी; उसी तरह मूर्ति गढ़ने की क्षमता के अभाव में मिट्टी का लोंदा भर बन सकेगा, मूर्ति नहीं। सामान्य और विशेष के संयोग से ही पदार्थ का स्वरूप प्रकट होता है। इसे ही वैज्ञानिक दृष्टि कहा है।

इस शताब्दी के आरम्भ से ही किसी भी दार्शनिक विचार के सन्दर्भ में 'भाषा' के विश्लेषण को गुरुत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। दार्शनिक चिन्तन और भाषा विश्लेषण अभिन्न हैं—यह धारणा शताब्दी के आरम्भ से आज तक काफी प्रभाव विस्तार कर चुकी है। बोलभाषा और शास्त्रीय भाषा जिस प्रकार विश्लिष्ट होकर दार्शनिक समस्याओं का स्वरूप उद्‌घाटित कर सकी उसी प्रकार सौन्दर्यशास्त्र भी विश्लेषण की इस पद्धति का आश्रय ग्रहण कर पुराने तात्पर्य और प्रत्यय से आगे बढ़ गया है। 'सौन्दर्यशास्त्र' में दो बहुव्यवहृत प्रत्यय हैं—शिल्प और सौन्दर्य। इसकी संज्ञा और तात्पर्य के स्थिरीकरण के साफल्य के सम्बन्ध में अनेक सौन्दर्यशास्त्री संदिग्ध हैं। क्लाइव बेल जैसे विचारक जो 'शिल्प'

में उसके स्वाभाविक गुण खोजना चाहते हैं किंवा जो शिल्प कर्म के मध्य उसी गुण को ही पकड़ने जाते हैं, जिस गुण के कारण शिल्प-वस्तु अन्य 'वस्तुओं से स्वतंत्र रह कर अपनी सौन्दर्य और शिल्प भावना को सुरक्षित रख लेती है, भ्रांत मानते हैं।

शिल्प क्या है ? सौदर्न्य क्या है ? जैसे प्रश्नों को कोई चाहे तो अवान्तर भी कह सकता है क्योंकि ऐसे प्रश्नों का कोई सामयिक उत्तर देना सम्भव प्रतीत नहीं होता। जिस शिल्प-वस्तु को हम युगों से 'सुन्दर' कहते रहे हैं और आज भी कह रहे हैं उसके साधारण गुण वा वैशिष्ट्य (कॉमन डिनोमिनेटर) की खोज करने पर वे हमें अत्यन्त तुच्छ प्रतीत होते हैं। विश्वविख्यात भाषाविद् और सौन्दर्यशास्त्री विटगिन्सटाइन का प्रभाव ऐसे कथनों पर देखा जा सकता है। इनका ही अनुसरण करते हुए वेट्ज और जिफ ने कहा है कि 'शिल्प' और 'सौन्दर्य' को समझने के लिए हमें इन शब्दों के प्रयोग को तथा इस प्रयोग या व्यवहार स्रोतों के बीच सादृश्य है या नहीं—वही सादृश्य जो एक परिवार के विभिन्न सदस्यों के बीच होता है, को देखना होगा।

शिल्प-साहित्य और सौन्दर्य का सार अनुसंधान अत्यन्त श्रम साध्य कार्य है। आधुनिक काल में विश्व के मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्रियों-चिंतकों ने ही यह श्रम साध्य कार्य भी पूरा किया है जिस पर आगे कहूँगा। अठारहवीं शताब्दी में थामस रीड ने शिकायत करते हुए कहा था कि : "येट ऑव ब्यूटी देअर इज ए ग्रेटर डाइवरसिटी नॉट आनली ऑव डिग्री बट ऑव काइंड, दि ब्यूटी ऑव म्युजिक, दि ब्यूटी ऑव ए फाइन वूमन, एन्ड मेनी मोर दैन वी नेम्ड, आर डिफरेंट काइंड ऑव ब्यूटी, वी हैव नेम्स टु डिस्टिंग्यूस देम बट दि नेम्स ऑव डिफरेंट आब्जेक्ट्स टु ह्वीच दे बिलांग।" रीड के कहने का अभिप्राय था कि सौन्दर्यशास्त्रियों ने इतने विलक्षण विषय के सम्बन्ध में गम्भीर अध्ययन मनन अवश्य किया है किन्तु सरलता के प्रति दुर्बलता या आसक्ति के कारण ही मात्र कई सुन्दर विषयों को आदर्श मानकर बहुत ही कम नीतियों की सहायता से इस विलक्षणता की व्याख्या करने की चेष्टा की थी। एक दूसरे चिंतक डुगाल्ड स्टेवर्ट ने विषय को भाषा सम्पर्कित दार्शनिक आलोचना के स्तर से देखते हुए कहा है : "इनस्टेड ऑव सर्चिंग फार दि कॉमन आइडिया एन्ड एसेंस ह्वीच दि वर्ड ब्यूटी डिनोट्स ह्वेन अप्लाइड टु कलर्स, टु फार्मस, टु साउण्ड्स, टु कम्पोजिशन इन वर्स एन्ड प्रोज, टु मैथेमेटिकल थियोरम्स एन्ड टु मोरल क्वालिटीज, अवर अटेंशन इज डाइरेक्टेड टु दि नेचुरल हिस्ट्री ऑव दि हुमेन माइंड, एन्ड टु इट्स नेचुरल प्रोग्रेस इन दि इम्प्लायमेंट ऑव स्पीच।"

इस सदी के तीसरे दशक से सौन्दर्यशास्त्र के सम्बन्ध में नये कोण से विचार आरम्भ हुआ। क्रोचे के अनुयायियों के रोमांटिसिज्म तथा ब्रैडले के भाववाद के प्रतिवाद में ही इस नयी चिंतन पद्धति का विकास हुआ। इन नये विचारकों ने अनुभव को प्रमाणिकता को आधार बनाया तथा सामान्यीकरण का विरोध किया। इन्होंने संगीत, चित्रकला, कविता, नाटक आदि प्रत्येक शिल्प कर्म के विशेष वैशिष्ट्य के सम्बन्ध में सचेतनता बरती और प्रतिपादित किया कि सौंदर्यशास्त्र का उत्पादन शिल्प कर्म की उपभोग जनित अनुभूति व सौन्दर्य की उपलब्धि नहीं, इस शास्त्र का आलोच्य उपकरण 'शिल्पबोध' है जिसे आलोचकों की भाषा में व्यवहृत वर्णनामूलक शब्द और प्रत्यय कहते हैं।

इस तरह एक धारणा सौन्दर्यशास्त्र के साथ हमारी अभिज्ञता की वनी अर्थात् शिल्प के सौन्दर्य उपभोग मात्र के सम्बन्ध को स्वीकार नहीं किया। यह एक प्रकार से अतीत का वर्तमान के साथ सम्बन्ध विच्छेद था। एक दूसरी धारणा सौन्दर्यशास्त्र के सम्बन्ध में सिनयेटिक फिजियोलॉजी स्कूल के विचारकों द्वारा पेश की गयी जहाँ स्नायुतंत्र के उच्चतम अंश अर्थात् 'ब्रेन' के समस्त मानसिक क्रियाकलापों का आधार मानकर चला गया। सेचनोव ने केन्द्रीय स्नायुतंत्र—फेनोमिनन ऑव इनहिविशन का आविष्कार किया और इस दिशा में कार्य करते हुए पावलोव ने कंडिशन्ड रिफलेक्स का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। कंडिशन्ड रिफलेक्स के तत्वों द्वारा मनोविज्ञान, पदार्थ विज्ञान तथा रसायनशास्त्र की तरह एक "नेचुरल साइंस" का रूप प्रतिपादित हुआ जिसकी मौलिक नीति "प्रिंसपल ऑव डिटरमिनेशन" हुई। इन चिंतकों ने सौन्दर्यशास्त्र की समस्या पर नितान्त नये दृष्टिकोण से प्रकाश डाला है और कहा है कि शिल्प कर्म मनुष्य के जीवन कर्म का ही एक विशेष रूप है; जीवन पर्यन्त मनुष्य वाह्यजगत की प्रतिकूलता के बीच अपने को जीवित रखने का जो संघर्ष करता है वह एक नितान्त जटिल कर्म है और उसी की एक अभिव्यक्ति का रूप है उसका शिल्पकर्म। शिल्प कर्म भी एक कंडिशन्ड रिफलेक्स है, इसमें भी वाह्य स्टिमूलस की कारकता खोजी जा सकती है। किन्तु ध्यान में रखने की वात है कि विज्ञान में मात्र स्ट्रक्चर होता है, टेक्सचर नहीं। शिल्प-साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र के संदर्भ में स्ट्रक्चर और टेक्सचर दोनों का अध्ययन होता है।

अन्य क्षेत्रों की तरह सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में भी मार्क्सवादी विचारकों ने एकदम नये ढंग से प्रवेश किया। क्रिस्टोफर काडवेल ने इस दिशा में पहल की थी किन्तु उनकी मान्यताओं की चर्चा हम वाद में करेंगे। मार्क्सवादी चिंतकों में जार्ज लूकाच का नाम सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी मान्यताओं के लिए भी विवादास्पद है। दरअसल लूकाच की सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी अवधारणा के पीछे विस्तृत अध्ययन की पृष्ठभूमि है। उन्होंने अपनी सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यता की नींव समालोचित हेगेल व तरुण मार्क्स की कृतियों में उपलब्ध एलियनेसन के तत्वों पर रखी। यह एक प्रकार से समस्त पूर्ववर्ती सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी मान्यताओं से एक निश्चित प्रस्थान था। विच्छिन्नता (एलियनेसन) की हेगेलीय व्याख्या से पृथक् मार्क्स ने 'श्रम' की विच्छिन्नता की वात कही थी। मार्क्स की स्थापना थी कि पूंजीवादी समाज में श्रमिक विच्छिन्न हैं, उसका श्रम विच्छिन्न है, वस्तुतः जिससे आदर्श समाज की स्थापना होती है। मनुष्य इस बुर्ज्वा समाज में जिस सुषमा, सौन्दर्य और पूर्णता से वंचित है वह और कुछ नहीं पूंजीवादी व्यवस्था का अन्य नाम है जिसे मार्क्सवादी सचेतनता द्वारा ही दूर किया जा सकता है। नये सौंदर्य शास्त्र की दिशा में कार्य करते हुए लूकाच ने साहित्यालोचन में 'समाजवादीय यथार्थ' संज्ञा के दुरुपयोग तथा अनेक समाजवादी विषयों की संदर्भहीनता पर करारा प्रहार तथा मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र की संकीर्ण वामपंथी व्याख्या का प्रत्याख्यान भी किया।

'सौदन्र्यशास्त्र के सिद्धान्त' ग्रन्थ में लूकाच ने शिल्प-साहित्य के मूल्यांकन सम्बन्धी मानदंड के निर्धारण के सिलसिले में मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन के साथ ही गेटे की कविताओं का भी हवाला दिया है। लूकाच के सौन्दर्यशास्त्र की दो मौलिक समस्याएँ हैं प्रतिफलन और प्रतिरूप। इन्हीं दोनों पदों के अर्थ निरूपण में वे

नियोजित रहे हैं। 'शिल्प एवं वस्तुमय सत्य' शीर्षक लेखक में अपने सौन्दर्यशास्त्रीय तत्वों की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है कि वस्तु का सहज अनुकरण वा ईमिटेशन कला की सिद्धि नहीं है क्योंकि ऐसा करने से वस्तु की 'बाह्याकृति' वा एपियरेन्स मात्र व्यक्त होगी। 'बुर्ज्वा सौन्दर्यशास्त्र में प्रतिफलन के तत्व' लेख में उन्होंने दिखाया है कि सत्य को इस भाववादी तथा एकांगी आकृति की सीमा-बद्धता से बुर्ज्वा सौन्दर्यशास्त्री भी असंतुष्ट हैं। सत्य का जटिल रूप उनकी रचनाओं में अनायत्त है; शिला की तरह विपरीत बिन्दु की भ्रान्ति के वशीभूत बुर्ज्वा रचनाकार 'वस्तु' से हटकर शैल्पिक काल्पनिकता तक खिसक जाते हैं। इन रचनाकारों की कृतियों के सौन्दर्यशास्त्रीय विश्लेषण के सिलसिले में लूकाच ने एमिल जोला, एम्पैथी के तत्त्व तथा वारिंगर के एब्सट्रैक्शन वा विमूर्तन की चर्चा की है।

यथार्थ मात्र बाह्याकृति नहीं है, एक मात्रा या दिशा नहीं है, इसके अनेक उपादान हैं, अनेक मात्राएँ हैं और उनके मध्य निरन्तर द्वन्द्व चलता रहता है फिर एकता स्थापित होती है। 'सौन्दर्यशास्त्र के प्रसंग में मार्क्स एवं एंगेल्स' लेख में लूकाच ने सिद्ध किया है कि इन दोनों चिंतकों ने विक्षिप्त एवं आकस्मिक उक्तियों अथवा व्यक्तिगत पसन्द-नापसन्द को आधार नहीं बनाया है बल्कि उनकी धारणा के अनुसार सामाजिक और ऐतिहासिक तत्व के भीतर से ही 'सौन्दर्य' के 'प्रतिमान' युक्तिसंगत रूप में अस्तित्व ग्रहण करते हैं। आज जब समकालीन साहित्य के मूल्यांकन के लिए नये सौन्दर्यशास्त्र की आवश्यकता पर जोर दिया है तो इस सन्दर्भ में मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्रीयों में व्याप्त वैमत्य का विश्लेषण करते हुए उन तत्वों का खंडन और परित्याग नितान्त अनिवार्य है जिनमें व्यक्तिगत पसन्द और रुचिबोध के आधार पर मूल्यांकन की मान्यताएँ स्थिर की गयी हैं तथा मार्क्स की स्थापनाओं का विकृत रूप में उपयोग किया गया है। लूकाच ने सौन्दर्यशास्त्र के प्रतिमान निर्धारण के निमित्त मार्क्स और लेनिन के 'प्रतिफलन' के उन तत्वों का उपयोग किया जिनकी स्थापना मार्क्स ने बालजक तथा लेनिन ने टॉलसटॉय की रचनाओं को प्रतिफलन का विषय बना कर एक विशिष्ट किस्म की व्याख्या की अवतारणा की है। आवश्यक नहीं है कि बालजक और टॉलसटॉय की दृष्टि को स्वीकार किया जाये किन्तु इस तथ्य को अस्वीकार करने की जमीन सहज-सुलभ नहीं है कि इन्होंने अपने युग की वास्तविकता को समग्रता में प्रतिफलित किया है। लूकाच द्वारा प्रतिष्ठित आलोचना में समग्रता, आलोचनात्मक यथार्थ, समाजवादी यथार्थ, प्रतिफलन, प्रतिरूप आदि पदों का निश्चित प्रयोग सौन्दर्यशास्त्र को विकसित करने के सिलसिले में किया गया है। लूकाच ने लिखा है कि : "समाजवादी मानवता ही प्रगतिवादी सौन्दर्यशास्त्र एवं वस्तुवादी ऐतिहासिक चेतना का सार है। यह वस्तुवादी चेतना सामग्रिक भाव से मूलाधार का संधान करती है किन्तु पुष्प के आह्लादकारी सौन्दर्य की उपेक्षा नहीं करती बल्कि ठीक इसके विपरीत इतिहास की वस्तुवादी चेतना एवं प्रगतिवादी सौन्दर्यशास्त्र इस मूलाधार एवं फल के सजीव सम्पर्क को अविच्छेद मानने के पक्ष को मजबूत बनाता है।"[1]

लूकाच ने काफ्का, मुसिल, बेकेट या फाकनर जैसे रचनाकारों की आलोचना इस लिए की है कि ये लेखक जीवन के समग्र रूप, उसका द्वन्द्व, उसकी अनियत परिवर्तनशीलता के प्रति गाफिल रहे हैं, असचेत रहे हैं। इन लेखकों में

इतिहास चेतना का अभाव है। जब आज हम हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में नये सौन्दर्यशास्त्र की मांग और चर्चा कर रहे हैं तो अनिवार्य है कि हम इस बात के प्रति भी सचेत रहें। हिन्दी के उन बुर्जुग या समकालीन रचनाकारों के प्रति सख्त दृष्टि अपनायी जाये जिनमें इतिहास चेतना का अभाव है, जो व्यक्ति सर्वस्वता के शिकार हैं। इसके साथ ही हमें "मार्क्सवादी समीक्षा की समस्याओं पर प्रबन्ध" में व्यक्त लुनाचर्स्की के इस मन्तव्य को भी दृष्टिपथ में रखना चाहिए।" "सार्वभौमिकता की कसौटी को गम्भीरता से लागू करना चाहिए। हमारे प्रकाशन एवं प्रचारात्मक साहित्य का विस्तार नितांत लोकप्रिय स्तर से लेकर अत्यन्त जटिल पत्र-पत्रिकाओं तक है जो पाठक से काफी समझ की अपेक्षा रखती है। इसी तरह हम तमाम साहित्य को उन किसानों या मजदूरों के स्तर तक नहीं गिरा सकते जो अब तक असंस्कृत हैं। यह बहुत गम्भीर भूल होगी। किसी भी शिल्प में विषय अथवा वस्तु का मानवीकरण होता है जिसमें विषयी और विषय, सत्य और सौन्दर्य की द्वैतता के लोप हो जाने से मनुष्य यूटोपिया वर्जित समग्र यथार्थ की धारणा प्राप्त करता है अर्थात् प्रकृत वैज्ञानिक प्रतिफलन। इस प्रतिफलन में युटोपिया एवं भाववादी व्यक्तिनिष्ठता जिस तरह अग्राह्य होती है उसी तरह फोटोग्रैफिक हू-ब-हूपन तथा नेचुरलिज्म भी। लुनाचर्स्की और लुकाच दोनों जहाँ एक ओर बुर्ज्वा शिल्प की निन्दा करते हैं वहाँ दूसरी ओर प्रगतिवादी सरलीकरण की भी।

क्रिस्टोफर काडवेल जिन्हें 'सौन्दर्यशास्त्र की आधारभूत समस्याओं के मार्क्सवादी समाधान के प्रथम प्रयास' करने का श्रेय दिया गया है, की चर्चा पहले की जानी चाहिए थी किन्तु जानबूझ कर काडवेल की चर्चा मैंने यहाँ की है। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि वे ही पहले आलोचक हैं जिन्होंने शिल्प साहित्य पर पूरी यथार्थवादी दृष्टि और पूर्णतः मार्क्सवादी दृष्टिकोण से विचार किया। काडवेल ने अपनी आलोचना में मार्क्सवाद के उन संघटक तत्वों को स्पष्ट किया है जिनसे मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र की रूपरेखा बनती है। डेविड मार्गोलिज ने जार्ज थामसन का हवाला देते हुए कहा है। "थामसन का कहना ठीक है कि काडवेल ने मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र को सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत नहीं किया, वह अभी 'थान' के रूप में ही है : लेकिन सुव्यवस्थित न होते हुए भी काडवेल कृतित्व अंग्रेजी भाषा में किया गया मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र का सर्वाधिक आधारभूत योगदान है।"[२] काडवेल की महत्ता इस बात में है कि यह जानते हुए भी कि अरस्तू के 'काव्यशास्त्र' की तरह मार्क्स और एंगेल्स की रचनाएँ सौन्दर्यशास्त्र का सुव्यवस्थित निर्माण नहीं करतीं। उन्होंने यह प्रमाणित किया कि उनकी रचनाएँ सौन्दर्यशास्त्र का आधार बन सकती हैं। काडवेल ने ही इस तथ्य की ओर भी संकेत किया कि मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र मार्क्स और एंगेल्स के साहित्यिक निष्कर्षों का 'प्रतिध्वनि' मात्र नहीं, वह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर ही आधारित होगा। काडवेल ने बड़ी जीवंतता और विद्वतापूर्वक सौन्दर्यशास्त्र की समस्या को सुलझाने सम्बन्धी मार्क्स की धारणा के साथ ही इस कथन को अपनी आलोचना का आधार बनाया। "अपने जीवन के सामाजिक उत्पादन में मनुष्य ऐसे निश्चित सम्बन्धों में बँधते हैं जो अपरिहार्य एवं उनकी इच्छा से स्वतन्त्र होते हैं। उत्पादन के ये सम्बन्ध उत्पादन की भौतिक शक्तियों के विकास की एक निश्चित मंजिल के अनुरूप होते हैं। इन उत्पादन सम्बन्धों का पूर्ण

समाहार ही समाज का आर्थिक ढांचा है—वह असली बुनियाद है, जिस पर कानून और राजनीति का ऊपरी ढांचा खड़ा हो जाता है और जिसके अनुकूल ही सामाजिक चेतना के निश्चित रूप होते हैं। भौतिक जीवन की उत्पादन पद्धति जीवन की आम सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक प्रक्रिया को निर्धारित करती है। मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती, बल्कि उल्टे उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना को निर्धारित करता है।"[३] इस कथन के आलोक में ही काडवेल ने 'साहित्य के कार्य' को एक सामाजिक कार्य के रूप में ग्रहण किया। उन्होंने यह सिद्ध किया कि साहित्य और समाज की सत्ता द्वन्द्वात्मक एकत्व पर आधारित है और यह कि मात्र सामाजिक सत्ता साहित्य का निर्धारण नहीं करती, साहित्य भी समाज को प्रभावित करता है। यह कोई 'विचित्र संयोग' नहीं है कि काडवेल और लु शुन साहित्य को सामाजिक दृष्टि से कार्यपरक मानते थे और कहते थे कि जो साहित्य मानवीय स्वतन्त्रता का विकास नहीं करता उसका कार्य उचित व प्रासंगिक नहीं है; इसका एकमात्र कारण सिद्धान्त और अभिरुचि ऐक्य है। लु शुन ने लिखा है: "क्या साहित्य समालोचकों में कोई ऐसा समालोचक मिल सकता है जिसका कोई निजी मान-दंड न हो? हर किसी का होता है। किसी का सौन्दर्य, किसी का सत्य और किसी की प्रगति। किन्तु, सच्चा आलोचक वह है जिसका कोई निजी मानदंड नहीं है।"[४] वाम साहित्य के सौन्दर्य शास्त्रीय मानदंड निर्धारण के सिलसिले में लु शुन और काडवेल ने जहाँ एक ओर बहुत ही अच्छी तरह यह समझाया कि अच्छा साहित्य प्रगतिशील क्यों होता है वहाँ दूसरी ओर प्रगतिशीलों के इस अनङ अन्तर्विरोध को भी साफ किया जिसके तहत डी० एच० लारेंस जैसे लेखकों की प्रतिक्रियावादी राजनीतिक दृष्टिकोण के कारण निन्दा की जाती है किन्तु उनकी रचनागत महत्ता का कायल हुआ जाता है। (हिन्दी में इस सन्दर्भ में डॉ० भगवतशरण उपाध्याय की अज्ञेय सम्बन्धी आलोचना द्रष्टव्य है।) इन्होंने इस सिलसिले में मार्क्सवादी आलोचना के नाम पर एक नौसिखिए उग्रपन्थी का मूल्यांकन-माध्यम अपनाने और पुस्तक को कूड़खाने में फेंककर विशुद्ध क्रांतिकारी होने का अभिनय करने (लु शुन) तथा तथ्यों को समझे बिना, गम्भीर तथा कठिन श्रम किये बिना ही अनायास लक्ष्य बने-बनाये निष्कर्षों के कारण अपने कम्युनिज्म की डींग हाँकने के वहम पाल लेने (लेनिन) की प्रवृत्ति के प्रति भी सचेत किया है। शिल्प साहित्य को शिल्प-साहित्य की ही तरह देखने का आग्रह लूकाच, लुनाचर्स्की, प्लेखनोव प्रभृति मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्रियों ने किया किन्तु इससे ही काडवेल का साहित्य विषयक कार्यपरक सिद्धान्त खंडित हुआ ऐसा मानना अप्रासंगिक होगा क्योंकि काडवेल की खुद की धारणा थी कि "साहित्य साहित्य के रूप में ही मनुष्य जीवन में कार्य करता है, इसके लिए उसे समाज-शास्त्र नहीं बनना पड़ता।"[५] हिन्दी में नये वाम साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र की अनिवार्यता पर विचार करते समय इन तथ्यों पर अनिवार्यतः ध्यान रखना इसलिए भी प्रासंगिक है कि अपव्याख्याओं का शिकार होने से बचा जा सके।

समकालीन लेखन के सन्दर्भ में वाम साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र के निर्माण के समय इन समस्याओं पर विचार अनिवार्य है: (१) शिल्प-साहित्य क्या है? (२) वाम पक्ष का साहित्य क्या है? (३) साहित्य का सामाजिक कार्य क्या है? (४) साहित्य की आन्तरिक व वाह्य संरचना का स्वरूप, (५) शिल्प साहित्य

की सामाजिक स्थिति, और (६) शिल्प साहित्य, आधार और अधिरचना का सन्दर्भ।

सौन्दर्यशास्त्र को मार्क्सवाद के प्रभाव क्षेत्र में लाने का जैसा संघर्ष काडवेल ने किया था कुछ वैसा ही संघर्ष रोजर गारोदी ने 'मिथक' को मार्क्सवाद के प्रभाव क्षेत्र में लाने के लिए किया किन्तु उनका मार्क्सवादी आधार आत्म-विरोधी माना गया। अर्न्स्ट फिशर ने भी अपने सौन्दर्यशास्त्र की नींव मार्क्सवाद पर ही रखी है किन्तु कला मूल्यांकन के निमित्त जिन सन्दर्भों को उन्होंने लपेटा है, उनकी सारी प्रतिभा स्थापनाओं के बावजूद उन्हें पूर्णता स्वीकार नहीं किया गया। गारोदी ने अपने सौन्दर्यशास्त्र निर्माण के प्रयास की दिशा में प्रस्थान करते हुए कहा कि : "मिथक सहभागिता नहीं अपितु सृजन है; मार्क्स के अनुसार मिथक का स्वरूप वह नहीं है जो फ्रायड के अनुसार है, आकांक्षा की उदात्तीकृत अभिव्यक्ति भी नहीं। मार्क्स के मत में मिथक श्रम का एक रूप है।[६] इसकी व्याख्या करते हुए गारोदी आगे कहते हैं कि, श्रम को मिथक का—यहाँ तक कि प्रकृति के विपरीत संस्कृति का ही—आधार बनाने से, हमें अवसर मिलता है कि हम स्वप्न प्रतीकों तथा मिथक प्रतीकों में विभाजक रेखा खींच सकें। स्वप्न प्रतीक आकांक्षा की अभिव्यक्ति हैं जब कि मिथक प्रतीक मानव द्वारा मानव की अनवरत सृष्टि का एक रूप है। मिथकों के बारे में हम सब अच्छी तरह जानते हैं। राम, कृष्ण, सीता, राधा, कैकेयी, सूर्पनखा, द्रौपदी, अहिल्या, रावण, हिरण्यकश्यप के साथ ही एलोरा, अजन्ता व कोणार्क के मिथकों से हमारा परिचय है। प्रेमेथ्यूस, इकेरस, अन्तिगोने, इलियड, ओडसी की चर्चा करते हुए गारोदी का कहना है कि, ऐसे भी मिथक हैं जो हमारे लिए उपयोगी नहीं हैं या फिर हानिप्रद हैं। वे हमें कहीं भी नहीं ले जाते। दूसरे हैं जो हमें अपने सृजन केन्द्रों तक पहुँचाते हैं, जो लगातार नये क्षितिजों का उद्घाटन करते हैं और अपनी ही सीमाओं को पार करने में हमारी सहायता करते हैं। कुछ बन्द मिथक होते हैं और कुछ खुले मिथक। इनमें से दूसरे ही सही मायने में असली मिथक होते हैं।" गारोदी मिथक सम्बन्धी अपेक्षया इस नये दृष्टिकोण को महान सौन्दर्यशास्त्रीय आंदोलन कहते हैं और इसी के आधार पर मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र की रचना करने की माँग करते हैं।

जार्ज लूकाच की सौन्दर्यशास्त्रीय अवधारणाओं का विरोध बर्तोल्त ब्रेष्ट ने उनके रूपवादी रुझानों के कारण किया और कहा कि : "चूँकि कलाकार को निरन्तर रूप-समस्याओं से उलझना पड़ता है इसलिए लेखक को यह ठोस तौर पर स्पष्ट करना चाहिए कि रूपवाद से उसका क्या अभिप्राय है? अन्यथा कलाकार के पास उसका कोई अर्थ नहीं पहुँचता। अगर अभिप्राय ऐसे रूप से है, जो कलाकृति को 'यथार्थवादी रूपवाद' में तब्दील कर देता है, तो केवल सौन्दर्यशास्त्रीय आधार पर रूपवाद की स्थापना करना गलत है।"[७] ब्रेष्ट ने नये सौन्दर्यशास्त्र की संभावना के सन्दर्भ में लोकप्रिय कला और यथार्थवाद के उदारतापूर्ण मानदण्ड निर्धारण की बात कही है क्योंकि विद्यमान यथार्थवादी कृतियों और लोकप्रिय कृतियों के आधार पर मानदण्ड निर्धारित करने से रूपवादी मानदण्डों तक ही पहुँचा जा सकता है। जीवन्त और लड़ाकू साहित्य के निर्माण के लिए यथार्थ के निरन्तर विकास के साथ हाथ से हाथ मिलाकर चलना अनिवार्य है। इस स्थिति के बावजूद यह माना गया है कि लूकाच की

समीक्षा के सौन्दर्यशास्त्रीय तत्वों ने उन लोगों की शिकायत दूर कर दी जिनकी धारणा थी कि मार्क्सवादी समीक्षा में शिल्प साहित्य के कलापक्ष के विवेचन की उपेक्षा की जाती है।

रोजर गारोदी को सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताओं पर प्रहार करते हुए जी० नेदोसिडिन ने लिखा कि गारोदी ने इस सिलसिले में मार्क्सवाद की बुनियादी अवधारणा को ही खण्डित कर दिया है। सच्चाई तो यह भी है कि गारोदी ने शिल्प भावना के सम्बन्ध में लेनिन के प्रतिफलन के तत्वों की भी उपेक्षा की है। गारोदी ने जिस 'सीमाहीन वास्तविकता' को स्थापना करते हुए 'अतिकथा' वा 'प्रेमेथ्यूस' के पौराणिक यथार्थ की चर्चा की है नेदोसिडिन की दृष्टि में वह यथार्थ विषयमुख यथार्थ को परिलक्षित नहीं करता बल्कि वह एक वास्तव निरपेक्ष स्वाधीन रूपकल्प का निर्माण करता है। इस सच्चाई से कैसे इन्कार किया जा सकता है कि हिन्दी में यथार्थवाद की शिल्पसम्मत अभिव्यक्ति के लिए नये शिल्प माध्यम, प्रकरण और कथन पद्धति की दिशा में अनेक प्रचेष्टाएँ की गयी हैं।

विश्व में जो कुछ जीवन्त और सृष्टिशील है वह किसी की प्रतीक्षा और अपेक्षा में चुपचाप बैठ नहीं सकता उसी प्रकार यथार्थवाद—वस्तुवाद भी स्वतः ही विकसित होता चलता है और नई-नई समस्याओं तथा मनुष्य के अनुसंधित्सु चिन्तन के प्रगतिशील विकास के साथ संगति रखता हुआ क्रमशः समृद्ध हो उठता है। उदाहरण के लिए जीवन के तात्पर्य की व्याख्या में स्थान कालबद्ध कविता के प्रकरण की भी एक परिवर्तनशील और विकासमान भूमिका होती है। युगजीवन के जटिल संघर्ष के मर्म तक पहुँचने के लिए, हमारे इस क्रांतिकारी समय को प्रतिफलित करने के लिए, अनेक रचनाकार रूपक, बिम्ब व इसी तरह अन्य किसी माध्यम का आश्रय ग्रहण करते हैं, कुछ पौराणिक रूपकल्प और उसके साथ सामंजस्यपूर्ण रचना शैली का भी आलम्बन ग्रहण करते हैं। नेदोसिडिन का गारोदी के विरुद्ध अभियोग यह है कि उसने जिस पौराणिक यथार्थ की स्थापना सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में करनी चाही है उसका उपर्युक्त आधुनिक शिल्प की प्रवणता से कोई सम्वन्ध नहीं है बल्कि उसकी वास्तविकता का मूल दोष यह है कि उसने यह नहीं बताया कि पौराणिक शिल्प साहित्य जीवन के सत्य को किस तरह प्रतिभाषित करता है, यहाँ तक कि उसने 'यथार्थ सत्य' के दृष्टिकोण से पौराणिक शिल्प साहित्य का मूल्यांकन भी नहीं किया है। फलस्वरूप गारोदी का सिद्धान्त समूह प्रगतिशील, वास्तविक यथार्थवादी शिल्प एवं यथार्थ को रहस्यमय करने के उद्देश्य से जहाँ 'खामखयाली कल्पना' का व्यवहार और यथार्थ का विकृत रूपकल्प निर्मित किया जाता है उस तथा कथित आधुनिक घपले से युक्त शिल्प, दोनों को मिलाकर गड्डमड्ड कर देता है।

मतादर्शगत सौन्दर्यशास्त्रीय इन दो विरोधी अवस्थानों के फलस्वरूप जो मौलिक सीमा रेखा मायकोवस्की की 'रहस्यमय पीतवर्ण' में उभरती है उससे तुलना करने पर मारिनेति के 'पुराण' की असलियत समझ में आ जाती है ठीक वैसे ही जैसे ब्रेष्ट की 'जेचुयान की रमणी' से जेम्स जायस की 'यूलीसिस' की तुलना करने से आती है। गारोदी ने जिस 'सीमाहीन यथार्थ' की स्थापना करनी चाही है उसमें सारे विरोधी अवस्थान घुल गये हैं, ब्रेष्ट और जायस का भेद मिट गया है। लेनिन ने जिस दो संस्कृति वाली बात कही है उससे भी गारोदी ने कोई सरोकार नहीं रखा है। शिल्प विषय के संदर्भ में द्वन्द्वमूलक दृष्टि का

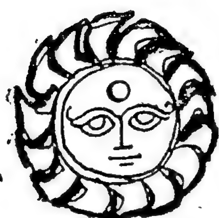
गारोदी ने अवज्ञामूलक प्रत्याख्यान किया है। विचित्र स्थिति है कि गारोदी को सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताओं की प्रशंसा में बुर्ज्वा लेखक पंचमुख हैं तो उसको 'सीमाहीन यथार्थवाद' की ताईद करते हुए अर्न्स्ट फिशर का कहना है कि—'सृजनशील मार्क्सवाद के नमूने के तौर पर गारोदी की अवधारणा को देखा जाना चाहिए।'

तथ्यत: वैप्लिविक द्वन्द्वमूलक तत्वों के अस्त्र से सुसज्जित सृजनशील मार्क्सवाद कभी भी जीवन के विरोध वैपरीत्य के मूल केन्द्र में साहस के साथ अनुसंधान व प्रयोग करने अथवा शिल्प के सामाजिक विश्लेपण से विमुख नहीं हुआ। एक साथ अतिसरलीकरण और अतिक्रांतिकारिता के स्थूल-अनड़ विश्वास के विरुद्ध खड़ा होकर सृजनशील मार्क्सवाद आधुनिक संस्कृति में सच्चे शिल्पगत मूल्यबोध के अविचल रक्षक की तरह संग्राम तत्पर है जिससे सर्वापेक्षा अधिक परिमाण में सौन्दर्यशास्त्रीय स्पन्द व मूल्यबोध को पूंजीवाद के अस्त्र की जगह समाजवादी हथियार के रूप में परिणत करना सम्भव हो सके।



सन्दर्भ

१. जार्ज लूकाच : समकालीन यथार्थ, प्रतिफलन के तत्व और परिदृश्य बोध, अलखनारायण आलोचना ३० जुलाई-सितम्बर १९७४।
२. काड्वेल और साहित्य की सामाजिक वृति, आलोचना १३, अनुवाद : विश्वनाथ त्रिपाठी।
३. कार्ल मार्क्स, प्रिफेसट्ु ए कंट्रीब्यूशन टु द क्रिटिक आफ पालिटिकल इकानामी, पृष्ठ १८२।
४. मुक्तिबोध, समालोचकों के समालोचक निबन्ध, १७ जनवरी १९३४।
५. क्रिस्टोफा काड्वेल, इल्यूजन एण्ड रियलिटी में।
६. रोजर गारोदी, मार्कसिज्म इनट्वेंटियेथ सेंचुरी में।
७. जार्ज लूकाच के विरोध में, बर्तोल्त ब्रेष्ट, आलोचना ३२, अनु : नामवर सिंह।



मार्क्सवाद के परिप्रेक्ष्य में रचना और विचार-स्वातन्त्र्य का सवाल

अतुलवीर अरोड़ा

आदमज़ाद की गतिविधियों का लेखा-जोखा, उसकी विचार-शृङ्खला, दार्शनिक सूझ-बूझ, मनुष्य की रचनात्मक-सृजनात्मक तकलीफों-तनावों का व्यौरा, उसका श्रम-कर्म.........भले ही वह मिट्टी के मामूली वर्तन वनाने का हो या लोहे-लकड़ी के हथियार वनाने का, शहरों-महानगरो के निर्माण-शिल्प का हो अथवा मोटी तकनीकी खोजों से पैदा होने वाले अलगावों और अजनवीयत का....मार्क्सवादी विचारधारा ने इसकी शिनाख्त दूसरी चिन्तन-प्रक्रियाओं और विचारधाराओं की वनिस्वत कुछ वेहतर और अधिक आधारभूत ढंग से स्पष्ट करने की कोशिश की है। यह शायद इसलिए भी सम्भव हो सका है कि मार्क्सवादी चिन्तन में मनुष्य की आधारभूत संस्कृति की सार्वभौमिक और प्राकृतिक पहचान का शास्त्र अन्तर्निहित है। 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' में दिया गया मार्क्स-एंगेल्स का सीधा और वेलाग कथन इस शास्त्र की वुनियाद है। जैसे इस एक कथन ने आदिम-संस्कृति से लेकर वर्तमान मानव-इतिहास तक की कुंजी हमारे हाथ में थमा दी है.........यह कहते हुए कि तमाम वे समाज जो अस्तित्व में हैं, उनका इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है।

वर्ग-संघर्ष की प्रकृति के जिस विस्तृत मण्डल का आभास अपने आधारभूत रूप में हम तक मार्क्स-एंगेल्स के जरिये पहुँचा है और जिसे लेनिन और माओ-त्से-तुंग ने आगे विकसित और विश्लेपित किया है, जो इतिहास की प्रक्रिया में लगातार अपनी मुद्राएँ वदलती रही है, हालांकि जिसका मूलभूत चेहरा एक ही रहा है, उसे हमारे भापाई अवगुण्ठनों, दार्शनिक जटिलताओं, कलात्मक अमूर्त्तताओं और शिल्पी अनैसर्गिकताओं के प्रवेश ने अस्पष्ट और धुंधला भी किया है। समूचे रचनाकर्म जो केवल नैसर्गिक मानव-क्रिया-कलापों से ही नहीं वल्कि अनैसर्गिक मानव-क्रिया-कलापों के जरिये भी उपजाये गये हैं, वर्ग-संघर्ष की वुनियादों को एक धुंधलका सौंपते रहे हैं—हालांकि यह भी सच है कि दार्शनिक

सत्ता-नरित्रों ने इस धुंधलके की चादर को सांस्कृतिक क्रांतियों के माध्यम से जगह-जगह छेदने की कोशिश की है और राजनैतिक परिधियों को साहित्य, कला एवं संगीत तक विस्तृत करते हुए नैसर्गिक रचना-कर्म तथा अनैसर्गिक रचना-कर्म पर अपने विचार प्रकट किये हैं। अनेक मार्क्सवादी चिन्तकों ने, जो एक-दूसरे से अनेक स्तरों पर मतभेद भी रखते हैं, कुल मिलाकर कलाओं का एक ठोस मार्क्सवादी सौन्दर्य-शास्त्र निर्मित करने में सहयोग दिया है। प्लेखानोव, एडोर्नो, वाल्टर बेन्जामिन, लुकाच, क्रिस्टोफर कॉडवेल, अर्नेस्ट फिशर, ट्रॉट्स्की, ग्राम्शी, हर्बर्ट मार्क्यूजे, रोजर गार्दी, रेमण्ड विलियम्ज, लूसियन गोल्डमान, आदि नामों के साथ जुड़ी हुई वैचारिक विविधता का एक ही मूलभूत चिन्तन-पद्धति और अनुशासन के अन्तर्गत एक विराट् सौन्दर्य-शास्त्र के निर्माण की संभावना को आन्तरिक संकल्प के रूप में उभारना शायद इसलिए भी सम्भव हो सका है कि मार्क्सवादी चिन्तन-पद्धति में विचार और कर्म के सम्बन्ध पर बहुत विस्तार से बहस हुई है, हो रही है और हो सकती है। मार्क्सवादी सन्दर्भों में विचार-शास्त्र के अभाव में कर्म के अंधे होने की बात भी शायद इसीलिए रेखांकित की जाती है और कर्म के अभाव में विचार-शास्त्र के बंजर होने को भी इसीलिए जोर देकर स्पष्ट किया जाता रहा है। मात्र इतने से ही स्पष्ट है कि मार्क्सवाद कर्म और विचार के अन्योन्याश्रय में विकसित हुआ है।

मार्क्सवाद, जो रचना अथवा कर्म—यदि रचना को कर्म की अन्तिम परिणति मान लिया जाये, तो—को हमेशा उसके परिणामों की मुद्रा में तौलता-पहचानता है। इस दृष्टि से मानव-समष्टि के लिये यह अधिक उपादेय, व्यावहारिक और ग्राह्य है। दरअसल पृष्ठभूमि में एक विज्ञान-सम्मत संगति भी निहित है। समूचा ज्ञान सत्य की खोज के हेतु है, सत्य की खोज उसका ध्येय है। इसलिए सत्य को व्यवहार के माध्यम से खोजने की, उसे व्यवहार के माध्यम से पकाने की, उसकी शिनाख्त करने की और अन्ततः उसे और आगे विकसित करने की बात भी इस सन्दर्भ में की जाती है। माओ-त्से-तुंग ने अपने एक लेख 'ऑन प्रेक्टिस' में इस विषय पर विस्तार से विचार किया है। उनके लिये यह प्रक्रिया कुछ इस प्रकार थी—व्यवहार—ज्ञान—फिर व्यवहार—और फिर ज्ञान …। इस प्रक्रिया का एक अन्तहीन चक्र है। उसमें अन्तर्निहित दूसरे अन्तहीन चक्र हैं और हरेक चक्र के साथ व्यवहार और ज्ञान सीढ़ी-दर-सीढ़ी प्रगति करता है। मार्क्सवादी सन्दर्भ में कुछ भी 'जानना' और 'करना' उनके लिये इस चक्र से बाहर नहीं है।

अब चूंकि मार्क्सवादी विचारक इतिहास के प्रति विशेष तौर पर जागरूक होता है, इसलिए उसे हरेक विचार को कर्म से जोड़ना और उसके प्रभावों की सम्भावनाओं का अधिकांश पूर्व-कल्पनाओं सहित जीना होता है। उसे समय या काल-खण्ड की ऐतिहासिक आवश्यकताओं को इतिहास की प्रक्रिया में समझते-पहचानते हुए आगे बढ़ना होता है। वह सामाजिक-ऐतिहासिक कार्य-कारणों की निरन्तर खोज की परिधि से बाहर नहीं आ सकता, इसलिए उसकी दृष्टि में हरेक 'रचना-कर्म' अपने मूलभूत 'विचार' सहित जब अन्तिम तौर पर सामने आता है तो वह प्रायः स्वयमेव स्पष्ट कर देता है कि वह अमुक न होकर अमुक क्यों और कैसे है और अमुक क्यों और कैसे नहीं है। रचना या विस्तार, जो

रचना में निहित होते हैं, रचना या विचार के बाहर स्थित और गतिशील समाज से मेल क्यों और कैसे नहीं खाते और मेल खाते हैं तो क्यों और कैसे ? यही नहीं, रचना में निहित समष्टि और रचना के बाहर सामाजिक की समष्टि के बीच अन्तर्बाह्य साम्य के बावजूद रचना-कर्म में जो अतिरिक्त चेतना उजागर होती दिखाई पड़ती है, जो पूरे बाह्य वातावरण पर टिप्पणी ही नहीं करती बल्कि अपेक्षित चोट भी मारती है, उसमें केवल परिमार्जन का संकल्प ही उपलब्ध नहीं होता बल्कि इस विशेष प्रकार के यथार्थ में परिवर्तन का ठोस कार्यक्रम, कारण-कार्य-न्याय के संकेत एवं दिशा भी उपलब्ध होते हैं तो रचना या कर्म अथवा रचना एवं विचार के स्वातंत्र्य का सवाल अपना महत्व रेखांकित करता हुआ सामने आ जाता है केवल सवाल ही सामने नहीं आता बल्कि सवाल के साथ जुड़े हुए सैद्धान्तिक-व्यावहारिक और वैयक्तिक एवं मानवी-संवेदन के संकट भी अपनी-अपनी मुद्राओं में खड़े हो जाते है। इस सवाल और इससे जुड़े हुए विभिन्न प्रकार के संकटों का प्रवेश आम तौर पर दो ही रास्तों से होता है। एक मूलभूत विचारधारा की अन्तश्चेतना से उपजे हुए मूल्य अथवा दैनिक सामान्य जीवन में पकाये-पचाये संवेदन-तत्वों के माध्यम से तथा दूसरे, पार्टी द्वारा लागू किये गये सिद्धान्तों के माध्यम से। दोनों में दो प्रकार की अतियों की सम्भावनाएँ बनी रहती हैं और दोनों ही दो विभिन्न प्रकार की चेतना भी निर्मित करते हैं। एक में विघटन और विकार आ जाने से पूरा साहित्य, पूरी कलाएँ अपना सामाजिक अर्थ, मूल्य और विधान खो देती है तो दूसरा कला, संगीत और साहित्य की नींवों पर व्यवस्थागत जकड़न बनकर खड़ा हो जाता है। यही कारण है कि रचना या कर्म अथवा विचार और चिन्तन के स्वातंत्र्य के सवाल को मार्क्सवाद के सन्दर्भ में आज तक प्रायः प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण को बढ़ावा देने के अर्थों में ही समझा और विश्लेषित किया गया है। इसका आत्यन्तिक विकास तो यहाँ तक खिंच गया है कि इस दृष्टिकोण के तहत खुद मार्क्सवादी भी एक-दूसरे के लिए प्रतिक्रियावादी और विघटित होते जा रहे हैं। यह एक ऐसी दुर्घटना है जो निश्चय ही मार्क्सवादी चिन्तन-पद्धति के विकास-मार्ग में प्रश्न चिन्ह की तरह खड़ी है। इस प्रश्न चिन्ह की शिनाख्त अगर ऐतिहासिक सूझ-बूझ के साथ अपेक्षित समय में नहीं की गई तो पूरी चिन्तनधारा में गत्यावरोध के संकट पैदा होने की पूरी सम्भावनाएँ हो सकती हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि लेखन के सन्दर्भ में रचना और विचार-स्वातंत्र्य का सवाल आधुनिक विचारधाराओं के अजीबोगरीब घालमेल के साथ अक्सर छद्म अस्तित्ववादी भंगिमाओं के साथ उपस्थित हुआ है जो मार्क्सवाद का विरोध करती हैं। इस समय सही अस्तित्ववादी दर्शन और छद्म अस्तित्ववादी दर्शन में फर्क करना उतना ही सार्थक हो सकता है जितना छद्म प्रगतिशील लेखन और सही मार्क्सवादी लेखन में। मार्क्सवादी विचारकों को मार्क्सवाद के परिप्रेक्ष्य में रचना और विचार-स्वातंत्र्य के सवाल पर शिनाख्त और विश्लेषण की निगाह डालते हुए हमेशा उस गाली-गलौज से बचना चाहिए जो वे प्रतिक्रियावादिता के मुलम्मे से किसी भी संवेदनशील बुद्धिजीवी को सुसज्जित करते हुए देने लगते हैं मार्क्सवाद का यह गरजरूरी सख्त रवैया बुद्धिजीवियों के बीच एक शीत-युद्ध का कारण बनता जा रहा है जिसका फायदा छद्म बुद्धिजीवी उठा रहे हैं और सही मानों में सोच-विचार की खुराक पर जीने वाले मनुष्यों का एक बहुत बड़ा वर्ग

मार्क्सवाद के इन रवैये की वजह से ही विघटित हो होकर स्वतंत्र किस्म की द्वीप रचनाओं में मग्न होता जा रहा है। मार्क्सवादी सोच को परिपक्वता देने के लिए कुछ चिन्तकों ने सम्भवतः इसीलिए बुर्जुआ संस्कृति में भी प्रगतिशील परम्पराओं की सम्भावनाओं को नकारा नहीं है। उन्होंने लेनिन और गॉर्की के उन कथनों की परीक्षा भी की है जिनमें क्रमशः यह बताया गया है कि बुर्जुआ लोकतान्त्रिक क्रान्ति और समाजवादी क्रान्ति के बीच कोई चीनी दीवार नहीं है, अथवा यह कि मार्क्सवादियों द्वारा संस्कृति के इतिहास की रचना जब भी की जायगी तो इस सम्भावना के लिये जगह बनी रहेगी कि संस्कृति की रचना में बुर्जुआजी द्वारा अदा की गई भूमिका का मूल्यांकन भी सही ढंग से हो—खासकर साहित्य और दूसरी कलाओं के सन्दर्भ में। इसका मूल कारण यह है कि कला या साहित्य को मूल्य प्रदान करने वाला तत्व उसमें निहित सत्य का प्रतिपादन करने वाला संवाद या चेतन विचारधारा उतनी नहीं होती जितना जीवन की वह ठोस और प्रगल्भ अभिव्यक्ति होती है जो उसे उसकी सम्पूर्ण जटिलताओं में प्रस्तुत करती है।

इसमें क्या सन्देह है कि एक अकेले व्यक्ति के रूप में भी हमारा जीवन मुख्य सामाजिक धारा से राजनैतिक रूप में कभी अछूता नहीं रहता, रह ही नहीं सकता। इसलिए मुख्य सामाजिक धारा का राजनैतिक प्रभाव अकेली इकाई पर भी पड़ता है और अकेली इकाई की अन्यमनस्कता या अलगाव या विरक्ति या विघटन हर प्रकार से मुख्य सामाजिक धारा की गति में अवरोध बनने की सम्भावना हमेशा बनाये रखती है अतः ऐतिहासिक और सांस्कृतिक स्तर पर समाज और व्यक्ति किसी-न-किसी व्यवस्था के समर्थन या विरोध में रहते ही हैं। इससे बड़ा सच और क्या होगा कि कोई भी संस्कृति तटस्थ संस्कृति होती ही नहीं है और मात्र इस सच के नंगे हो जाने से हरेक व्यक्ति की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक भूमिका अपने आप अनावृत हो जाती है। सम्भवतः यहीं से मार्क्सवाद के सन्दर्भ में प्रतिबद्ध विचारधारा का सवाल और अधिक महत्वपूर्ण होकर सामने आने लगता है जो स्वतः मार्क्सवाद के परिप्रेक्ष्य में रचना और विचार-स्वातंत्र्य के सवाल की सीमाएँ भी निर्धारित कर देता है।

अगर ऐंगेल्स द्वारा दी गई स्वतंत्रता की परिभाषा को मान्य समझ लिया जाय तो इन सीमाओं के निर्धारण को एक विस्तार उपलब्ध हो जाता है। अगर स्वतन्त्रता को उसके अनुसार आवश्यकता की खोज करने वाली अन्तर्दृष्टि का नाम मान लिया जाय तो साहित्य, कलाएँ और दूसरे सौन्दर्य-सृष्टि के विचार-कर्मों को एक खुला आकाश उपलब्ध हो जाता है। समस्या केवल यह रह जाती है कि इस आवश्यकता को इतिहास और मनुष्य के सन्दर्भों और परिप्रेक्ष्यों से बिलग न होने दिया जाए। लेकिन स्वयं मार्क्सवादी भी स्वतन्त्रता को इस सन्दर्भ में देखने से प्रायः इन्कार कर जाते हैं। साधारण लोग तो खैर इसकी समझ ही नहीं रखते। किसी भी चीज से मुक्ति, जैसा चाहें वैसा करने की इच्छा ही उनके लिए 'अन्तर्दृष्टि' (?) का काम करने लगती है। शोषण की दैत्याकृति, स्वभाव या प्रकृति से उनका कोई खास परिचय नहीं होता। होता भी है तो अपने से बाहर की मोटी ताकतों के सन्दर्भ में ही। उस शोषण का उन्हें एहसास तक नहीं होता जिसकी प्रक्रिया वे खुद अपने से अपने-आप तक, अपने और दूसरों तक नीयत या बिना किसी नीयत के साथ करते रहते हैं। साहित्य और दूसरी कलाओं को, रचना और विचार को इस हद तक जाकर अर्थात् मनुष्य की इति-

ह्रास के साथ साझेदारी में नीयतों, बदनीयतों, संकल्पों और आभासों, आकांक्षाओं स्वप्नों, यथार्थों और फंतासियों तक जाकर इसकी परीक्षा करनी जरूरी है क्योंकि ये मानवी जटिलताएँ ही आदमी को 'आदमी' बनाये हुए हैं, 'दृष्टिकोण' या 'विचार' नहीं।

मार्क्सवाद, जो सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों स्तरों पर एक औसत श्रमिक और एक औसत व्यवसायी की मानसिकता से जूझता है, उन्हें जिस रूप में वे हैं, उस रूप में उनके वैसा होने के लिए जो भौतिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक कारण हैं जो कुल मिलाकर होते हर प्रकार से राजनीतिक ही हैं, उन्हें कुरेदता है। उन तमाम धारणाओं को झकझोरता है जो दो विशेष प्रकार की मानसिकताओं की उपज होती हैं। उन मानसिकताओं के पीछे काम करने वाली छद्म चेतना, अंधविश्वास और काली शक्तियों का खुलासा मार्क्सवाद हमेशा तैयार रखता है ताकि संस्कृति की पक्षधरता लगातार स्पष्ट होती रहे। यह एक जहीन काम है जिसकी पहल मार्क्सवाद ने की है अतः उसे दृष्टिकोण और विचार, कर्म और रचना के स्तर पर मानवी आवश्यकताओं को इतिहास के विस्तृत सन्दर्भों से जोड़कर उनकी खोज करने के लिए एक ऐसी अन्तर्दृष्टि विकसित करनी होगी जो मार्क्सवादी सोच और समझ को और अधिक सौन्दर्य प्रदान कर सके। यह इसलिए और भी जरूरी है कि आज का मनुष्य जिस आधुनिक संस्कृति के तनाव झेल रहा है उसकी बनावट मशीन और प्रविधि के भारी सहयोग से तैयार हुई है। यह संस्कृति ही खुद-ब-खुद कुछ इस ढंग से पनपी-पनपायी गई है कि इसमें बुर्जुआ मनोवृत्ति के प्रति ललक को अवकाश मिल जाता है। मार्क्सवाद के लिए इन सब की तहें खोलते हुए उन जड़ों पर चोट करना लाजमी है जो मनुष्य को दोष-रचनाओं के संकल्पों की ओर ले जा रही है या उस प्रलोभन को बढ़ावा दे रही है जो रचना और विचार को खामखयाली और मानसिक ऐय्याशी में बदल देता है।

साहित्य, चित्रकला, मूर्तिकला, संगीत, रंगमंच, रेडियो, फिल्म-टेलिविज़न, खेल-कूद, रेलवे, हवाई-समुद्री मार्ग, स्काई-स्क्रैपर्ज, प्लेनेटेरियम्स, एटॉमिक पावर स्टेशन, पूजाघर, गिरजे, गुरद्वारे, मस्जिदें, सेक्रेटेरियट, इमारतें, कृत्रिम झीलें, चिड़ियाघर, अजायबघर, पुस्तकालय, आरामगाहें, पुष्पोद्यान, राजमार्ग और न जाने क्या-क्या—इन सभी का निर्माण मनुष्य की मनोवृत्ति, आकांक्षा, स्वप्न और संकल्प को मद्दे-नज़र रखते हुए आन्तरिक तथा बाह्य प्रकृति के बीच इनकी तार्किक संगति और अर्थवत्ता-अर्थहीनता देखते-समझते हुए किया जाता है। कुल मिलाकर ये सारा कुछ एक विराट राजनीति का हिस्सा होता है जो और आगे कई प्रकार की राजतीनियों को विकसित-विघटित करता चलता है। आधुनिक विचारधाराओं ने मार्क्सवादी चिन्तन की आधारभूत भूमिकाओं की समझ के साथ जब-जब इन कार्यवाहक संस्थाओं, सांस्कृतिक केन्द्रों, परिवहन और संचार माध्यमों की ओर रुख किया है, आधुनिक मनुष्य को संकटयुक्त, त्रस्त और उदासीन पाया है। इसका मूल कारण यह है कि पूंजीवादी शक्तियाँ जो अन्ततः साम्राज्यवादी शक्तियों से प्रभावित और उनकी हिमायती होती हैं और जिनका चेहरा फ़ासिस्ट चेहरे के करीब रहता है, औसत जन-मानस पर व्यावसायिक कलाओं के जरिये एक अंधेरा फेंकने, तानने और उसे विस्तृत करते जाने में काफी हद तक सफल रहती हैं। इनकी सफलता की वजह से साहित्य और दूसरी कलाएँ

भी एक भयानक दुर्घटना का शिकार हो जाती हैं। विचारों के छद्म और रचना की व्यावसायिक मुद्राओं ने कम-से-कम हमारे यहाँ जिस तरह नियति, मोहभंग, संत्रास, अलगाव तथा अजनबीयत के मुहावरों को घटिया और कुंठित कर दिया है, वह निश्चय ही सभ्य मानव-समष्टि के लिए अपमानजनक है। रचना और विचार के स्वातन्त्र्य के नाम पर हमारे यहाँ और बाहर भी जिन्दगी को जिस कदर अर्थहीन और विसंगत बताया गया है, मनुष्य और मनुष्य के बीच जिस किस्म की सम्प्रेषण की समस्या खड़ी की गई है उसे जटिल ही नहीं बल्कि असंभव साबित करने की कोशिश की गई है, यथार्थ को वस्तुनिष्ठ न रखकर निरा विषयी बनाया गया है, साधारण को मूर्ख, अपढ़, जाहिल और बदतमीज बताया गया है, किसी भी किस्म के वस्तु सत्य के अस्तित्व से जिस बेशर्मी के साथ सरासर इन्कार किया गया है, उसे देखते हुए हैरत होने लगती है। इन शक्तियों के समर्थक चिन्तक केवल यहीं नहीं रुके हैं। 'मोहभंग' और 'अंधेरे' का इस कदर भयानक संसार खड़ा करने के बाद ये लोग आत्महत्या को रेखांकित करना भी नहीं भूले। येसेनिन और मायकोवस्की, सिल्विया प्लॉथ और वर्जीनिया वूल्फ, यूकियो मिशिमा और अकूतागावा रयूनोसके की आत्म-हत्याओं को मनुष्य के विपक्ष में इस्तेमाल करते हुए इन्होंने इस धारणा को बलवान बनाने में अपने सारे पेचोखम इस्तेमाल किये कि व्यवस्था कोई भी हो, मनुष्य की 'मुक्ति' कभी नहीं हो सकती और 'मुक्ति' इन्हें कभी 'बीटनिक पीढ़ी', कभी 'हंग्री जेनरेशन,' कभी 'एंग्री यंगमैन' और कभी 'हिप्पी कल्ट' के साथ साक्षात्कार करने के लिए विवश करती रही। ये हरेक संस्कृति के समानान्तर एक प्रति-संस्कृति खड़ी करने के पक्षधर बने रहे और 'क्रान्तिकारी संस्कृतियां' (!) इनके पक्ष में आधारभूत क्रान्ति के अभाव में भी आ-आकर नतमस्तक होती रहीं। कला की यह अवस्था साहित्य की यह कद्र अर्थहीन और बेमतलब है। ऐसी कलाएँ जो विनाश की मनोवृत्ति को आधारभूत मनोवृत्ति स्वीकार करके मनुष्य को विश्लेषित करती हैं, मनुष्य के विरुद्ध एक संगठित षड्यन्त्र हैं। ये सिर्फ संरचना में संघर्षरत जीवन्त मूल्यों पर कुठाराघात ही नहीं करतीं बल्कि हरेक व्यवस्था के प्रति नकार की शर्मनाक मुद्रा अख्तियार करते हुए बड़े पैमाने पर छद्म कलाओं के जन्म और विकास की महामारी फैलाती हैं। ऐसे विकार भरे माहौल में लगातार कलात्मक अनुशासन को दृष्टि बनाये रखना, समाजवादी मूल्यों की सुरक्षा कर पाना, आत्मिक-सामाजिक-आलोचना का ठोस कार्यक्रम तैयार करना किसी भी कलाकार, बुद्धिजीवी या दार्शनिक के लिए उसकी अपनी विचार और कर्म-दृष्टि की सार्थकता निश्चित करने के लिए जरूरी है लेकिन इसके साथ ही साथ यह बिल्कुल भी जरूरी नहीं है कि साहित्य और कलाएँ रचना और विचार का जो माहौल खड़ा करें, वे पूरी तरह पार्टी के दिशा-निर्देशों, अनुशासन और नियन्त्रण में ही तैयार हों क्योंकि राजनेता और संवेदना की आधारभूत भूमिका में उपजने वाला रचनाकार, दोनों की भूमिकाएँ अलग-अलग हैं। उनका वैचारिक अन्त एक हो सकता है लेकिन उनके माध्यम उस अन्त तक पहुँचने के लिए अलग-अलग हैं। राजनेता का कर्म कला की समीक्षा नहीं हो सकता, इसलिए जब वह कला को एक तयशुदा सांस्कृतिक संसार की उपज बनाना चाहता है तो कलाकार के लिए कई तरह के दबाव पैदा होने स्वाभाविक हैं। ग्राम्शी ने इस संकट का एहसास बहुत पहले करवा दिया था और कहा था कि अगर एक सांस्कृ-

तिक संसार जिसके लिए हम संघर्ष कर रहे हैं, वह जिन्दा है और ऐसी सच्चाई है जो तेजी से हमारी अपेक्षाओं, आवश्यकताओं और जरूरियात का हिस्सा बन रही है तो उसके लिए अभिव्यक्ति खुद-ब-खुद निर्बन्ध हो जायगी। उसे अपने लिए कलाकार खुद-ब-खुद मिल जायेंगे। और अगर बावजूद राजनैतिक दबावों के उसे कलाकार अथवा साहित्यकार उपलब्ध नहीं होते तो इसका अर्थ यही है कि हम एक काल्पनिक और छद्म राजनीतिक एवं सांस्कृतिक संसार के साथ खरीद-फ़रोख्त में मशगूल हैं, एक निहायत ठस्स दिमागी कर्म में लगे हैं जो केवल कागज़ काले करने के अलावा दूसरी कोई संज्ञा नहीं पा सकता।



हिन्दी का मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन

—डा० रामकृपाल पाण्डेय

हम सभी जानते हैं कि मार्क्स और एंगेल्स ने सौन्दर्यशास्त्र पर किसी ग्रन्थ की रचना नहीं की है और न तो उनके योग्यतम शिष्य लेनिन ने ही किसी ऐसे ग्रन्थ की रचना की है। अतः यह कहना निराधार न होगा कि मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन ने प्रत्यक्षतः किसी सौन्दर्यशास्त्र की रचना नहीं की है। लेकिन इस आधार पर यह समझना कि उनके पास कोई अपनी मौलिक सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि नहीं थी, बिल्कुल गलत होगा। इसके विपरीत यह समझना कि उनके पास अपने विश्व दृष्टिकोण के अनुरूप एक सुव्यवस्थित सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि थी, बिल्कुल सही होगा।

सौन्दर्यदृष्टि तो सभी में होती है, लेकिन उस दृष्टि के पीछे सौन्दर्यशास्त्र भी हो, यह जरूरी नहीं है। आमतौर पर लोगों के पास सौन्दर्यदृष्टि तो होती है, पर सौन्दर्यशास्त्र नहीं होता। ऐसे लोगों की सौन्दर्यदृष्टि को हम सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि नहीं कह सकते। ऊपर हमने मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन की सौन्दर्यदृष्टि को सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि कहा है। इसका आशय यही है कि उनकी सौन्दर्यदृष्टि के पीछे एक सुव्यवस्थित सौन्दर्यशास्त्र छिपा हुआ है जिसका दार्शनिक आधार है—'द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद'। इसी छिपे हुए सौन्दर्यशास्त्र को खोज निकालने, व्यवस्थित करने और युगानुरूप विकसित करने के प्रयास विश्व के तमाम मार्क्सवादी कला एवं साहित्य चिन्तक निरन्तर करते चले आ रहे हैं।

मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन की विपुल रचनाओं में जीवन और कला के सम्बन्धों तथा अनेक साहित्यिक कृतियों एवं साहित्यकारों पर विशेष रूप से प्रकाश डालने वाली सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी प्रचुर सामग्री मौजूद है, जिसे संकलित और सुव्यवस्थित करके प्रसारित करने का सफल प्रयास विभिन्न देशों के, विशेषकर रूस के, मार्क्सवादी विचारकों ने किया है। आज विश्व का मार्क्सवादी सौन्दर्य-

शास्त्र कृतियों और विचारकों की दृष्टि से पर्याप्त सम्पन्न है। हिन्दी के मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन पर विचार करते समय हमें यह मानकर आगे बढ़ना होगा कि हम मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र की विषयवस्तु और मुख्य स्थापनाओं से सुपरिचित हैं।

हिन्दी में मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन की शुरूआत चौथे दशक के उत्तरार्द्ध में हुई। तब तक हिन्दी का आधुनिक रचनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य भारतेन्दु से प्रारम्भ होकर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी से होता हुआ आचार्य शुक्ल तक पहुँच चुका था। इन युगनिर्माता महापुरुषों ने अपने मौलिक, सशक्त और महत्वपूर्ण यथार्थवादी चिन्तन के बल पर हिन्दी-साहित्य चिन्तन को अब तक उस स्तर तक अवश्य पहुँचा दिया था जिसके बिना हिन्दी साहित्य-चिन्तन के क्षेत्र में मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के शिशु-पादप की जड़ नहीं जम सकती थी।

दार्शनिक दृष्टिकोण से आचार्य शुक्ल सुसंगत भौतिकवादी नहीं कहे जा सकते और प्रत्यक्षतः मार्क्सवाद से प्रभावित भी नहीं लगते; लेकिन उनकी साहित्यिक चिन्तन-पद्धति निस्सन्देह भौतिकवादी और द्वन्द्वात्मक है। वस्तुतः वे यथार्थवादी-वस्तुवादी विचारक हैं। मौलिक चिन्तक की जितनी गहन क्षमता आचार्य शुक्ल में थी उतनी अन्य किसी आलोचक विचारक में न थी। यही कारण है कि उनकी समूची सौन्दर्यदृष्टि मार्क्सवादी सौन्दर्यदृष्टि के इतने अधिक नजदीक है जितनी कि उनके समकालीन किसी अन्य साहित्यालोचक की नहीं; यहाँ तक कि उनके परवर्ती आलोचक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और पं० नन्ददुलारे वाजपेयी की सौन्दर्य दृष्टियां भी नहीं। यही नहीं, अनेक मार्क्सवादी आलोचकों की तुलना में भी उनकी सौन्दर्यदृष्टि मार्क्सवाद के कहीं अधिक नजदीक है। यह अद्भुत है, पर पूरी तरह सही है। डॉ० रामविलास शर्मा का यह कथन सौ फीसदी सच है कि—"जो लोग वैज्ञानिक भौतिकवाद के नाम पर त्रिकाल-सत्य सौन्दर्य, और सदाबहार प्रगतिशीलता की बातें करते हैं, उनसे शुक्ल जी के विचार कहीं ज्यादा वैज्ञानिक हैं।" (लोकजीवन और साहित्य पृ० ८-९)

निबन्ध की सीमा की मजबूरी के कारण आचार्य शुक्ल की सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताओं का उल्लेख करना यहाँ सम्भव नहीं है (और हम सभी करीब-करीब उनसे परिचित भी हैं) यहाँ सिर्फ इतना ही कहना आवश्यक है कि आचार्य शुक्ल ने हिन्दी साहित्य-चिन्तन को इतना उर्वर और समुन्नत बना दिया था कि मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र की स्थापनाएँ हमें परायी और अजीब नहीं लगतीं, वरन् ऐसा लगता है कि मानो मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र आचार्य शुक्ल के हिन्दी सौन्दर्यशास्त्र का ही सहज विकसित उन्नत और परिष्कृत रूप है। अब हम सीधे हिन्दी के मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र की चर्चा करेंगे।

सन् १९१७ ई० में रूस में समाजवादी क्रांति हुई। उसका प्रभाव समूचे विश्व में पड़ना शुरू हुआ। उसके प्रभाव से भारत में एक नई चेतना की लहर उठी और स्वाधीनता संग्राम प्रखर हो उठा। सन् १९२५ ई० में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई। मजदूरों और किसानों का संगठन शुरू हुआ। मार्क्सवादी विचारधारा राजनीति के अलावा अन्य क्षेत्रों में भी अंकुरित और विकसित होने लगी। सन् १९३६ ई० में १४ फरवरी को प्रगतिशील लेखकों ने 'प्रगतिशील लेखक संघ' स्थापित करने का निश्चय किया और उसी वर्ष ९-१०

अप्रैल को महान क्रांतिकारी लेखक प्रेमचन्द की अध्यक्षता में उसकी स्थापना हो गई। अपने अध्यक्षीय भाषण में प्रेमचन्द ने रीतिकालीन साहित्य, दरबारी साहित्यिक अभिरुचि और सौन्दर्यबोध तथा सामन्ती परम्परा पर कठोर प्रहार किया और जनता के साहित्य के पक्ष में अपनी जबर्दस्त आवाज बुलन्द की। अतः प्रेमचन्द से हिन्दी में मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन का अध्ययन प्रारम्भ करना चाहिए।

लेकिन तमाम लोग प्रेमचन्द को गांधीवादी मानते हैं। इस देश की चलन को देखते हुए वे बेचारे कोई बहुत बड़ी मूर्खता नहीं करते हैं। जहाँ तमाम लोग पत्थर को भगवान मानते हों और इन्सान को पत्थर, वहाँ प्रेमचन्द को गांधीवादी मानना कोई खास बात नहीं है। सवाल यह है कि स्वयं प्रेमचन्द अपने को क्या मानते हैं? सन् १९३६ ई० के प्रेमचन्द को छोड़ दीजिये और पहले सन् १९१९ ई० के प्रेमचन्द को देखिए, जब इस देश में कम्युनिस्ट और सोशलिस्ट पार्टियों का जन्म भी न हुआ था। फरवरी १९१९ ई० के 'जमाना' में उन्होंने लिखा था, "आने वाला जमाना अब किसानों और मजदूरों का है। दुनिया की रफ्तार इसका साफ सबूत दे रही है।" आप कह सकते हैं कि किसानों और मजदूरों की बात तो गांधी ने भी की है, तो इन्कलाब की बात देखिये। इसी लेख में उन्होंने रूसी इन्कलाब की भी चर्चा की थी। "इन्कलाब के पहले कौन जानता था कि रूस की पीड़ित जनता में भी इतनी ताकत छिपी हुई है?" इतने पर भी विश्वास न हो तो इसी समय लिखी गई उनकी एक चिट्ठी का यह वाक्य ध्यान से पढ़ लीजिए—"मैं अब करीब-करीब बोलशेविस्ट उसूलों का कायल हो गया हूँ।" (चिट्ठी-पत्री खण्ड १, पृ० ९३) ये सन् १९१९ ई० की बातें हैं। सन् १९३६ के प्रेमचन्द को जानना चाहते हैं तो मृत्यु-शय्या पर पड़े-पड़े उन्होंने अपनी जिन्दगी का जो आखिरी लेख लिखा था, उसे पढ़ लीजिए। शीर्षक है—'महाजनी सभ्यता'। साम्राज्यवादी प्रचारतन्त्र नवोदित रूसी समाजवादी सभ्यता पर मनगढ़न्त आरोपों की बौछार कर रहा था। इस लेख में उन्होंने उसी का पर्दाफाश करते हुए लिखा—"निःसन्देह इस नई सभ्यता ने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के पंजे, नाखून और दांत तोड़ दिये हैं। उसके राज्य में अब एक पूंजीपति लाखों मजदूरों का खून पीकर मोटा नहीं हो सकता। उसे अब यह आजादी नहीं है कि अपने नफे के लिए साधारण आवश्यकता की वस्तुओं के दाम चढ़ा सके, दूसरे अपने माल की खपत कराने के लिए युद्ध करा दे, गोला-बारूद और युद्ध सामग्री बनाकर दुर्बल राष्ट्रों का दमन कराए।"

इस कथन से असंदिग्ध रूप से प्रमाणित है कि सन् १९३६ ई० में अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक प्रेमचन्द बोलशेविक उसूलों के कायल थे। फिर भी कोई उन्हें गांधीवादी मानता है तो माने। मैं उन्हें भारत के मार्क्सवादियों की पहली पीढ़ी का प्रारम्भिक मार्क्सवादी मानकर (जिसमें असंगतियों एवं कमियों का होना लाजिमी है) यहाँ उनके सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन की चर्चा करूँगा।

कुछ लोग साहित्य का जीवन से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं मानते। प्रेमचन्द के जमाने में भी ऐसे लोग थे। स्वयं उन्हीं के शब्दों में,—"हमारे साहित्यकार कल्पना की सृष्टि खड़ी कर उसमें मन-माने तिलिस्म बांधा करते थे। कहीं फिसानये अजायब की दास्तान थी, कहीं बोस्ताने ख्याल की और कहीं चन्द्रकान्ता संतति की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्भुत

रस-प्रेम की तृप्ति। साहित्य का जीवन से कोई लगाव है, यह कल्पनातीत था। कहानी-कहानी है, जीवन-जीवन, दोनों परस्पर विरोधी वस्तुएँ समझी जाती थीं।" लेकिन प्रेमचन्द की नजर में साहित्य और जीवन परस्पर विरोधी और विच्छिन्न नहीं हैं। 'जीवन में साहित्य का स्थान' शीर्षक निवन्ध में उनके पहले दो वाक्य हैं—"साहित्य का आधार जीवन है। इसी नींव पर साहित्य की दीवार खड़ी होती है।" आधार और इमारत का वह रूपक उनका अपना है और मार्क्स द्वारा प्रतिपादित 'आधार और ढांचा' (Basis and Super Structure) सिद्धांत की दिशा में उठाया गया एक महत्वपूर्ण कदम है।

प्रेमचन्द के मतानुसार साहित्य "जीवन की आलोचना है, चाहे वह निबन्ध के रूप में हो चाहे कहानियों के, या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।" सभी जानते हैं कि साहित्य को जीवन की आलोचना और व्याख्या वताने वाला यह सूत्र प्रसिद्ध यथार्थवादी कवि आलोचक मैथ्यू आर्नल्ड (Mathew Arnold) का है। डॉ० रामविलास शर्मा के कथनानुसार आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी अपने एक लेख में साहित्य को जीवन की आलोचना कहा है। पतन और पराधीनता की जकड़ से छूटने तथा उन्नति और स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए संघर्षशील भारतीय जनता की मूलभूत आवश्यकता के अनुरूप आचार्य द्विवेदी और प्रेमचन्द सजगतापूर्वक साहित्यिक सिद्धान्तों का ग्रहण कर रहे थे, यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। आर्नल्ड अपने जमाने के एक प्रगतिशील यथार्थवादी साहित्य-चिन्तक थे। उन्होंने साहित्य को मनोरंजन का साधन न मानकर सामाजिक नैतिक सुधार एवं उत्थान के औजार के रूप में वदल दिया था। निस्सन्देह, आर्नल्ड का यह सिद्धान्त मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुकूल है।

प्रेमचन्द जीवन और साहित्य का सम्वन्ध इतना घनिष्ठ मानते हैं कि वे उस रचना को साहित्य मानने के लिये तैयार नहीं जिसमें जीवन की सचाई न हो। उनका स्पष्ट कथन है—"साहित्य उसी रचना को कहेंगे, जिसमें कोई सचाई प्रकट की गई हो और जिसमें दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो और साहित्य में यह गुण पूर्णरूप से उसी अवस्था में उत्पन्न होता है, जव उसमें जीवन की सचाईयाँ और अनुभूतियाँ व्यक्त की गई हैं।"

प्रतिविम्वन (Reflection) का सिद्धान्त मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र में यांत्रिक रूप में स्वीकार नहीं किया जाता है, किन्तु द्वन्द्वात्मक रूप में वह स्वीकृत होता है। साहित्य को जीवन से विच्छिन्न और अलौकिक मानने की तुलना में उसे समाज और जीवन का प्रतिविम्व मानना निश्चय ही अधिक सही और वैज्ञानिक है। प्रेमचन्द का सुस्पष्ट कथन है कि—"साहित्य अपने देश-काल का प्रतिविम्व होता है।" यही कारण है कि उनकी दृष्टि में—"साहित्य ही सच्चा इतिहास है, क्योंकि उसमें अपने देश और काल का जैसा चित्र होता है, वैसा कोरे इतिहास में नहीं हो सकता। घटनाओं की तालिका इतिहास नहीं है और न राजाओं की लड़ाइयाँ ही इतिहास है। इतिहास जीवन के विभिन्न अंगों की प्रगति का नाम है, और जीवन पर साहित्य से अधिक प्रकाश और कौन वस्तु डाल सकती है।"

कहना न होगा कि प्रेमचन्द प्रतिविम्व सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं और कमाल यह कि यांत्रिक रूप में नहीं। जो साहित्य को सच्चा इतिहास कहे,

घटनाओं की तालिका और राजाओं की लड़ाइयों को सच्चा इतिहास न माने, उसकी दृष्टि को यांत्रिक कहना मानवीय विवेक का परिचय देना न होगा, बल्कि अपने को ही विवेकशून्य यन्त्र सिद्ध करना होगा।

प्रेमचन्द सोद्देश्य साहित्य के पक्षधर थे। निम्नलिखित उद्धरणों पर ध्यान दीजिए :—

(१) "साहित्य का उद्देश्य हमारी अनुभूतियों की तीव्रता को बढ़ाना है।"
(कुछ विचार, पृ० ७)

(२) "नीतिशास्त्र और साहित्यशास्त्र का लक्ष्य एक ही है—केवल उपदेश की विधि में अन्तर है।"
(वही, पृ० ६)

(३) "अब तो हमें उस कला की आवश्यकता है, जिसमें कर्म का सन्देश हो।"
(वही, पृ० १४)

(४) "साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का जुटाना नहीं है, उसका दरजा इतना न गिराइए। वह देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सचाई भी नहीं बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सचाई है।"
(वही, पृ० ६)

(५) "साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है। यह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम है। साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊँचा है। वह हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्भावों का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है। कम से कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिए।"
(वही, पृ० ४७)

इन उद्धरणों से सुस्पष्ट है कि प्रेमचन्द निरुद्देश्य तथा सिर्फ मनोरंजन करने वाली रचना को साहित्य नहीं मानते, अपितु वे साहित्य के कन्धों पर गम्भीर मानववादी दायित्व सौंपते हैं। डॉ० रामविलास शर्मा ने ठीक लिखा है कि—"प्रेमचन्द सोद्देश्य साहित्य के हामी थे, लेकिन हर तरह के उद्देश्य के नहीं"। उन्होंने "अपने साहित्य का उद्देश्य घोषित किया था—स्वतन्त्रता प्राप्ति" (प्रेमचन्द और उनका युग, पृ० १२८) प्रमाण के लिये डॉ० शर्मा ने सन् १९३० में 'विशाल भारत' में प्रकाशित प्रेमचन्द का यह कथन उद्धृत किया है :—"मेरी अभिलाषाएँ बहुत सीमित हैं। इस समय सबसे बड़ी अभिलाषा यही है कि हम अपने स्वतन्त्रता संग्राम में सफल हों। मैं दौलत और शोहरत का इच्छुक नहीं हूँ। खाने को मिल जाता है। मोटर और बंगले की मुझे हविस नहीं है। हाँ, यह जरूर चाहता हूँ कि दो-चार उच्च कोटि की रचनाएँ छोड़ जाऊँ, लेकिन उनका उद्देश्य भी स्वतन्त्रता-प्राप्ति ही हो।"

साहित्य की सोद्देश्यता तो इस उद्धरण से स्पष्ट है ही, उसकी सामयिकता भी स्पष्ट है। इसी सामयिकता ने ही उनके साहित्य को स्थायित्व प्रदान किया है। यदि वे सामयिकता निरपेक्ष किसी शाश्वत उद्देश्य के चक्कर में पड़ होते तो उनके साहित्य में स्थायित्व की यह शक्ति न आयी होती जो स्वतन्त्रता-प्राप्ति को उद्देश्य बनाने से आयी है।

प्रेमचन्द ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कला की उपयोगिता का भी सवाल उठाया है। उन्होंने कहा है कि, "मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं चीजों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ। निस्सन्देह कला का उद्देश्य सौन्दर्यवृत्ति की पुष्टि करना है और वह हमारे आध्यात्मिक आनन्द की

कुन्जी है, पर ऐसा कोई रुचिगत मानसिक तथा आध्यात्मिक आनन्द नहीं है, जो अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो।" (कुछ विचार, पृ० १५)

जो व्यक्ति सन् १९३० ई० की भारतीय परिस्थितियों में अपने साहित्य का उद्देश्य स्वतंत्रता प्राप्ति घोषित करे और कर्म का संदेश देने वाली कला की जोरदार माँग करे, वह कला के बारे में उपयोगहीनता का दृष्टिकोण नहीं अपना सकता। लेकिन एक स्थल पर प्रेमचन्द ने लिखा है कि—"साहित्य का सबसे ऊँचा आदर्श यह है कि उसकी रचना केवल कला की पूर्ति के लिये की जाय। 'कला के लिये कला' इस सिद्धान्त पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती।...." (वही, पृ० ४७) इस वाक्य से यह भ्रम हो सकता है कि प्रेमचन्द 'कला-कला के लिये' सिद्धान्त के मानने वाले हैं जो कला का कोई अन्य उद्देश्य स्वीकार नहीं करता। सचाई यह है कि प्रेमचन्द ने यहाँ निरुद्देश्य कला की वकालत नहीं की है, यह बात सम्बन्धित स्थल को ध्यानपूर्वक पढ़ने से मालूम होती है। उसी निबन्ध में ऊपर उद्धत अंश के बाद प्रेमचन्द ने यह भी लिखा है कि, "कला के लिये कला" का समय वह होता है, जब देश सम्पन्न और सुखी हो। जब हम देखते हैं कि हम भाँति-भाँति के राजनीतिक और सामाजिक बन्धनों में जकड़े हुए हैं जिधर निगाह उठती हैं, दुःख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखाई देते हैं, विपत्ति का करुण क्रन्दन सुनाई देता है, तो कैसे संभव है कि किसी विचार-शील प्राणी का हृदय न दहल उठे ?" (वही, पृ० ४८)

क्या इस कथन से यह साफ ध्वनित नहीं हो रहा है कि कोई हृदयहीन मूर्ख ही ऐसी विपन्न स्थिति में 'कला के लिए कला' सिद्धान्त की उपासना करेगा। वास्तव में प्रेमचन्द ने इस स्थल पर अद्भुत वाद कौशल का परिचय दिया है। 'कला के लिए कला' सिद्धान्त को उन्होंने पहले थोड़ा सा स्वीकार करके उसके उपासकों को फुसलाया है और फिर परिस्थिति की विपन्नता का हृदयद्रावक हवाला देकर उन्हें भी अपने पक्ष में कर लेने की काबिले तारीफ कोशिश की है। वे 'कला के लिये कला' के उपासकों से मानों कह रहे हैं कि अरे भाई देश अगर सुखी और सम्पन्न होता तो तुम्हारी उपासना ठीक भी होती, लेकिन देश दुःखी, दरिद्र और पराधीन है अतः ऐसी दशा में तुम्हारी यह उपासना सर्वथा अनुचित, अमानवीय और मूर्खतापूर्ण है।

प्रसंग है कला और साहित्य द्वारा किसी 'वाद' के प्रचार के औचित्य का। पहले प्रेमचन्द यह स्वीकार कर लेते हैं कि "जब साहित्य की रचना किसी सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिए की जाती है, तो वह अपने ऊंचे पद से गिर जाता है—इसमें कोई सन्देह नहीं।" (वही, पृ० ४७) लेकिन फिर आधुनिक युग की विशिष्ट परिस्थितियों का उल्लेख करते हुए विचार या वाद-प्रचार की अनिवार्यता सिद्ध करते हुये कहते हैं, "आजकल भारतवर्ष के ही नहीं, यूरोप के बड़े-बड़े विद्वान भी रचना द्वारा किसी 'वाद' का प्रचार कर रहे हैं।" (वही पृ० ४७) इतना माहौल बना लेने के बाद तो वे पूछने लगते हैं कि, "यह क्यों कर मान लिया जाय कि जो उपन्यास किसी विचार के प्रचार के लिए लिखा जाता है, उसका महत्व क्षणिक होता है ? विक्टर ह्यूगो का 'ला मिजरेबुल' टॉलस्टॉय के अनेक ग्रन्थ डिकेन्स की कितनी रचनाएँ, विचार-प्रधान होते हुए भी उच्चकोटि की साहित्यक है और अब तक उनका आकर्षण कम नहीं हुआ। आज भी शा, वेल्स आदि बड़े-बड़े लेखकों के ग्रन्थ प्रचार ही के उद्देश्य से

लिखे जा रहे हैं।" (वही, पृ० ४८)

प्रेमचन्द की उक्त तर्कयोजना पर गौर करें तो उसमें विरुद्धों की एकता और संघर्ष की प्रतिच्छवि दिखाई देगी। उनका कहना कुछ इस प्रकार है—हाँ, हाँ यह ठीक है कि किसी वाद के प्रचार के लिए की गई रचना प्रायः ऊँचे पद से गिर जाती है, लेकिन तेजी के साथ बदलते हुए और नये-नये विचारों के द्वारा आन्दोलित हो रहे आज के समाज में विचारों और वादों से बचकर रहा भी तो नहीं जा सकता, और फिर यह कोई जरूरी नहीं है कि विचारों के प्रचार के उद्देश्य से लिखी गई रचना साहित्यिक दृष्टि से हीन स्तर की हो। अनेक पुराने और नये लेखक ऐसे हैं जिनकी अनेक रचनाओं में विचारों की प्रधानता है, लेकिन वे हीन कोटि की नहीं हैं।

निस्सन्देह प्रेमचन्द की तर्कयोजना में अद्भुत कलात्मकता और विरोधियों को भी (Convince) संतुष्ट करके देने की क्षमता विद्यमान है।

जनता और कम्यूनिस्ट पार्टी के साथ प्रतिबद्धता और पक्षधरता का सिद्धान्त मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र का सर्वोच्च शिखर है, जिसका प्रतिपादन महान क्रांतिकारी चिन्तक लेनिन ने सन् १९२५ ई० में किया था। प्रेमचन्द में इस सिद्धान्त का शिशु रूप मौजूद है, इसमें सन्देह नहीं। सुस्पष्ट शब्दों में उन्होंने लिखा है—"जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है—चाहे वह व्यक्ति हो या समूह—उसकी हिमायत और वकालत करना उसका (साहित्य का) फर्ज है।" (वही, पृ० १०) इस कथन से बिल्कुल साफ है कि प्रेमचन्द शोषित उत्पीड़ित जनता के तरफदार हैं और उनकी दृष्टि में ऐसी तरफदारी साहित्य और साहित्यकार का फर्ज है। कम्यूनिस्ट पार्टी की पक्षधरता की बात उन्होंने नहीं कही है। प्रेमचन्द के युग को ध्यान में रखने पर यह कमी कमी नहीं लगती, और फिर असली महत्व की चीज जनता ही है। कम्यूनिस्ट पार्टी भी जनता के लिये ही होती है। जनता की पक्षधरता अगर सही है तो वह कम्यूनिस्ट पार्टी के खिलाफ नहीं जाती, बशर्ते किसी देश की कम्यूनिस्ट पार्टी या पार्टियाँ गलत नेतृत्व आदि के कारण गलत नीतियाँ अपना कर कला और जनता के खिलाफ न हो जाएँ।

प्रेमचन्द अमीरों की श्रेणी में अपनी गिनती नहीं कराना चाहते। वे चाहते है कि कोई भी कलाकार धन-वैभव का भूखा न हो। उनका कहना है कि, "जिन्हें धन-वैभव प्यारा है, साहित्य-मन्दिर में उनके लिए स्थान नहीं है। यहाँ तो उन उपासकों की आवश्यकता है, जिन्होंने सेवा को ही अपने जीवन की सार्थकता मान लिया हो, जिनके दिल में दर्द की तड़प हो और मुहब्बत का जोश हो।" (वही, पृ० २१) इसीलिए वे अपने जैसों के बारे में कहते हैं—"हम तो समाज के झंडा लेकर चलने वाले सिपाही है और सादी जिन्दगी के साथ ऊँची निगाह हमारे जीवन का लक्ष्य है।" (पृ० २१) 'झंडा लेकर चलने वाले समाज के सिपाही' का जुमला उनकी जुझारु भावना की पताका फहरा रहा है, और सिपाही भी वे उस समाज के हैं जिससे अमीरों को बहिष्कृत कर दिया गया है। कहिए-प्रेमचन्द किधर हैं? अमीरों-उत्पीड़कों की ओर या उत्पीड़ित गरीब समाज की ओर? और यह पक्षधरता कैसी है, लेनिन द्वारा प्रतिपादित पक्षधरता से मिलती-जुलती या उसकी विरोधी? प्रेमचन्द की पक्षधरता निष्क्रिय नहीं, जुझारु पक्षधरता है। उनके जुझारूपन को लक्ष्य कर डॉ० रामविलास शर्मा ने अत्यन्त सार्थक टिप्पणी की है कि 'वह स्वाधीनता संग्राम के सैनिक-साहित्यकार थे।'

(प्रेमचन्द और उनका युग, पृ० १२८)

जिन्हें प्रेमचन्द की पक्षधरता पर अब भी सन्देह हो वे निम्नलिखित पैराग्राफ ध्यान से पढ़े और मनन करें :—

"हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी। हमारा कलाकार अमीरों का पल्ला पकड़े रहना चाहता था, उन्हीं की कद्रदानी पर उसका अस्तित्व अवलम्बित था और उन्हीं के सुख-दुःख, आशा-निराशा, प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विता की व्याख्या कला का उद्देश्य था। उसकी निगाह अंतःपुर और बंगलों की ओर उठती थी। झोपड़े और खंडहर उसके ध्यान के अधिकारी न थे। उन्हें वह मनुष्यता की परिधि के बाहर समझता था। कभी इनकी चर्चा भी करता था तो इनका मजाक उड़ाने के लिए ग्रामवासी की देहाती वेश-भूषा और तौर-तरीके पर हंसने के लिए, उसका शीन-क़ाफ़ दुरुस्त न होना या मुहावरों का गलत उपयोग उसके व्यंग्य-विद्रूप की स्थायी सामग्री थी। वह भी मनुष्य है, उसके भी हृदय है और उसमें भी आकांक्षाएँ हैं—यह कला की कल्पना के बाहर की बात थी।" (कुछ विचार, पृ० १६-१७)

अगले पैराग्राफ में प्रेमचन्द कहते हैं—"उसकी दृष्टि अभी इतनी व्यापक नहीं कि जीवन-संग्राम में सौन्दर्य का परमोत्कर्ष देखे। उपवास और नग्नता में भी सौन्दर्य का अस्तित्व संभव है, इसे कदाचित वह स्वीकार नहीं करता। उसके लिए सौन्दर्य सुन्दर स्त्री में है, उस बच्चों वाली गरीब रूप रहित स्त्री में नहीं, जो बच्चों को खेत की मेड़ पर सुलाए पसीना बहा रही है। उसने निश्चय कर लिया है कि रंगे होठों, कपोलों और भौंहों में निस्सन्देह सुन्दरता का वास है—उसके उलझे हुए बालों, पपड़ियाँ पड़े हुए होंठों और कुम्हलाए हुए गालों में सौन्दर्य का प्रवेश कहाँ ? (वही, पृष्ठ १७)

प्रेमचन्द का कहना है कि, "यह संकीर्ण दृष्टि का दोष है। अगर उसकी सौन्दर्य देखने वाली दृष्टि में विस्तृति आ जाय तो वह देखेगा कि रंगे होंठो और कपोलों की आड़ में अगर रूप-गर्व और निष्ठुरता छिपी है, तो इस मुरझाये हुए होठों और कुम्हलाए गालों के आँसुओं में त्याग, श्रद्धा और सहिष्णुता है।"
(वही, पृ० १७)

'सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी' का नारा (Slogan) विलासितामयी सामन्ती सौन्दर्य दृष्टि पर जीवन संग्राम में प्रतिक्षण जूझती हुई भारत की किसान जनता की ओर से प्रेमचन्द द्वारा वज्र प्रहार है। सौदर्न्यबोध के वर्गीय आधार की गहरी जानकारी अगर प्रेमचन्द को न होती तो यह नारा देने की क्षमता भी उनमें नहीं आ सकती थी। उनका समूचा साहित्य इस बात का अकाट्य प्रमाण है कि उनके सौन्दर्य-वोध का वर्ग-आधार प्रमुखतः सामन्तों द्वारा उत्पीड़ित किसान हैं और गौणतः सर्वहारा मजदूर। सामन्तो और पूंजीवादी-साम्राज्यवादी सौन्दर्य वोध के वे जागरुक शत्रु हैं।

सौन्दर्य है क्या ? यह प्रश्न भी प्रेमचन्द ने उठाया है और उसका उत्तर दिया है कि—"जहाँ सामंजस्य या हम-आहंगी है, वही सौन्दर्य है, वही सत्य है, वही हकीकत है। जिन तत्वों से जीवन की रक्षा होती है, जीवन को विकास होता है, वही हुस्न है।" (कुछ विचार, पृ० ७६) एक अन्य स्थल पर उन्होंने लिखा है, "सामजस्य सौन्दर्य की सृष्टि करता है।" (कुछ विचार, पृ० १२) सौन्दर्य रहता कहाँ है ? इस प्रश्न के उत्तर में उनका कहना है, "राजा के महल

में, रंक की झोपड़ी के शिखर पर, गन्दे नाले के अन्दर, उषा की लाली में, सावन-भादों की अंधेरी रात में। और यह आश्चर्य की बात है कि रंक की झोपड़ी में जितनी आसानी से सुन्दर, मूर्तिमान दिखाई देता है, महलों में नहीं, महलों में तो वह खोजने से मुश्किलों से मिलता है।" (कुछ विचार, पृ० ८५)

इस उद्धरण के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता स्वीकार करते हैं। एक जगह उन्होंने लिखा है—"वह (सौन्दर्य या हुस्न) वास्तव में हमारी आत्मा की बाहरी सूरत है। हमारी आत्मा अगर स्वस्थ है तो वह हुस्न की तरफ बेअख्तियार दौड़ती है।" (कुछ विचार, पृ० ७६) यहाँ पहले वाक्य से तो यह आभासित होता है कि उनके लिये हुस्न आत्मा की बाहरी सूरत के सिवा कुछ भी नहीं, लेकिन दूसरे वाक्य में जब स्वस्थ आत्मा हुस्न की ओर दौड़ने लगती है तो साफ जाहिर हो जाता है कि आत्मा के बाहर हुस्न का अपना वजूद है।

सौन्दर्यानुभूति का सम्बन्ध मनुष्य की स्थिति-परिस्थिति से होता है अतः वह निरपेक्ष नहीं हो सकती। प्रेमचन्द को इस बात का पता है। वे कहते हैं: "आसमान पर छायी लालिमा निस्सन्देह बड़ा सुन्दर दृश्य है, परन्तु आषाढ़ में अगर आकाश पर वैसी लालिमा छा जाए तो हमें प्रसन्नता देने वाली नहीं हो सकती। उस समय तो हम आसमान पर काली-काली घटाएँ देखकर ही आनन्दित होते हैं।" (कुछ विचार, पृ० १५)

साहित्य में वस्तु और रूप का क्या सम्बन्ध और महत्व है? इस प्रश्न पर प्रेमचन्द ने सीधे विचार नहीं किया है। लेकिन एक स्थल पर उन्होंने लिखा है—"हमारा विचार है कि साहित्य में केवल एक रस है और वह शृङ्गार है। कोई रस साहित्यिक दृष्टि से रस नहीं रहता है और न उस रचना की गणना साहित्य में की जा सकती है, जो शृङ्गार-विहीन और असुन्दर हो।" (कुछ विचार, पृष्ठ ८४) साफ है कि यहाँ शृङ्गार से प्रेमचन्द का आशय कलात्मकता से है। कलात्मकता विरहित किसी भी रस की वस्तु सामग्री से रचित रचना को यहाँ वे साहित्यिक मानने के लिये तैयार नहीं हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे वस्तु और रूप का परस्पर सामंजस्य चाहते हैं।

यथार्थवाद मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र की एक प्रमुखतम अवधारणा है। देखना चाहिए कि प्रेमचन्द का यथार्थवाद से कैसा रिश्ता है और वे यथार्थवादी हैं या आदर्शवादी। डॉ० रामविलास शर्मा जैसे कुछ गिने-चुने लोग उन्हें यथार्थवादी कहते हैं, अन्य तमाम लोग उन्हें आदर्शवादी कहते हैं और उनसे भी ज्यादा संख्या ऐसे लोगों की है जो उन्हें आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कहते हैं। मेरा दृढ़ मत है कि अगर आदर्शवाद को उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि के साथ सही मायने में भावनावाद के अर्थ में ग्रहण किया जाय तो प्रेमचन्द को आदर्शवादी या और आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कहना बिल्कुल गलत है। और अगर आदर्शवाद को महज सुलक्ष्यवाद या सुद्देश्यवाद के साधारण अर्थ में ग्रहण किया जाय तो उन्हें आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कहना ठीक होगा। स्वयं प्रेमचन्द ने आदर्शवाद को सदुद्देश्यवाद के साधारण अर्थ में ग्रहण किया है। दार्शनिक अर्थ में नहीं। अतः उन्होंने 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। उन्होंने लिखा है—"वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं, जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो। उसे आप 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कह सकते हैं।" (कुछ विचार, पृ० ४६)

उन्होंने लिखा है—"भारत का प्राचीन साहित्य आदर्शवाद ही का समर्थक है। हमें भी आदर्श ही की मर्यादा का पालन करना चाहिए हाँ, यथार्थ का उसमें ऐसा सम्मिश्रण होना चाहिए कि सत्य से दूर न जाना पड़े।" (वही पृ० २८)

लेकिन आदर्शवाद (Idealism) जैसी व्यापक दार्शनिक अवधारणा को सदुद्देश्यवाद के साधारण अर्थ में ग्रहण करना एक बहुत बड़ी बुनियादी गलती है। यह गलती प्रेमचन्द ने की, इसी का परिणाम है कि उन्हें आज आदर्शोन्मुख यथार्थवादी समझा जा रहा है, यथार्थवादी नहीं।

यही नहीं, प्रेमचन्द ने यथार्थवाद का भी अर्थ गलत लगाया। उसे उन्होंने बुराईयों के नग्न चित्रण के संकीर्ण अर्थ में ग्रहण किया। यही कारण है कि उन्हें यथार्थवाद में आदर्शवाद मिलाकर 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' का नुस्खा तैयार करने की जरूरत पड़ी। उन्होंने अपने एक निबन्ध में लिखा है :—"यथार्थवादी अनुभव की वेड़ियों में जकड़ा होता है और चूंकि संसार में बुरे चरित्रों की ही प्रधानता है—यहाँ तक कि उज्ज्वल चरित्र में भी कुछ न कुछ दाग-धब्बे रहते हैं इसलिए यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है। और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई ही बुराई नजर आने लगती है।" (कुछ विचार, पृ० ४५)

कहने में संकोच नहीं होना चाहिये कि प्रेमचन्द की यथार्थवाद की सैद्धान्तिक समझदारी संकीर्ण और गलत है। वस्तुतः यथार्थवाद के अनुसार वास्तविकता (Reality) जड़ या स्थिर न होकर सतत गतिशील होती है अतः यथार्थवादी वास्तविकता को उसकी गतिशीलता में चित्रित करता है। वास्तविकता के सुन्दर और कुरूप, रोचक और घृणास्पद दोनों पहलू होते हैं, किन्तु वह चित्रण कारण-कार्य की व्यवस्था के साथ दोनों ही का करता है। उसका दृष्टिकोण स्वस्थ होता है, वह कुरुपता का समर्थन नहीं, विरोध करता है। वह हमें निराशावादी नहीं बनाता, अपितु हममें आशा का संचार करता है और बुराई की खिलाफत के लिये हमें प्रेरणा और शक्ति देता है।

अगर यथार्थवाद का यह वैज्ञानिक स्वरूप प्रेमचन्द को ज्ञात होता तो उन्हें आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का नुस्खा तैयार करने की जरूरत न महसूस हुई होती।

यह स्थिति थी उनकी यथार्थवाद सम्बन्धी सैद्धान्तिक समझदारी की, लेकिन वे जो कुछ लिख रहे थे वह वास्तव में यथार्थवाद था। उन्होंने 'सेवासदन' से लेकर 'गोदान' तक यथार्थवाद को निरन्तर विकसित किया है और हिन्दी साहित्य में यथार्थवाद की इतनी गहरी और मजबूत नींव जमा दी है कि आदर्शवादियों (भावनावादियों) की लाख कोशिशों के बावजूद वह रत्ती भर भी नहीं हिलेगी।

अब तक के विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द की सौन्दर्य दृष्टि पर मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र की गहरी छाप अवश्य पाई जाती है, किन्तु उसमें आद्यन्त संगति का निर्वाह नहीं है। सौन्दर्यबोध, उसके उद्गम, श्रम और सामाजिक विकास आदि के परस्परिक सम्बन्धों आदि का कोई विवेचन भी उनमें नहीं मिलता। वस्तुतः वे सृष्टा कथाकार थे, सौन्दर्यशास्त्री नहीं। अपने युग और सृष्टा कथाकार की सीमाओं से वे बंधे हैं, तथापि हिन्दी में मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के विकास के इतिहास में उनका स्थान अद्वितीय और अक्षुण्ण है, क्योंकि वे बुनियाद हैं।

पूंजी-भ्रष्टाचार का अंग बन गया। भारतीय पूंजीवाद ने तथाकथित मध्यवर्ग को अनुकूल बनाकर उससे अपनी संस्कृति का प्रचार कराया, अपने हित साधे। 'मोनोपली हाउस ने मध्यवर्गीय राष्ट्रीय बुर्जुआ के द्वारा सरकार में अपनी स्थिति मजबूत बना ली।

वे लोग जो महात्मा गांधी के साथ थे, कुछ तो मौन हो गये, कुछ उदासीन हो गये और उनमें कुछ इस नये पूंजीवाद भ्रष्टाचार के हिस्सेदार हो गये। देश में अराजकता बढ़ी और इस अराजकता को बढ़ाने में भारत के जर्जर सामन्तवाद तथा नवअंकुरित पूंजीवाद का विशेष हाथ था। महात्मा गांधी की जनवादी दृष्टि तथा स्वातंत्र्योत्तर भारत की इस राजनीति में कोई आन्तरिक सम्बन्ध नहीं रहा। बढ़ते हुए असन्तुलन के कारण समूचे देश में गैरजिम्मेदार विचार महत्वपूर्ण होने लगा। इसी का पूरा-पूरा लाभ उठाकर हिन्दी साहित्य में प्रयोगवाद अवतरित हुआ—"तारसप्तक" के आचार्य अज्ञेय का प्रादुर्भाव हुआ। हिन्दी का प्रयोगवाद भारतीय जनवाद और पूंजीवाद अराजकतावाद के असन्तुलन की अतिव्यक्तिवादी धारा थी। खड़ी-बोली की वह जनवादिता, जिसे प्रेमचन्द ने विकसित किया था, अज्ञेय के आचार्यत्व में व्यक्तिवादी हो गई। अज्ञेय ने भारत में पूंजी की एक सुरक्षा के निमित्त नये साहित्य की संस्कृति के सूत्र बनाये और एक ऐसा 'स्कूल' बनाया जिसने तरुणों को न केवल छला बल्कि उनकी प्रतिभा को उनके परिवेश से अलग कर दिया। अज्ञेय ने स्वातंत्र्योत्तर भारत की परिस्थितियों से लाभ उठाकर खड़ी-बोली की प्रगतिशीलता को कुंठित कर दिया।

इसी समय अमेरिका ने भारत के सामन्ती-पूंजीवादी हल्कों को आकृष्ट किया और यहाँ के अगणित 'मिडियॉकर्स' को बुलाकर उन्हें प्रशिक्षित कर पुनः भारत भेजा। यह समय था जब भारत में ज्ञान विज्ञान की शाखाओं-प्रशाखाओं के संस्थान खुल रहे थे—विश्वविद्यालय खुल रहे थे, अमेरिका ने इन संस्थानों, विश्वविद्यालयों पर अपना प्रभुत्व जमा लिया और अमेरिका द्वारा प्रशिक्षित भारतीयों को बड़े-बड़े पद और कुर्सियाँ दिला दी गईं।

इसके गहरे दुष्परिणाम हुए, जिनके खिलाफ आज तक संघर्ष नहीं छिड़ पाया है। हर बड़े विश्वविद्यालय में, विज्ञान, टेकनालॉजी के सस्थानों में पूंजी सुरक्षा के अभिजात्यपूर्ण कार्यक्रम बनना शुरू हुए। विश्वविद्यालयों में हिन्दी साहित्य के पठन-पाठन की जो व्यवस्था हुई, वह क्लासिकी और रोमेण्टिक थी। उसमें पाण्डित्य था, वह शुद्धतावादी थी। इन विश्वविद्यालयों ने खड़ी-बोली को अंग्रेजीनुमा बनाकर उसकी मूल चेतना को समाप्त करने में कोई कसर न छोड़ी। मैं तो यहा तक कहूँगा कि प्रेमचन्द की हत्या आजाद भारत के विश्वविद्यालयों में हुई। उनकी उर्वर सृजनात्मकता को कुंजियों में जकड़ दिया गया। दृष्टिहीन प्राध्यापकों ने उनके कृतित्व को इतिहास से काटकर क्लासिक्स में बदल दिया। खड़ी-बोली को संस्कारित करने में तथा उसकी संवेदना को कुण्ठित करने में हमारे विश्वविद्यालयों के हिन्दी-विभाग का हाथ रहा है। यहाँ खड़ी-बोली की लोक दृष्टि क्षीण होती रही है। विश्वविद्यालयों की खड़ी-बोली में क्लासिक्स का आभिजात्य झलकता है, जो रचना को मात्र एकेडेमिक बना देता है। इस तरह हम देखते हैं कि छायावाद की जड़ें, अज्ञेय (वाद) की जड़ें शैक्षणिक जगत में जमने लगती हैं।

लेकिन आजादी के बाद भारत का इतिहास आजादी के पूर्व के भारत के

इतिहास की अपेक्षा अधिक द्वन्द्वपूर्ण, यथार्थ और संघर्षमुखी रहा है। जहाँ एक ओर आर्थिक उत्पादन में एकाधिपत्य दिखाई देता है वहीं दूसरी ओर आर्थिक सम्बन्धों में वर्ग संघर्ष बढ़ने लगता है। भारत में मजदूर वर्ग, किसान वर्ग तथा इन दोनों के भीतर से ऊपर उठता हुआ तथाकथित मध्यवर्ग पूँजी के चगुंल में आ जाता है। कशमकश शुरू हो जाती है, और सारे देश में हड़तालों, जुलूसों, हिंसा अराजकता का वातावरण हो जाता है। यही वह समय था कि जिसमें अमरीका-प्रशिक्षित भारतीयों ने, जो बड़े-बड़े संस्थानों और विश्वविद्यालयों की आरामकुर्सियों में जमे थे, एकजुट होकर जन मन के यथार्थ आक्रोश को विरूपित करना शुरू किया और उसे व्यवस्थित नहीं होने दिया, वाममुखी नहीं होने दिया सारी अराजकता प्रतिक्रियावादियों के कारण प्रतिक्रियावादी शैली में दिखाई देती है।

परिणाम स्वरूप, कांग्रेसी सत्ता में दरारें पडने लगती हैं। बड़े-बड़े किसान और पूँजीपतियों के हितैषी एकजुट होकर कांग्रेस की प्रगतिशील नीतियों पर हमला करने लगते हैं। लेकिन तात्कालिक परिस्थितियों के दबाव के कारण पूँजी हित के हिमायती अपने द्वारा निर्मित सत्ता में गिर जाते हैं और हम देखते हैं कि भारत का संविधान जिसे ऊँचे आदर्शों से प्रेरित होकर रिनांसा संस्कारी उदार देशभक्तों ने बनाया था, आजाद भारत के बदलते हुए परिवेश और परिप्रेक्ष्य के यथार्थ के सम्मुख कमजोर पड़ने लगता है, टूटने लगता है।

बात को समेटते हुए इतना ही कहना ठीक है कि आज भारतीय सत्ता और भारतीय जनता में रिनांसा संस्कार धूमिल हो चुके हैं। दोनों में सामाजिक यथार्थ के प्रति रूचि पैदा हुई है और जागरूकता आई है और ऐसी हालत में संघर्ष की परिस्थितियाँ स्पष्ट हुई हैं। अब आधुनिक भारतीय राजनीति और अर्थनीति के अन्तर्विरोधों को भ्रमित नहीं किया जा सकता। जब-जब सामाजिक परिस्थितियों में अन्तर्विरोध अपनी समूची आन्तरिक शक्तियों के साथ उभरता है, तब-तब भारतीय समन्वयवादी उसके उभार को समाप्त करने में सफल होते रहे हैं। अन्तर्विरोधों को भ्रमित करना और समन्वय करना, एक ही मतलब रखता है।

किन्तु आज भारत की राजनीत्यार्थिकी में जो गहरा संकट आया है, वह बहुत कुछ निर्णायक सिद्ध हुआ है। राष्ट्रीय सरकार को समाजवादी संरचना की योजनायें बनानी पड़ी है। यह इतिहास की मांग है, परिस्थितियों का दबाव है। आजाद भारत के लगभग तीस वर्षों के उत्पादन स्रोतों और उत्पादन सम्बन्धों की वैमनस्यपूर्ण असामंजस्यता का परिणाम था, उसी के साथ भारत में पुनः प्रगतिशील मार्क्सवादी विचार का भविष्य स्वस्थ दिखाई देने लगता है। एक तथ्य जरूर ध्यान में रखना चाहिये कि इन तीस वर्षों में राजनीत्यार्थिकी के पहलू पूंजीवाद-प्रतिक्रियावाद-समाजवाद-प्रगतिवाद के दो शिविरों में खुले रूप से उपस्थित हो गये हैं। आज का प्रतिक्रियावादी अपने विपरीतों को पहचानता है और सावधान है। उसी प्रकार आज का प्रगतिवादी अपने विपरीतों के प्रति पूरी तरह सजग है। फिर भी, समूचे देश का माहौल अभी भी प्रतिक्रियावादी है। इस माहौल में किसी भी तरह का प्रगतिशील तर्क एक घटना के रूप में दिखाई देता है। जिसे प्रतिक्रियावादी आकस्मिक मानता है और प्रगतिशील अनिवार्य आकस्मिकताओं के चलते व्हिम्स (Whims) का जन्म होता है और

एक प्रकार की फासीवादी हिंसा की मुद्रा बनने लगती है। हिन्दी की प्रगतिवादी विचारधारा में इन प्रतिक्रियावादी हिंसा का सजग और सशक्त विरोध दिखाई देता है।

ऐसी हालत में साहित्य और कला में नई प्रगतिशील उमंग का पैदा होना स्वाभाविक है। और फिर अभी-अभी सामाजिक क्रान्ति की शैली में उभरते हुये प्रतिक्रियावाद (जे० पी० आन्दोलन) का पर्दाफाश हुआ है। इससे और अधिक स्पष्टता आई है, विश्वास पनपा है। आज तो प्रगतिशील चिन्तन की बुनियाद अपेक्षाकृत अधिक गहरी, सुदृढ़ और व्यापक है। लेकिन हिन्दी के प्रगतिशील विचार की वस्तुगत परिस्थितियाँ अभी तक कुहासे से मुक्त नहीं हो सकी हैं अभी तक हिन्दी के रचनाकार और समीक्षक को प्रेमचन्द की विरासत का पूरा लाभ नहीं मिल पाया है। प्रेमचन्द को और अधिक ठोस रूप में स्वीकार करना पड़ेगा नहीं तो यह उमंग सक्रिय गति में नहीं आ सकेगी।

विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों की स्थिति बदस्तूर है। इनके कैम्पस की चिन्तन प्रक्रिया में कोई गुणात्मक अन्तर नहीं आया है। लगता है देश भर की मानसिक दरिद्रता हमारे विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों में सिमट कर रह गई है। इतना अवश्य हैं, इन शैक्षणिक संस्थानों से बाहर के विचारक अधिक क्रियाशील और रचनात्मक दृष्टि सम्पन्न हैं। वे सामाजिक परिवेश से पूर्णतया सम्बद्ध है तथा अपने निश्चित उद्देश्य और गन्तव्य को जानते हैं।

हिन्दी के मार्क्सवादी समाजवादी काव्य-चिन्तन का भविष्य भी इन्हीं स्वतन्त्र रचना-धर्मियों के प्रयासों पर निर्भर है। कुछ एक प्राध्यापकों में भी सजगता आई है, किन्तु अभी एक वस्तुपरक और आलोचनात्मक इतिहास बोध का निर्माण नहीं हो सका है। वैसे तो भारतीय इतिहास-बोध रुग्ण है, वह मिथकीय और अन्तर्मुखी प्रकृति का है। और आधुनिक युग के बदलते परिवेश में मृतप्राय है। समाजवादी कला चिन्तन का पहला कार्य तो भारतीय इतिहास को स्वस्थ करके जीवन्त बनाना है, उसे जनवादी बनाना है मठों और मन्दिरों, मसीही इलहामों, पुरोहितों, पण्डितों तथा विशिष्ट वंशों की परम्पराओं से मुक्त करना है। हमें अपने इतिहास की चेतना में व्यक्ति की जगह समाज को प्रतिष्ठित करना है। क्योंकि यह व्यक्ति समय-समय पर बहुरूपिये की तरह भक्त और भगवान में रूपान्तरित होता रहा है। यह "व्यक्ति" ब्राह्मण और शूद्र के रूपों में नाटकीय ढंग से रंग बदलकर उपस्थित होता रहा है। हमें अपने इतिहास में इस व्यक्ति के दिव्य और राक्षसीय इरादों की योजनाओं को रद्द करना होगा। इसके लिये हमारे प्रयास फिलहाल एक आलोचनात्मक यथार्थवादी और क्रान्तिकारी-रोमाण्टिक जैसे ही होंगे।

इतिहास बोध को दुरुस्त करने के लिये भरपूर संघर्ष की तैयारी करनी पड़ेगी। और यह तैयारी रिसांसा संस्कारी मार्क्सवादियों तथा वैष्णव धर्मी मार्क्सवादियों से नहीं हो सकेगी। वस्तुपरक-धरातल पर खड़े होकर यथार्थ की भौतिकवादी मान्यता द्वारा भारतीय संस्कृति के विषम और वैमनस्यपूर्ण विपरीतों को स्पष्ट करना होगा। हिन्दी के कुछ प्रगतिशील कला विचारक इन विपरीतों की संघर्ष-योजना से बचते नजर आते हैं, कन्नी काटने लगते हैं। लेकिन हिन्दी में मार्क्सवादी-सौन्दर्यशास्त्र की रचना के लिये आवश्यक है कि हिन्दी साहित्य के दीर्घकालीन इतिहास की भौतिकवादी, जनवादी मान्यताओं को उजागर किया जाये।

लोक भाषा में, लोकदृष्टि के उन्नयन की ऐतिहासिक परिस्थितियों के यथार्थ का संधान करना होगा। सभी ब्रज, अवधी, राजस्थानी के लोक भावों में जातीय मन की संगति बिठाई जा सकेगी और समूचे हिन्दी प्रदेश की अन्तंवस्तु को एकरूपी शिल्प में रूपायित किया जा सकेगा। ऐसा करके ही हम खड़ी वोली की ऐतिहासिक विरासत को स्पष्ट कर सकेगें, अन्यथा मध्ययुगीन रास और लीला के सम्मोहन में, भाषाई सौष्ठव में समूचे साहित्येतिहास की व्यक्तिवादी अति-रंजनाओं पर ही टिके रहेंगे। मध्ययुगीन वैष्णव आन्दोलन, निर्गुण आन्दोलन तथा श्रृंगार साहित्य में, भाषा और भावों के सम्वन्धों में द्वन्द्वात्मक चक्र को लागू करके हम इतिहास की भूल भुलैय्यों को, जिसकी रचना सामन्तवाद के कारण हुई थी, पार कर सकेंगे। इस तरह भौतिकवादी भूमिका पर पुराण वोध और इतिहास-वोध स्पष्ट हो सकेगा। हिन्दी के मार्क्सवादी कला-चिन्तक जव तक मध्ययुगीन इतिहास के द्वन्द्वात्मक नियमों को स्पष्ट नहीं करेंगे, जव तक आधुनिक रचना और सिद्धान्त सम्वन्धी उनका समग्र कार्य भाषा और भाव के जातीय इतिहास से कटा हुआ रहेगा। और वह लोक सिद्ध नहीं हो सकेगा।

आज हिन्दी के मार्क्सवादी समीक्षक परिपक्व समाजवादी यथार्थवाद की ऊँची-ऊँची दलीलें देने लगे हैं। लेकिन इनमें अधिकांश की दलीलें समृद्ध समाज के विचार (affluculsocicty) तथा कल्याणकारी राज्य (welfare state) के विचार से Confused हैं। और इस तरह समाजवादी-समाज की रचना सम्वन्धी दृष्टि अनेक प्रकार के भ्रमों से ग्रस्त है। उक्त तीनों स्थितियाँ विपरीत अवस्थाओं तथा विपरीत अधिसंरचना की द्योतक हैं। परिपक्व समाजवादी समाज संरचना की स्थिति के स्वीकार से भारतीय सन्दर्भों में दृष्टिदोष पैदा होने लगता है। भारत के आर्थिक और राजनीतिक परिवेश में उक्त तीनों संज्ञानों में घोटाला दिखाई देता है। हिन्दी मार्क्सवादी विचारकों को पूंजीवादी-यूटोपिवन वैलफेयर राज्य, अमरीकी समृद्ध समाज और परिपक्व समाजवादी समाज संरचना के भेद को पूरी तरह से समझ लेना चाहिये। नहीं तो मार्क्सवादी विचारधारा वैष्णवी समन्वयवाद में समाप्त हो जायेगी। मार्क्सवाद एक डॉग्मा (Dagma) वन जायेगा।

आज हिन्दी का प्रगतिशील विचारक अधिक पढ़ा लिखा और गुणी है। वह अपनी स्थिति को सुरक्षित रखते हुये मार्क्सवादी संघर्ष में हिस्सेदारी का दावा करता है। व्यवहार कुशल होकर निजी अवसरों को पकड़ने तथा उसी व्यवहार कुशलता से मार्क्सवादी होने में वह अधिक होशियार है। कहने का तात्पर्य है कि हिन्दी के मार्क्सवादी समीक्षक आधुनिक हिन्दी रचना की परिस्थितियों को ध्यान में रखने के वाद भी परिपक्व-समाजवादी-यथार्थवाद की वात कैसे कर लेते हैं। हिन्दी रचना के ऐतिहासिक-सामाजिक-राजनीतिक सन्दर्भ अभी व्यक्ति-मुखी अधिक हैं। उन पर सामन्ती श्रेणीवद्धता और पूंजीवादी अलगाव का प्रभाव है। और भारतीय जन चेतना भी वहुभंगी है। क्या इतिहास और समाज के धरातल पर संघर्ष किये वगैर समाजवादी यथार्थवाद की सौन्दर्यपरक चेष्टाओं का चित्रण हो सकता है? यदि हाँ, तो हमारे प्रगतिशील सौन्दर्यशास्त्री कृत्रिम दुनिया में नशीले सुख भोग के ख्याल में जीने लगे हैं।

दृष्टव्य है कि नकली समाजवादी-यथार्थवाद आलोचनात्मक यथार्थवाद से ज्याद वुरा, खतरनाक और हानिकर है। हिन्दी रचना यदि अपने इतिहास से

जुड़ी है, अपने बदलते हुये सामाजार्थिक राजनीत्यार्थिकी के पहलुओं से प्रभावित है, तो उसमें परिपक्व समाजवादी यथार्थवाद की कोई भी स्थिति प्रकट नहीं हो सकती। हमने अभी संघर्ष किया ही कहाँ है और हमारी तैय्यारी भी तो पूरी नहीं हुई है। नेतृत्व और संगठन के लिये हमारे प्रयास ईमानदार नहीं हैं। "धूमिल" की कविताओं में, "रागदरबारी" में जो व्यंग्य है, यथार्थपरक गहरी चुभन है वह आलोचनात्मक यथार्थवाद तक की सजग यात्रा की द्योतक है। मुक्तिबोध की रोमाण्टिक फैन्टेसी उनकी तीखी मार्क्सवादी विश्वदृष्टि के साथ छेड़खानी करती है। मुक्तिबोध की रचना में शिल्प और वस्तु के द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध प्रखर और गतिशील होते हुये भी भाषा संवेदन पूर्णतया वस्तुपरक नहीं है, हो भी नहीं सकता। हिन्दी भाषा के ऐतिहासिक विकास की वर्तमान स्थिति में समाजवादी-समाजवाद की चेतना को नैसर्गिक रूप से उतारा भी नहीं जा सकता और इसीलिये मुक्तिबोध का समूचा रचना प्रयास एक ईमानदार जुझारू की तरह है।

हमें भारतीय जिन्दगी के यथार्थ को समझना है। रूसी, चीनी अथवा किन्हीं दूसरे समाजवादी देशों के यथार्थ को उतारना नहीं है। हमें अपना सत्य प्रकट करना है। लेकिन अनूदित सत्य को अपनाना नहीं है। हिन्दी समीक्षा के स्तर पर ये कमजोरी आज भी देखने को मिलती है जो नये रचनाकार के लिये अशुभ है। हिन्दी का प्रगतिशील समीक्षक आज भी हमारे रचनाकार को नकली बना रहा है। भारतीय जिन्दगी के यथार्थ धरातल अभी बहुत कच्चे हैं, जिन्दगी जोखिमों से भरी है। रचनाकार और समीक्षक को भारतीय जीवन की यथार्थ सम्वेदना को कुरेदना पड़ेगा। उसके सृजनशील स्रोतों को उजागर करना होगा। अतः लूकॉच और राल्फफाक्स का यथार्थवाद अभी हमारी परिस्थितियों में बहुत आगे का लगता है। इन बड़े-बड़े नामों की देख-रेख में हिन्दी रचना अभी छोटी लगेगी। यद्यपि, पूंजीवादी, प्रतिक्रियावादी रचना आयामों को समझने और काटने के लिये लूकॉच और राल्फफाक्स जैसे विचारकों के मूलमन्तव्यों की समझ जरूरी है। फिर भी, हमें भारतीय जन मन को जागृत करने के लिये अपने ही परिवेश की प्रगतिशील शैली के प्रतिमानों को गढ़ना पड़ेगा। लूकॉच एक भिन्न प्रकार की ऐतिहासिक सामाजिक परिस्थितियों का मार्क्सवादी सौन्दर्य विचारक है। हिन्दी के रचनाकार और समीक्षक को जितनी सही और जागरूक प्रेरणा लेनिन से मिल सकती है, उतनी लूकॉच से नहीं। लूकॉच को पकड़कर हिन्दी का मार्क्सवादी समीक्षक अपने व्यक्तित्व को प्रभावशाली बना सकता है। लेकिन मेहनतकश जनता के साथ होकर जूझने, खतरा मोल लेने, उसके दुःखदर्द में सक्रिय हिस्सेदार होने का कोई आधार नहीं पकड़ सकता। परन्तु लेनिन की रचनादृष्टि के सहारे वह हिन्दी रचना को क्लासिक्स बनने से बचा सकता है।

आज लूकॉच की सौन्दर्यदृष्टि को लेकर हिन्दी के मार्क्सवादी समीक्षक कैम्पस की बहसों में लगे हैं। रचनाकार भी चौंधियाया सा-नजर आता है। हालत साफ है, चूंकि हिन्दी का प्रगतिशील रचनाकार अपने परिवेश की संघर्षशील चेतना को चित्रित करने में लगा है, अतः उसे समीक्षक लूकॉच के प्रतिमानों की चिन्ता नहीं है। अभी तो वह लेनिन और मार्क्स को समझने में लगा है। ये बड़े-बड़े कैम्पस के समीक्षक लूकॉच की सौन्दर्य मान्यताओं से हिन्दी की प्रगतिशील

और यथार्थवादी चेतना को समझने में लगे है। कुल मिलाकर वे सैद्धान्तिक वहसों में लगे हैं। अपने व्यक्तित्व-वैशिष्ट्य को निर्धारित करने में लगे हैं।

इन लूकॉच-प्रेमी समीक्षकों से पूछा जाये कि अक्टूबर क्रान्ति के बाद की कला, कविता के ऐतिहासिक विकास में पाये जाने वाले विचार-संघर्ष को समझने की कोशिश की है ? निम्न पूंजीवादी मार्का समाजवादी रचनाकारों ने तत्कालीन रूस की पंचवर्षीय योजनाओं पर बुरा प्रभाव डाला था। ट्राटस्की के कारण समूची समाजवादी व्यवस्था में अन्तर्विरोध पैदा होने लगा था। लूकॉच की सैद्धान्तिक मान्यताओं से उस समय के रूसी काव्य और कलाओं के द्वन्द्वपूर्ण उतार चढ़ाव को तो स्पष्ट किया जा सकता है लेकिन हिन्दी के लूकॉच प्रेमी प्रगतिशील विचारक आधुनिक हिन्दी कथा-दृष्टि और काव्यदृष्टि का जायजा लें तो उनके उधारी के प्रतिमान खोटे सिद्ध होंगे।

भारत में समाजवादी कार्यक्रम की अभी वुनियादें पड़ी हैं। उसके प्रति भावना पैदा करना, विश्वास बढ़ाना तथा रचनाकार की दृष्टि को इस नवोदित परिप्रेक्ष्य में सही दिशा देना अधिक संगत होगा। और ऐसा करके ही समीक्षक यथार्थ दृष्टि को मजबूत बना सकेगें। हमें अपने समाजवाद की मूल प्रकृति, चेष्टा और शैली को समझना होगा। क्या कोई लूकॉच प्रेमी प्रगतिशील समीक्षक वर्तमान भारत की परिस्थितियों को इतिहास के नैसर्गिक कारण में बदलने, उसके भीतर की संगति और विसंगति को स्पष्ट करने तथा प्रतिक्रियावाद और समाजवाद में संघर्ष की रूपरेखा तैय्यार करने के जोखिम को उठाना चाहेगा ?

आज मार्क्सवादी विचार के शिक्षण की व्यवस्था पर संघर्षशील कदम उठाना आवश्यक हो गया है। जनता के मन में द्वन्द्वात्मक चक्र की समझ पैदा करना है। उसे एक सही दृष्टि देती है। अतः आवश्यक है कि श्रमजीवी प्रकृति के अथवा सर्वहारा प्रकृति के आलोचनात्मक यथार्थवाद को चिन्तन और व्यवहार की पद्धति बना लेने पर ही सामाजिक सन्दर्भों में दिलचस्पी पैदा हो सकेगी और सहभागीदारी की इच्छा पनप सकेगी। हिन्दी के मार्क्सवादी चिन्तक को वुर्जुआ प्रकृति के आलोचनात्मक यथार्थवाद तथा सर्वहारा के आलोचनात्मक यथार्थवादी दृष्टिकोण के भेद को समझना होगा। वुर्जुआ प्रकृति के नववामपंथी आलोचनात्मक यथार्थवाद में सरलीकृत्त वौद्धीकरण की प्रवृत्ति होती है। इसीलिये ये विपरीतों और अन्तर्विरोधों में समन्वय खोजते हैं। वस्तु स्थिति की भीतरी तहों में निहित संघर्ष को छोड़ देते हैं। लेकिन सर्वहारा प्रकृति के आलोचनात्मक यथार्थवाद में परतदर परत घुसते हुये संघर्षशील सत्य को उसके वस्तुपरक परिवेश में उपस्थित किया जाता है। हिन्दी में यह कार्य धूमिल ने बड़ी सफलता के साथ किया। यद्यपि उनकी कोई राजनीतिक-दृष्टि स्पष्ट न थी।

हिन्दी समीक्षा की रचनात्मकता और उसकी मौलिकता कमजोर है, उद्धरण टंकित है, शोभा धर्मी है। हिन्दी समीक्षा की रचनात्मकता का प्रश्न भी उसकी सामाजिक सन्दर्भिता और प्रासंगिकता से सम्बद्ध है। वुर्जुआ यथार्थवादी सम्बद्धता तथा सर्वहारा यथार्थवाद की सम्बद्धता में समीक्षा का आचरण और उसकी मानसिकता वदल जाती है। सर्वहारा प्रकृति के जीवन-यथार्थ से सम्बद्ध समीक्षा का आचरण सही मायने में प्रगतिशील होगा। जो किसी भी हालत में वुर्जुआ यथार्थ की समीक्षा को पनपने नहीं देगा। जीवन को उसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रखकर यथार्थ की पहचान कराने वाली समीक्षा में समय व स्थान

के समूचे वातावरण की द्वन्द्वात्मकता रहती है। ऐसी समीक्षा जिम्मेदार अनुशासन के रूप में होती है और उससे जनजीवन की परिस्थितियाँ स्पष्ट होती है। और ऐसी समीक्षा में ठहराव नहीं होता, वह निरपेक्ष नहीं होती।

रचना जिस रूप में है, जिस स्थिति की देन है, बुर्जुआ यथार्थवादी समीक्षक उतने तक रुक जाना चाहता है। ऐसी हालत में रचनाकार अपनी सृजनशील भूमिका पर अतिरिक्त रूप से विशिष्ट हो जाता है। वह प्रजापति होने लगता है। उसकी भागीदारी और सम्बद्धता समाप्त होने लगती है। ऐसी हालत में यदि समीक्षक अनुभवित-रचना-पदार्थ की उन परिस्थितियों को खोजता है, कि जिनमें वह विशिष्ट आकृति पा सकी है, यदि वह रचना के norms, attitudes तथा उसकी अर्न्तवस्तु को युग और वातावरण के दवाव की अनिवार्य निष्पत्ति मानता है तो रचनाकार की अभिरुचि उसकी मनोकामना तथा perspective भी विश्लेषण का विषय हो जायेगा। रचना एक अनुशासन वन जायेगी। बुर्जुआ यथार्थवादी समीक्षक के लिये रचना जनवादी-यथार्थ-सम्वेदन का अनुशासन नहीं रह जाती। वह बुनियाद और ऊपरी संरचना के संघर्ष से वाहर उसकी स्थिति मानने लगता है। सर्वहारा प्रकृति के यथार्थवाद पर केन्द्रित समीक्षक रचनाकार के Perspective को पकड़ता है और यहीं पर समीक्षक रचना के मूल्यांकन में उसकी अल्प प्राणता को, कच्चेपन को उधाड़ देता है। समीक्षक रचना की अल्पप्राणता की पूर्ति करता है। वह अनुभवित-रचना-पदार्थ को अधिकपूर्ण और यथार्थ परिप्रेच्य में रखकर उसकी पुनः रचना करता है। कवि और समीक्षक का यह अन्तरंग और गहरा रिश्ता मुक्तिबोध में दिखाई देता है।

समीक्षा में रचना का पुनः सृजन तभी संभव है, जब वह मूल-सम्वेदन की रचना परिस्थिति तथा उसके विषम और अन्तर्विरोधी कारकों की छानवीन अधिकाधिक रूप में कर सके और ऐसी हालत में समीक्षक का दर्जा रचनाकार से अधिक गम्भीर और महत्वपूर्ण हो जाता है। क्योंकि समीक्षक ही रचना की ऐतिहासिकता को उसकी युगसापेक्ष मानवीय गरिमा को, उसकी दृष्टि संभावनाओं तथा वृहत् प्रभाव क्षमता को उद्धाटित करता है। रचना के वस्तुपरक स्वीकार में समीक्षक एक सही परिप्रेक्ष्य बनाता है, अतः उसका दर्जा रचनाकार से कम नहीं होता।

हिन्दी की प्रगतिशील समीक्षा का अधिकांश बुर्जुआ अभिजात्य की शब्दावली को समृद्ध करने में लगा है। डॉ० रमेश कुन्तल 'मेघ' लोकायत हैं। लेकिन उनके ग्रन्थ विश्वविद्यालयीन कैम्पस की समझ के हैं। उनका यथार्थवादी चिन्तन देशी परिस्थितियों और देशी पुस्तकों की देन नहीं। उनकी विचार-शैली पर विदेशी प्रभाव गहरा है और शब्दों में विदेशी गन्ध है। उनके ग्रन्थ भारतीय सर्वहारा की समझ के वाहर है। फिर भी वे एक ऊँचे और विद्वान मार्क्सवादी हैं। एक संस्कारी मार्क्सवादी हैं। वे यथार्थवाद की रथयात्रा के संयोजक हैं। इनसे जनवादी यथार्थ को मुकून नहीं मिलता। इनके लेखन में यान्त्रिकता है, सहज गति नहीं। डॉ० शिवकुमार मिश्र भी सही सोचते-सोचते अचानक भावुक हो जाते हैं। वे समाजवादी यथार्थवाद की चर्चा को आगे बढ़ाना चाहते हैं। लेकिन रामचन्द्र शुक्ल को यथार्थवादी (अन्यों की भाँति) मानते हैं। हिन्दी की प्रगतिशील यथार्थवादी दृष्टि में शुक्ल जी की वापसी एक दुर्घटना होगी।

हिन्दी में साहित्य और जीवन के रिश्ते इतने मजबूत हो गये हैं कि शुक्ल

जी की विरासत का कोई लाभ नहीं मिलेगा। उनका समूचा शब्द कोश प्रतिक्रियावादियों जैसा है। शुक्ल जी के चिन्तन में मध्ययुगीन युटोपिया है। शुक्ल जी रूपवादी उतने ही हैं जितने नीतिपरक-सोद्देश्य मूलकलावादी। उनका वाच्यार्थ, उनका लोकहृदय, लोकमंगल और उसकी साधनावस्था यह सब कुछ उस तरह का वस्तुपरक नहीं है कि जो यथार्थवाद में अपेक्षित है। शुक्ल जी का मूल मन्तव्य आदर्शवादियों जैसा है। क्योंकि 'रामचरितमानस' के बहुत बड़े सामाजिक फलक पर वे अपने समीक्षा प्रतिमानों को संजोते हैं, अनेक तरह के पात्रों से वे रचना के गन्तव्य को स्पष्ट करते हैं, इसीलिये वे वाच्यार्थ और लोकहृदय की बात करते हैं, छायावाद के विरोध में उनकी यह दलील उस समय बड़ी उपयोगी दिखाई देती है। उनके लोकवाद और लोक हृदय की रूपरेखा शुद्धतावादी है। देखना है वे किस लोकहृदय की रहचान करते हैं ? और उस लोकहृदय की किस ऐतिहासिकता को स्पष्ट करते हैं ? शुक्ल जी का इतिहास बोध मिथकीय है। शुक्ल जी यथार्थ से, प्रगतिशील यथार्थ से दूर और बहुत दूर हैं। शुक्ल जी आत्मपरक प्रत्ययवाद के विरोधी थे लेकिन वे पूरी तरह से रूपसापेक्ष पौराणिक-वस्तुवादी थे। उनमें रूप और वस्तु के शुद्ध अथवा पवित्र सम्बन्धों की सामाजिकता मिलती है। जो द्विवेदी-युग के बहिर्मूलक रिंनांसा संस्कारों के समाहार में फलीभूत होती है। रूप की सत्ता के उपासक शुक्ल जी पदार्थ की ऐतिहासिक स्थिति को पौराणिक आदर्शों में, पदार्थ की परिस्थिति सापेक्ष द्वन्द्वात्मक गतिशीलता को और उसकी गुणात्मक चेतना को यांत्रिक नीतिवाद और साधुवाद से जड़ीभूत कर देते हैं।

यथार्थ, जो मनुष्य की चेमना को प्रतिस्थापना के मार्ग से निरन्तर विकासमान रखता है। उसका सम्बन्ध विवेक, तर्क और सम्वेदन से होता है। शुक्ल जी संस्कारवादी थे। संस्कारवादी मानतावाद परिमार्जित और उदार लगता है। देखने पर तो उसमें सबको समाहित करने की दिव्य और चमत्कारपूर्ण विभूतियाँ होती हैं, लेकिन वास्तव में वह स्वभाव, कर्म और विचार के स्तरों पर वर्ण और वर्ग के पार्थक्य को बनाये रखता है। यथार्थ की कच्ची और हीन स्थिति में ही संस्कारवादी मानवतावाद आकर्षक होता है। और इसीलिये उसकी प्रभाव क्षमता निरपेक्ष होती है। शुक्ल जी का समूचा चिन्तन ऊपरी संरचना के तामझाम का है, उसका सम्बन्ध बुनियाद से लाजमी तौर पर क्षीण हो जाता है। इसीलिये शुक्ल जी तुलसी के युग में कबीर की उपस्थिति को महत्व नहीं देते।

"राम" तुलसी की चरित्र-रचना-शिल्प तथा "होरी" प्रेमचन्द की चरित्र-रचना-शिल्प के दो प्रतिनिधि उदाहरण है। होरी प्रेमचन्द के समूचे इतिहास ज्ञान का निचोड़ है। यदि यथार्थवादी दृष्टि से तुलना की जाये तो 'राम' की अपेक्षा 'होरी' अधिक शक्तिशाली दिखाई देता है। राम की रचना में बाह्य संरचना और संस्कार-अनुष्ठानों का योगदान है। उनके चरित्र विकास की परिस्थितियाँ पूर्व निर्धारित सी हैं, उनमें अनुमान, आकस्मिक-संयोगों और अपार्थिव-तत्व-योजना का सहारा लिया गया है। जबकि होरी बुनियाद की संघर्षशील विषमताओं से निर्मित है। उसकी रचना सामाजिक सम्बन्धों को निर्धारित करने वाले कारणों से होती है। होरी के चरित्र में बुनियाद और अधिसंरचना की द्वन्द्वात्मकता है। होरी ऐतिहासिक भौतिकवाद के विकास का परिणाम है। 'होरी'

रचना-प्रक्रिया के स्तर तर बुनियाद का तथा प्रभाव के स्तर पर प्रतिनिधि (type) संस्कृति का प्रतीक है। उसके जीवन सन्दर्भ भी विषम, अनेकमुखी और वृहत् हैं। किन्तु वह 'राम' की तरह रचना में पूर्व निर्धारित संस्कार नहीं बन पाया। होरी में सम्पूर्ण द्विवेदी-युग छोटा पड़ जाता है, अतः रचना की दृष्टि से राम की अपेक्षा होरी अधिक जीवन्त पात्र है। होरी प्रतिपक्ष और अन्तर्विरोधों की अन्तर्वस्तु है। वह एक संस्कृति है। उसका जीवन महाकाव्यात्मक है। उसकी तुलना में राम पूर्वस्थापनाओं से सजते संवरते हुये आगे बढ़ते हैं। वे एक प्रतिष्ठान हैं। राम के चरित्र निर्माण की परिस्थितियों में इतिहास को अर्थशास्त्र से अलग रखा गया है। इसलिये उनका विकास अतिमानवीय रूपों में हो सका है। इसलिये आवश्यक है कि समीक्षा में इतिहास की समझ गहरी, साफ और व्यापक हो।

आज नवोदित प्रगतिशील उमंग के समग्र हिन्दी लेखन में बुर्जुआ स्कृति विस्तार पा रही है। बुर्जुआ संस्कृति का लहजा खड़ी बोली में घुल मिल गया है। यह बुर्जुआ संस्कार दोहरे चरित्र का होता है। वह एक ओर प्रतिक्रियावाद से जुड़ता है, तो दूसरी ओर प्रगतिशील विचार से, और फिर हिन्दी के प्रगतिशील बुर्जुआ चिन्तन के विविध आयाम हैं। हिन्दी भाषा और साहित्य की मूल चेतना में बुर्जुआ भाव बहुत गहराता जा रहा है। यह खुशी का विषय है कि नये रचनाकार ने इसके विरुद्ध संघर्ष छेड़ दिया है यह संघर्ष हिन्दी कहानी में मुख्य रूप से दिखाई देता है।

नववामपंथी बुर्जुआ के टेक्नालाजीकल बौद्धीकरण से भारतीय (किसान और मजदूर) सर्वहारा की पारिभाषित संज्ञा तक नहीं पहुँचा जा सकता। यहाँ का मध्यवर्ग इसी बुर्जुआ प्रगतिशीलता के कारण ऐतिहासिक संघर्ष के अनिवार्य नियमों से अपरिचित है, उसके प्रति उदासीन है। अतः अब इस उदासीनता को दूर करने के लिये सुनिश्चित सांस्कृतिक-कार्यक्रम बनाकर क्रान्तिकारी चेतना को विकसित करना जरूरी हो गया है।

अब यह जरूरी हो गया है कि समाजवादी कार्यप्रणाली से सम्बद्ध होकर जनता के पास पहुँचा जाए। तभी मार्क्सवादी विचार की उचित शिक्षा दीक्षा और प्रशिक्षण के लिये रास्ता खुल सकेगा। वैसे यह सत्य है कि कांग्रेस में तात्कालीन समस्याओं के दबाव से दक्षिणपंथ और वामपंथ का उतार-चढ़ाव आता रहा है। नये प्रगतिशील रचनाकार को इस उतार-चढ़ाव की संगति और विसंगति को समझना बहुत जरूरी है। मार्क्सवादी प्रशिक्षण के लिये अनुकूल समय है। हमें मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य को भारतीय जनता में तथा रचनाकार में नैसर्गिक रूप से उतारने का प्रयास करना होगा। अन्यथा भारतीय वाम की नियति टुकड़ों में बंटकर लड़ने झगड़ने तक सीमित रहेगी। और वह अपनी संघर्ष शक्ति के प्रति बेखबर रहेगा।

देश के प्रगतिशील कार्यक्रम में पृथक्कतावादी प्रतिक्रियावादी भी चोला बदलकर घुसपैठ में लगे हैं। उन्होंने अपनी सुरक्षा के निमित्त नये कार्यक्रम में अपनी हिस्सेदारी का बयान प्रस्तुत कर दिया है। अतः मार्क्सवादी प्रगतिशील विचारक को इस नाटकीय बहुरूपियेपन का स्पष्ट ज्ञान होना चाहिये ताकि नये कार्यक्रम धूमिल न हो सकें।

हिन्दी के प्रगतिशील विचार को आलोचनात्मक यथार्थवाद के बुर्जुआ और

सर्वहारा परिप्रेक्ष्य तथा समाजवादी-यथार्थवाद की विकासशील दशाओं के परि-प्रेक्ष्य में वर्तमान भारतीय परिस्थितियों को ध्यान में रखना जरूरी है। अन्यथा इसके निष्कर्ष भी यथार्थ नहीं होंगे। अन्तिम बात यह है कि मार्क्सवादी साहित्य चिन्तक को मार्क्सवादी साहित्यिक निष्पत्तियों तक सीमित नहीं होना चाहिये। एक विकासशील जीवन दर्शन है। जब तक इसकी अन्य शाखाओं प्रशाखाओं का ज्ञान नहीं होगा; जब तक इसकी व्यवाहारिकता का अनुभव नहीं होगा, तब तक यथार्थ की छिपी हुई और अव्यक्त स्थितियों को उजागर तथा उसकी बनावट को समझने और उन्हें समाजवादी रूप में प्रतिपादित करने का वस्तुपरक दृष्टिकोण नहीं बन सकेगा। रचनाकारों और समीक्षकों को मार्क्सवादी विचार की समग्रता का ज्ञान होना चाहिये, नहीं तो उनमें वह साहस नहीं आ सकेगा कि जिससे संघर्ष की निश्चयात्मक तैयारी होती है। मार्क्सवादी क्रान्तिकारिता को चेतना में पूरी तरह उतारने के लिए मार्क्सवाद की साहित्येतर निष्पत्तियों में गहरी दिल-चस्पी और जानकारी आवश्यक है।



हिन्दी की वामकविता का सौन्दर्यशास्त्र

—मोहदत्त

एक

कबीर और निराला अपने-अपने युग की वाम कविता के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। उनकी कविता का वामपक्ष उनके युग को सीमाओं को लांघकर सार्वकालिक हो गया है। कविता का वामपक्ष एक ऐसी साहसी रचना प्रवृति है जो हर युग में और हर जगह अपने चुनौती भरे अस्तित्व की विशिष्टता से जानी पहचानी जाती है। वाम कविता का अपना एक जोखिम है और उसकी रचना जोखिम और चुनौती की रचना है। इस संसार में जो कुछ श्रेष्ठ तथा सुन्दर है और जो मनुष्य तथा समाज को श्रेयस्कर है उस सबका सरोकार वाम कविता से है और जो अकल्याणकारी, निकृष्ट, जघन्य तथा निम्नतम है; जो शोषण, दमन एवं अन्याय से वाबस्ता है; जो आदमी को पशुवत और यंत्रवत दासत्व के घेरे में बांधता है; उस सबका विरोध प्रतिरोध वाम कविता ही करती है और उस सबके खिलाफ आवाज उठाना, जनमत तैयार करना तथा दुनियाँ भर के पीड़ित, दलित और शोषितों को उनके खिलाफ खड़े करने का काम भी वाम कविता ही करती है। वाम कविता रूढ़ियों को तोड़ती है, संस्कारों को जन्म देती है, परम्परा को संरक्षण और संस्कृति को गति प्रदान करती है। वाम कविता को परिभाषित भले किया जा सके मगर इसे छायावाद, अकविता, नई कविता जैसे 'वादों' के घेरे में बांध पाना असम्भव है। इसका अध्ययन और पठन पाठन काव्यशास्त्रीय केंचुल को चढ़ाये हुए रूढ़िवादी आलोचकों की संक्षिप्त टीकाओं के माध्यम से नहीं किया जा सकता। इस कविता के कलाधर्म को जाँचने परखने के लिये एक जागरूक सौन्दर्यशास्त्रीय समालोचक की दृष्टि चाहिये जिसकी राजनीतिक समझ स्पष्ट और पैनी हो और जिसका दिलदिमाग हर तरफ की ताजा हवाओं की खुनक को महसूस कर सके।

दो

वाम कविता के सौन्दर्यशास्त्रीय प्रतिमान मार्क्सवादी कला सम्बन्धी मान्यताओं कलाओं के उद्भव और विकास की मूल स्थापनाओं, सौन्दर्य और सौन्दर्यबोध, समाजवादी यथार्थ चित्रण की रीत नीति, नैतिकता और सोद्देश्यता, वस्तु और रूपतत्व, प्रतिवद्धता और पक्षधरता, कलाकार एवं वर्ग संघर्ष, पार्टी और पार्टी साहित्य आदि विचारों और सिद्धान्तों पर आधारित हैं। यह एक निर्विवाद सत्य है कि ये आधारभूत मान्यताएँ और स्थापनाएँ अनेकानेक पाश्चात्य और भारतीय सौन्दर्यशास्त्रयों की दृष्टि की तुलना में कलाओं और साहित्य को वैज्ञानिक प्रणाली से जाँचने परखने में एक ठोस समाजशास्त्रीय और सौन्दर्यशास्त्रीय आधार प्रस्तुत करती हैं। अतः इन्हीं तमाम स्थापनाओं और मान्यताओं के आधार पर जहाँ एक ओर समसामयिक हिन्दी कविता के वामपक्ष के अध्ययन, सर्वेक्षण और मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया है वहीं दूसरी ओर एक ऐसे सौन्दर्यशास्त्रीय ढाँचे को खड़ा करने का दुःसाहस भी किया गया है जो वामकविता के सृजन और विकास में सहायक हो तथा जिससे हिन्दी कविता के क्षेत्र में व्याप्त अराजक, भ्रामक और छद्म तथा मसीहाई प्रवृतियों का डटकर मुकावला किया जा सके।

मार्क्सवादी चिन्तन कलाओं को दैवीय और ईश्वरीय वस्तु न समझकर इसी जगत के आर्थिक, भौतिक और सामाजिक परिवेश की उपज मानता है। वेशिस्की ने कलाओं का उद्देश्य "चित्रित करना" और "शव्दों, ध्वनियों, रेखाओं और रंगो में प्रकृति के सार्वभौम जीवन को पुनः मूर्त करना" माना है।[1] सौन्दर्य तत्व कलाओं का मूलाधार है और इन्द्रियों से जिस सौन्दर्य की अनुभूति हम करते हैं "उसकी वस्तुगत सत्ता है।"[2] वास्तविक जगत से वाहर किसी अन्य भावलोक में कोई सौन्दर्य नहीं होता—यदि कोई दैवीय या ईश्वरीय कल्पना है भी तो उसका तर्क पूर्ण विवेचन असम्भव है। कलाओं के माध्यम से हम अपने आस-पास के संसार को जानते पहचानते हैं और जरूरत पड़े तो हम उसको वदल भी सकते हैं। कला में रूप कुरूप जैसा कुछ भी नहीं होता। "कला केवल उन वस्तुओं की ही रूप सृष्टि नहीं करती जिनमें प्रकृत सौन्दर्य है…कुरूप वस्तुएँ भी आती हैं, वे शक्तियाँ भी जो जीवन को कुंठित और उत्पीड़ित करती हैं और वे भी जो जीवन का समर्थन करती हैं।"[3] एक सच्चे कलाकार का यह दायित्व होता है कि वह कुरूप और कुत्सित को अभिव्यक्ति भले प्रदान करे मगर हमें उनसे घृणा करना सिखाये और उनका विरोध करे और 'जीवन का समर्थन' करने वाली शक्तियों को वल प्रदान करे।

कलाओं का उद्भव और विकास श्रम की ऐतिहासिक प्रक्रिया के अन्तर्गत हुआ है—यह एक मूलभूत मार्क्सवादी स्थापना है। श्रम की यह ऐतिहासिक प्रक्रिया लाखों वर्षो तक चलती रही और इसके अन्तर्गत कला और उसके मनोगत संघटकों का विकास होता रहा। मार्क्स के अनुसार श्रम प्रक्रियाओं के अन्तर्गत ही सौन्दर्यानुभूति के साथ-साथ "संगति धर्मा कान" (musical ears) और "रूपदृष्टा आंख" (form conscious eye) की चेतना जगी और इनका विकास हुआ।[4] एंगेल्स ने 'वानर के नर' वनने की प्रक्रिया में 'हाथ' की भूमिका को वड़ा महत्वपूर्ण माना है। उनके मतानुसार इसी हाथ की वदौलत कालांतर में "रॉयफल की सी चित्रकारी, थोर्वाल्दसेन की सी मूर्तिकारी और पागानीनी का सा संगीत

आविर्भूत हो गया।"[5] इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य की चेतनाओं और इन्द्रियों का विकास श्रम प्रक्रियाओं के अन्तर्गत ही हुआ और वह अपनी श्रम की विशिष्टता के कारण ही प्रकृति से संघर्ष करके उस पर विजय प्राप्त कर सका। मनुष्य अन्य जीवधारियों की तुलना में इसलिये श्रेष्ठ माना गया है, "अन्य जीवधारी अपनी आवश्यकताओं और माप के अनुरूप ही उत्पादन करते हैं किन्तु मनुष्य अपने अतिरिक्त अन्य जीवजातियों के माप और आवश्यकता के अनुरूप उत्पादन करना जानता है। मनुष्य सौन्दर्य नियमों के अनुसार ही सृजन करता है।"[6] अर्नेस्ट फिशर ने कला को 'काम' की संज्ञा दी है और कला को उतनी प्राचीन माना है जितना कि स्वयं मनुष्य। काडवेल के अनुसार कविता 'एक आर्थिक क्रिया' ही है और इसका जन्म 'आदिम मनुष्य के समूह गीत और नृत्य' से हुआ है। बाद में श्रम विभाजन और वर्ग भेद के फलस्वरूप कला और कविता के इस 'समूह रूप' में परिवर्तन हुआ और आधुनिक युग तक आते-आते कलाओं ने अपने विकास का एक लम्बा सफर तय किया है और सैकड़ों उत्थान पतन देखे हैं।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य ने शनैः शनैः यह अनुभव किया और जाना कि वस्तु में उपयोगिता के साथ-साथ और भी कुछ होती है और इन 'और भी कुछ' का सम्बन्ध सौंदर्य तत्व और सौंदर्यबोध से उत्पन्न आनंद से है। मार्क्स ने कला के इस 'सौंदर्यतत्व को मानव जाति का ऐसा क्रिया कलाप' कहा है 'जिसे वह सामाजिक ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के अन्तर्गत आत्मोपलब्धि की दिशा में सदैव प्रगति के रूप में सम्पन्न करता है।'[7] यही सौंदर्य बेलिंस्की के शब्दों में 'सामाजिक जीवन के जीवन्त यथार्थ का ऐसा प्रतिबिम्ब है जो हमें आनन्द ही नहीं देता, प्रगतिशील होने की प्रेरणा भी देता है।'[8] इस सन्दर्भ में गोर्की की यह मान्यता भी द्रष्टव्य है कि 'संसार में जो कुछ सुन्दर तथा श्रेष्ठ है वह सब मानव श्रम की उपज है।'[9] मनुष्य और समाज को केन्द्र में रखकर की गई सौंदर्य की इन यथार्थवादी और प्रगतिशील परिभाषाओं की तुलना में बहुत से पाश्चात्य विद्वानों ने सौंदर्य को 'चिन्तनशील धारणा का आनन्द' (कांट), 'आईडियल की अभिव्यक्ति का प्रयास' (हीगेल) और 'ईश्वर की विभूति (रस्किन) माना है।[10] इन दो भिन्न दृष्टियों में अन्तर स्पष्ट है; अन्तर ही नहीं वरन् मार्क्सवादी दृष्टि की श्रेष्ठता और वैज्ञानिकता भी स्वतः प्रमाणित हो जाती है। इसका एक और श्रेष्ठ प्रमाण हमें मार्क्स के सौंदर्यबोध के विकास के वैज्ञानिक विवेचन में मिलता है। उनका कहना है कि 'मानवजाति अपनी कर्मगत दक्षता को विकसित करने और आचार एवं विचार में भौतिक दुनिया पर अपना प्रभुत्व कायम करने की प्रक्रिया के दरम्यान अपने सौंदर्यबोध को विकसित और परिष्कृत करती है' वास्तव में मनुष्य अपनी प्रकृति से ही कलाकार है और 'कलात्मक ढंग' से वस्तुओं का निर्माण करता है। उसकी वस्तु संरचना में 'मानदण्ड' और अनुपात' निहित होता है लेकिन 'रंग, ध्वनि, रूप आदि के प्रति रागबोध तब प्रकट होता है जब सौन्दर्यबोध अत्यधिक सचेतन, सुनिश्चित और अपेक्षयः स्वायत हो जाता है।"[11]

मार्क्स की दृष्टि में कला 'सामाजिक चेतना का विशिष्ट रूप है"। 'कलाकार नये सिरे से संस्कृति का संस्कार करने की कोशिश करता है और उसका यह कार्य यथार्थ को समग्रता में प्रस्तुत करने की प्रक्रिया में होता है।'[12] एँगेल्स ने इसी यथार्थ का उद्देश्य 'प्रतिनिधि दशाओं में प्रतिनिधि पात्रों' की सृष्टि बतलाया

है। और जार्ज लूकाच के अनुसार 'यथार्थवाद की केन्द्रीय सौन्दर्यशास्त्रीय समस्या सम्पूर्ण मानव व्यक्तित्व का पर्याप्त मात्रा में समुचित प्रस्तुतीकरण' है। उन्होंने वास्तविकतावादी कला की दो प्रमुख विशेषताएँ मानी हैं— १-'टाइप' का सृजन और २. विवेकपूर्ण परिप्रेक्ष्य।" टाइप इस बात से बनता है कि वे सभी निर्धारक तत्व जिन्हें व्यक्तिगत एवं सामाजिक रूप से सारभूत माना जा सके–उसमें अपने विकास के चरम विन्दु पर विद्यमान हों–ऐसे विन्दु पर जहाँ उनकी आन्तरिक सभावनाएँ एकदम उद्घाटित हो उठें 'और' वस्तुपरक धरातल पर विवेकपूर्ण परिप्रेक्ष्य किसी भी ऐतिहासिक प्रक्रिया के प्रमुख प्रवाहों को परिलक्षित करता है"[१३] लूकाच के अनुसार एक वास्तविकतावादी कलाकार वालजाक और टॉलस्टॉय की तरह 'जीवन की वास्तविकताओं के पैटर्न' पकड़ने का प्रयास करता है और जनसमुदाय की सबसे महत्वपूर्ण और जीवन्त समस्याओं को अपनी कलाकृतियों में अभिव्यक्ति प्रदान करता है। एक यथार्थवादी रचनाकार वास्तविक और सत्य चित्रण को ईमानदारी और निष्ठा से करता है और इसके लिये कोई भी शैली शिल्प या वस्तु का चुनाव कर सकता है। इसकी पुष्टि हमें सोवियत कलाकारों के अखिल संघीय कांग्रेस के नाम सोवियत संघ की कम्युनिष्ट पार्टी की केन्द्रीय कमेटी द्वारा दिये गये संदेश से होती है—"समाजवादी यथार्थवाद की रीतिनीति किसी भी तरह की रूढ़ि और योजना को स्वीकार नहीं करती वह तो सृजनात्मक व्यक्तित्व के साहसपूर्ण उदय और अनेक शैलियों और विधाओं के लिये व्यापकतम संभावनाओं के द्वार उन्मुक्त करती है।'[१४] यहाँ एक यथार्थवादी रचनाकार को यह सतर्कता वरतनी चाहिये कि यथार्थ के नाम पर किये जाने वाले समस्त विद्रूप और विरूप चित्रण तथा घिनौने और कुरूप के प्रति घृणा के स्थान पर प्रेम सिखाने वाले चित्रण को अपनी रचनाओं में स्थान नहीं देना चाहिये। समाजवादी यथार्थवाद की कृतियों के नायक जीवन के निर्माता होते है और सच्चे श्रम के प्रतीक के रूप में चित्रित किये जाते हैं। वेलिस्की ने हर रचनाकार को एक सजीव यथार्थवादी चित्रण का दिशा निर्देश इन शब्दों में किया है— "यदि कोई कलाकृति केवल चित्रण के लिये ही जीवन का चित्रण करती है, यदि उसमें वह आत्मगत शक्तिशाली प्रेरणा नहीं है जो युग के व्याप्त भावना से निसृत होती है। यदि वह पीड़ित हृदय से निकली कराह या चरम उल्लसित हृदय से फूटा गीत नहीं है यदि वह कोई सवाल या किसी सवाल का जवाब नहीं, तो वह निर्जीव है।'[१५]

मार्क्सवादी मान्यताओंमें कलाओं में अन्तर्निहित नैतिकता और सोद्देश्यता सम्बन्धी प्रश्न बड़ी अहमियत रखते हैं। यह आग्रह सदा से रहा है कि "समस्त कला नैतिक कथ्य से परिपूर्ण होनी चाहिए।" नैतिकता का मानदण्ड मार्क्सवादी कला के वे 'सकारात्मक नायक' है जो मनुष्य के "सर्वोत्तम गुणों से सम्पन्न" होते हैं।[१६] ऐंगेल्स ने सभी प्रमाणिक और सच्ची रचनाओं में उस 'प्रकट सोद्देश्यता' की प्रशंसा की है 'जिसके द्वारा कलाकार मेशिनरी की तरह वर्तमान के गर्भ से भविष्य को निकालकर पाठकों की दृष्टि के आगे कर देता है।'[१७] सोद्देश्यता कला के स्थापित्व की एक निर्णायक कसौटी कही जा सकती है जिसके अन्तर्गत समस्त कलात्मक मूल्य (रूप विधान, विम्ब, प्रतीक, मिथक आदि का कलात्मक संयोजन और समायोजन), सर्वोच्च मानव मूल्य और मानव की पूर्ण अभिपुष्टि की अभिव्यक्ति, तथा वैचारिक प्रगतिशीलता आदि के मूल्य निहित हैं।

इन समस्त मूल्यों में प्राथमिकता 'कला के सार्वभौम मानव मूल्यों' को दी गई है जो कि कला के वस्तु तत्व में परिलक्षित होते हैं। इसीलिये मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्रीयों की दृष्टि में कला का वस्तु तत्व महत्वपूर्ण और प्रमुख है और 'शैली को कलाकृति का व्यक्तिगत गुण' माना गया है। कला के वस्तुतत्व को प्रमुख मानने का यह अर्थ कदापि नहीं हैं कि रूपतत्व को नकारा गया हो या उसका महत्व कम आंका गया हो। दरअसल 'वस्तु की कलात्मक अभिव्यक्ति' ही अभीष्ठ है।' 'मार्क्सवाद के लिये जितनी अपरिचित रूप से रहित वस्तु की कल्पना है उतनी ही वस्तु से रहित रूप की।'[18] वस्तु और रूप तत्व की यह 'अन्योन्याश्रित स्थिति' मार्क्स की ग्रीक कला के प्रति रुझान में स्पष्ट देखी जा सकती है। वस्तुपरक यथार्थ जितने महान सार्वभौम मानव मूल्यों से उत्प्रेरित होता है उतने ही बड़े पैमाने पर कलात्मक रूप विधान का भी कलाकृतियों में समायोजन होना चाहिये। इस सम्बन्ध में मुक्तिबोध की यह मान्यता सत्य प्रतीत होती है कि 'वस्तु तत्व में इतनी शक्ति होती है कि वह स्वयं अपने रूप को लेकर आता है।[19]

वैचारिक प्रगतिशीलता के मूल्य स्थूल रूप से उन बहुचर्चित बहस मुबाहिसों से जुड़े हुये हैं जिन्हें हम प्रतिबद्धता, कलाकार और वर्ग संघर्ष, पार्टी और पार्टी साहित्य, पार्टी अनुशासन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता आदि के रूप में सुनते पढ़ते रहते हैं। इन सब मुद्दों की जड़ में मार्क्स का कम्युनिज्म की स्थापना का वह स्वप्न है जिसमें मार्क्स ने एक अलगाव रहित समाज की कल्पना की थी जिसमें श्रम के आधार पर किया गया समस्त उत्पीड़क विभाजन समाप्त हो जायेगा और व्यक्ति की क्षमताओं का पूर्ण विकास सम्भव हो सकेगा। यह एक ऐसे 'आदिम समुदाय' का अथवा 'भविष्य की मुक्त मानवता' का स्वरूप है और स्वतंत्रता तथा समतापूर्ण समाज का एक ऐसा चित्र है जिसमें सर्वहारा क्रान्ति ही रंग भर सकती है। अतः प्रत्येक प्रगतिशील रचनाकार का यह दायित्व हो जाता है कि वह अपने आपको इस सर्वहारा क्रान्ति का पक्षधर घोषित करे और पार्टी के निर्देश में सर्वहारा द्वारा छेड़े गये वर्ग सघर्ष में एक सक्रिय भूमिका निभाने के लिये प्रतिबद्ध हो।

यहां यह बात गौर तलब है कि कला की प्रकृति कुछ ऐसी है कि उसे किसी आम हथियार के रूप में इस्तेमाल नहीं किया जा सकता, वह अधिक से अधिक विचारों और भावनाओं को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में प्रभावित करने की सामर्थ्य रखती है। साहित्य एवं कलाएँ 'मनुष्य को अधिक मानवीय, अधिक प्रखर, अधिक पूर्ण और अधिक संवेदनशील बनने में मदद देती हैं—वे मनुष्य को सामाजिक जीवन के अन्तर्विरोधों तथा ऐसी शक्तियों से परिचित कराती हैं जो सही दिशा में विकसित होते हुए जीवन तथा जीवन के लिये छेड़े गये अभियान में बाधा स्वरूप हैं—वे उसे उन शक्तियों तथा सम्भावनाओं का अहसास भी कराती हैं जो सामाजिक जीवन के क्रांतिकारी विकास की सही शक्तियां तथा सही सम्भावनाएँ हैं''[20] कला की इसी सामर्थ्य को ध्यान में रखते हुए प्रगतिशील जनवादी लेखकों, कवियों और कलाकारों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे 'सर्वहारा को पहचानें, उसके संघर्ष का अध्ययन करें तथा उन शक्तियों का समर्थन करते हुए जो सर्वहारा को गति दे रही हैं, उन अत्याचारपूर्ण शक्तियों की भर्त्सना करें जो उनके संघर्ष में रोड़ा बन रही हैं, उसे कमजोर कर रही हैं।'[21] पार्टी के निर्देश में छेड़े गये सर्वहारा के इस वर्ग संघर्ष में किसी भी कला-

कार का सक्रिय सहयोग उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर कोई आँच नहीं आने देता क्योंकि वह सर्वहारा क्रान्ति के लक्ष्यों को दृष्टिगत कर सामाजिक यथार्थ के माध्यम से किसी भी शैली शिल्प, रूप विधान, विम्ब विषय-वस्तु आदि का चयन और चुनाव करने में सर्वथा स्वतंत्र और मुक्त होता है। इस सम्बन्ध में पार्टी के निर्देश कला की स्वायतता और कलाकार की व्यक्तिगत स्वतंत्रता में कभी वाधक नहीं होते।

इस संदर्भ में लेनिन के 'कठोर पार्टी सिद्धान्त' को जिसका विकास रूस की तत्कालीन अराजक स्थितियों में किया गया था, "स्थूल राजनीतिक समझ" के आधारपर कुछ कुछ हठी और कट्टर पार्टी कार्ड होल्डरों ने वड़े गलत तरीके से लागू किया है। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि उन अराजक स्थितियों में लेनिन इतना तक कहने के लिये वाध्य हुए थे "हर कोई विना किसी रोक के जो चाहे लिखने के लिये स्वतंत्र है मगर हर स्वैच्छिक संगठन (यहाँ तक कि पार्टी भी) उन सदस्यों को संगठन से वहिष्कृत करने लिये भी स्वतंत्र है जो पार्टी विरोध काम के लिये पार्टी के नाम का इस्तेमाल करते हैं।"[२२] दरअसल कवियों, लेखकों और कलाकारों से एक ऐसी 'पार्टी समझ' की अपेक्षा की जाती रही है जो उनके स्वतंत्र निर्णय लेने के स्थान पर पार्टी द्वारा लिये गये निर्णयों के अधीन काम करने के लिये प्रेरित करती हो। लेनिन के कवियों, लेखकों और कलाकारों को 'अपनी आँखों के सामने हमेशा मजदूरों और किसानों के आकृति' रखने की जो सलाह दी थी वह भी पार्टी की माँग के अनुसार लिखी जाने वाली राजनीतिक रचनाओं पर लागू होती है। ये रचनायें जनवादी साहित्य की परम्परा में प्रसारित प्रचारित की जानी चाहिये जिससे कि अशिक्षित, अपढ़ सर्वहारा के वौद्धिक और सांस्कृतिक स्तर को ऊँचा उठाने, सुसंस्कृत करने और एक ऐसे वौद्धिक वातावरण को वनाने में मदद मिल सकती है जिसमें सर्वहारा द्वारा सुरुचिपूर्ण एवं स्तरीय ललित कलाओं का आस्वाद सम्भव हो सकता है।

इस सैद्धान्तिक विवेचन से वामकविता के जो सौन्दर्यशास्त्रीय प्रतिमान उभर कर सामने आते हैं वे कविता के शाश्वत प्रतिमान हैं और मनुष्य सत्य तथा मानव मूल्यों की हिमायत करने वाली वामकविता में परिलक्षित होने ही चाहिये। ये प्रतिमान समसामाजिक संदर्भो में ही अर्थवान और मूल्यवान नहीं हैं वरन् सार्व-कालिकता और सार्वदेशीयता के दृष्टिकोण से भी असंदिग्ध हैं। यह भी एक निर्विवाद सत्य है कि ये प्रतिमान समस्त महानतम और विशिष्टता तथा उच्चतम और सुन्दरतम आदर्शो से ओत-प्रोत हैं। इनको सार्थकता प्रदान करना ही एक श्रेष्ठ कवि कर्म है।

तीन

वामकविता के सौन्दर्यसास्त्रीय प्रतिमानों के साथ-साथ प्रगतिवादी धारा के अवशेष के रूप में और नई कविता की एक कड़ी की शक्ल में कुछ एक जाने माने माने प्रतिभावान कवियों की जिनमें नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, शमशेर वहादुर सिंह और मुक्तिवोध के नाम प्रमुख हैं, ऐतिहासिक विरासतों का जायजा लिये विना वामकविता की जाँच-पड़ताल एक तरह से अधूरी रहेगी। ये

सभी अपनी शैली शिल्प और कथ्य की विभिन्नता एवं विशिष्टता के कारण प्रगतिशील और वामपंथी खेमें में एक उपलब्धि के रूप में देखे जाते रहे हैं।

जिस युग में इनकी काव्ययात्रा के विभिन्न पड़ाव रहे हैं उसकी अपनी एक कहानी है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद प्रगतिवाद में विघटन अपने चरम बिन्दु पर प्रकट हुआ और उसी बिन्दु से प्रतिक्रियावादी ताकतों ने प्रयोगवाद की दिग्भ्रमित पूंजीवादी और साहित्यक राजनीति की जोड़गांठ शुरू की। मुक्तिबोध और शमशेर को कलात्मकता की आड़ में सप्तकीय परम्परा में शामिल करके इसी राजनीति के तहत नागार्जुन, त्रिलोचन और केदारनाथ अग्रवाल के साहित्य का देश निकाले की साजिश भी की गई। बहुत से कवियों को अज्ञेय ने अपने सप्तकों की कब्र में दफ़न दिया मगर 'अज्ञेय के हाथों दफ़न होने से नागार्जुन ने सायास अपने को बचाया और मुक्तिबोध अपनी अदम्य शक्ति से वह कब्र फोड़कर बाहर निकल आये।'[२३] इनमें से लगभग प्रत्येक ने एक अविस्मरणीय उपेक्षा भोगी है। जहाँ एक ओर मुक्तिबोध ने अपनी मृत्यु से गौरव प्राप्त किया वहाँ दूसरी ओर शमशेर बहादुर सिंह अपनी खामोशी और उदासीनता के बल पर अब तक प्रतिष्ठित हैं। आज तक इन कवियों का (मुक्तिबोध को छोड़कर) छुटपुट लेखों के अलावा कोई समग्र मूल्यांकन नहीं हो पाया और भविष्य में इन सबको एक जगह इकट्ठा करके होगा भी—यह ठीक से नहीं कहा जा सकता।

इन कवियों की काव्यगत विशिष्टताओं का सम्मिलित जायजा अगर लिया जाय तो वाम कविता की एक भरी पूरी तस्वीर उभर कर सामने आती है। गँवई गाँव के ठेठ भदेसपन से लेकर शुद्ध वैचारिक और कलात्मक फेन्टेसी की बुनावट तक इनका कविता का संसार फैला हुआ है। नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल और मुक्तिबोध के साहित्य का उद्देश्य शमशेर बहादुर सिंह की राय में "वर्ग संघर्ष के सामाजिक मर्म को उघारते जाना" है।[२४] कमोबेश सबमें यह ललक है और इसे सबने अपने अनुभव को सीधे सामान्य जन से जोड़कर हासिल किया है। केदारनाथ अग्रवाल की पूरी काव्य यात्रा में अपने युग की रूढ़ियो, अन्ध विश्वासों और अर्द्धसामन्ती जमींदारों के खिलाफ शोषितों की बुलन्द आवाजों के चटख रंग बोलते हैं। नागार्जुन का पैनापन भिन्न स्तर का है। उनके सामाजिक यथार्थ की सशक्त अभिव्यक्ति व्यंग के माध्यम से तराशती चली जाती है। त्रिलोचन में ऐसा कुछ नहीं है—न उतने चटख रंग न धारदार पैनापन—सिर्फ सादगी। त्रिलोचन के शब्द अक्सर "जी से बतियाने" लगते हैं। मुक्तिबोध एक जिम्मेदार प्रतिबद्ध और 'सीरियस' कवि के रूप में संघर्ष के भीम को लेकर आगे बढ़े। कवि शमशेर की "काव्यकृतियाँ सामाजिक दृष्टि से कुछ बहुत मूल्यवान" भले न हों[२५] और सीधे-सीधे वर्ग संघर्ष के सामाजिक मर्म के दायरे में न आती हों फिर भी उन्होंने "अपनी प्रेरणाओं को कुछ ऐतिहासिक सत्यों से जोड़ने की, उनके मर्म को अपनी धड़कन के साथ व्यक्त करने की कोशिश की" है।[२६] उनकी कविता का मुहावरा उनके अपने उर्दू-हिन्दी संस्कारों की देन है।

इन कवियों की जहाँ एक ओर अनेकानेक उपलब्धियाँ रूप शिल्प और प्रयोग के क्षेत्र में अद्वितीय कही जा सकती हैं वही इनमें से प्रत्येक की अपनी-अपनी सीमाएँ भी रही हैं जिसके कारण ये उतनी क्लासकीय ऊँचाइयों तक पहुँचने में सफल नहीं हो पाये। मगर यह बात तय है कि नागार्जुन के व्यंग (मंत्र कविता, प्रेत का बयान) और माटी की सोंधी गंध के चित्र (अकाल और उसके बाद);

त्रिलोचन का "नगई महरा" के माध्यम से तराशा हुआ रूढ़िग्रस्त और परम्पराओं को ढ़ोता हुआ निम्न मध्यम वर्गीय देहाती भावबोध; केदारनाथ अग्रवाल की लयपूर्ण गीतात्मक वास्तविकता (जब बाप मरा तब यह पाया। भूखे किसान के बेटे ने। घर का मलवा, टूटी खटिया। कुछ हाथ भूमि—वह भी परती।) और प्रकृति के सलोने चित्र (धूप चमकती है चांदी की साड़ी पहने, या फिर— दिन हिरण सा चौकड़ी भरता चला गया। धूप की चादर सिमटकर खो गई); शमशेर की प्रतीकात्मक ऐन्द्रीय अभिव्यक्ति (एक आदमी दो पहाड़ों को कुंहनियों से ठेलता) और गंगा जमुनी सलीस भाषा; तथा मुक्तिबोध की वैचारिक धरातल पर आन्तरिक दवावों और तनावों के विरोध विद्रोह की फन्तासी जन्य गाथायें ('अंधेरे में' विशेष रूप से)—यदि इन सबको किसी एक रचना में प्रतिस्थापित किया जा सके तो बहुत हद तक हमारी एक सही और सार्थक रचना की तलाश पूरी हो सकती है।

चार

समसामयिक हिन्दी वाम कविता सन् ६२ के उपरान्त राष्ट्र और साहित्य में उत्पन्न मोह भंग की स्थिति से लेकर सन् ७५ में घोषित 'अनुशासन पर्व' के दौरान फली फूली और परवान चढ़ी है। यह १३, १४ सालों का एक छोटा सा काल खंड एक बहुत बड़े राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक उथल-पुथल का युग रहा है। देश एक ओर तो ऐसी ऐतिहासिक क्रिया प्रक्रियाओं, विध्वंस और निर्माण, अराजकता और व्यवस्था की खोखली जोड़तोड़, नकली आदर्शों और टुच्चेपन, कुनवापरस्ती, भ्रष्टाचार और मुनाफा खोरी रिश्वत आदि के दोराहों पर भटकता रहा तो दूसरी ओर एक ऐसे विनोवा के अहिंसा, भूदान और सर्वस्वदान वगैरह के दिग्भ्रमित और दिशाहीन सँकरे मोड़ से गुजरा कि आम आदमी को अपने अस्तित्व की पहचान बनाये रखना और दो रोटियों के सीमित लक्ष्य तक जीवन निर्वाह करना भी दूभर हो गया। देशव्यापी शोषण, दमन, आतंक और घुटन की एकजुट मुहिम के खिलाफ लड़ते-लड़ते सामान्य जन का शरीर और आत्मा दोनों ही टूटकर बिखर गये। जहाँ एक ओर हमारे सपनों का हिन्दूस्तान ६२, ६५ और ७० के युद्धों और इनके फलस्वरूप फैली बेकारी, बेरोजगारी, मुद्रास्फीति और महगांई की चपेट में आकर टूट रहा था और ऊपर से तस्करी और जमाखोरी की प्रवृतियाँ ताबूत में कील ठोंक रहीं थीं वहीं दूसरी ओर राजनीतिक मंच पर दल बदल, तरह-तरह के चुनाव गठबन्धन, मिली-जुली विरोधी दलों की सरकारें, नारे जलूस, हड़तालें, घिराव, तालाबन्दी, आगजनी और लूटपाट और ऐसी ही न मालूम कितनी वामपंथी और दक्षिणपंथी गतिविधियों और कारंवाईयों के कारण सांस लेना भी दुश्वार था। इन सबके साथ-साथ, नक्सलपंथी गुरिल्ला झड़पें, गुजरात का छात्र आन्दोलन और जयप्रकाश के नेतृत्व में सम्पूर्ण क्रान्ति के मसीहाई रंग भी देखने में आये। साहित्य और समाज में एक दूसरे ही प्रकार से मूल्यहीनता की स्थिति पैदा हुई—जो कुछ निकृष्ट, नकली, फर्जी और गैर जरूरी या वह चमकदार मुलम्मे की आड़ में चलन में आया और इस खोटे सिक्के ने असली, मूल्यवान और जरूरी को चलन

यह है—स्त्री को सत्ता और व्यवस्था का प्रतीक मानकर अपने क्रोध का निशाना बनाना। वाम कविता में इस व्यवस्था की जो निरंकुश, खूंखार, स्वेच्छाचारी और तानाशाही तस्वीर उभर कर सामने आती है वह मुकम्मिल नहीं है क्योंकि इस व्यवस्था के द्वारा काम में लाये जाने वाले छल-छद्म, जोड़-तोड़ और शतरंजी शातिरपने के रंग इस तस्वीर में साफ नजर नहीं आते। व्यवस्था के ऐसे अनेकानेक पहलुओं और इसकी जटिलताओं का एक भरा पूरा चित्रण धूमिल की रचना "हत्यारे" में मिलता है। ये "हत्यारे एकदम सामने नहीं आते"। इनके पास "हैं कई-कई चेहरे। कितने ही अनुचर और टोलियाँ। एक से एक आधुनिक सभ्य और निरापद तरीके। ज्यादातर वे हथियार की जगह तुम्हें। विचार से मारते हैं। वे तुम्हारे भीतर एक दुभाषिया पैदा कर देते हैं।" गरज कैसी भी तस्वीर हो यहाँ समझने की चीज यह है कि हमारे देश में राजनीतिक व्यवस्था से ज्यादा जटिल सामाजिक व्यवस्था है और इसकी जड़ें बहुत गहरे आडम्बर, पाखंड, लोक दिखावा, रूढ़ि ग्रस्तता, अन्धविश्वास और अज्ञानता के दलदल में पैठी हुई हैं। धर्म और परम्परा इसके संरक्षक हैं। इस सामाजिक व्यवस्था पर कभी कोई संगठित प्रहार नहीं किया गया। इसकी जड़ों में अगर बारूद बिछाकर धमाका किया जाता तो कई अच्छे परिणाम सामने आ सकते थे। कुछ ऐसा सीधा और सरल लिखा जा सकता था जो इसे कमजोर करता गँवई गाँव और कस्बाई जनता में चेतना और जागृति के आसार दिखाई दे सकते थे। मगर इस अहम तात्कालिक जरूरत के मुकाबिले में व्यवस्था के राजनैतिक अंग पर एक फर्जी और फिजूल सा शाब्दिक आक्रमण किया गया जो बेमानी साबित हुआ। इस सम्बन्ध में डॉ० नामवर सिंह की यह टिप्पणी कि "अपने आस-पास की जिन्दगी और वास्तविकता के प्रति आलोचनात्मक स्वचेतना (critical consciousness) को जागृत और विकसित करना कहीं अधिक आवश्यक है,"[२८] एक बड़ी नेक सलाह के रूप में ली जानी चाहिये। दुर्भाग्यवश राजनैतिक परिवर्तन से पहले जिस सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन की ओर काम किया जाना चाहिये वह वाम कविता में बहुत कम हुआ है और इस तरह प्राथमिकता के क्रम में गड़बड़ी हो जाने के कारण हमने बहुत कुछ अपनी शक्ति और सामर्थ्य का दुरुपयोग किया है।

वामकविता के आतंकवादी तेवर और आक्रोशपूर्ण मुद्रा का जन्म जिस युगीन साक्षात्कार के फलस्वरूप हुआ है वह सौफीसदी प्रामाणिक ही नहीं है वरन् किसी भी युग की कविता की 'अनुभूति की प्रामाणिकता' को एक चुनौती भी है। हमारे समय की प्रायः सभी महत्वपूर्ण और जीवन्त समस्याओं, स्थितियों और परिस्थितियों की वास्तविकताओं के पैटर्न तथा मध्यवर्गीय, निम्नमध्यवर्गीय, किसानों और मजदूरों और शोषितों के उत्पीड़न का यथार्थ चित्रण वामकविता में मिलता है। सिलसिलेवार तरीके से देखें तो उस सुबह ने 'जो बेहद बदनाम सूरज के साथ आई। दिन नहीं ला सकी' ('अपनी परिभाषा खोजते हुये'—कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह) हमारे देश में एक ऐसी व्यवस्था को जन्म दिया जिसने 'किसी चीज को सही जगह नहीं रहने दिया है' (पटकथा—धूमिल) और 'जनता, मतदाता, बालिग नागरिक। हिन्दुस्तानी।' को 'काली भेड़ों' (निर्णय-ऋतुराज) की शकल में तब्दील करके रख दिया है। इस व्यवस्था ने आदमियों को दो भागों में बाँटा। एक वे जो "केवल खा रहे हैं। बिना यह जाने कि ये रोटियाँ। कहाँ से आ रही

हैं। और अगर ये सब्जियाँ हरी हैं। तो वे लोग कैसे हैं जो इन्हें उगाते हैं।"
(आम आदमी १९७३ लीलाधर जागूड़ी)। इन उगाने वालों की स्थिति यह है
कि "अन्धे मैदानों में कभी जुतते हैं। कभी चौमासे तक में नहीं मरियल हल"
(जन गण मन अधिनायक जय हे–हेमन्त शेष) और ये लोग एक ऐसे कर्ज और
व्याज के उलझे हुए गणित में फँसे है कि 'पन्द्रह वर्ष का बूढ़ा। जब पचास वर्ष
का बूढ़ा होकर मरा। तो पचास रुपये का कर्ज। व्याज और चक्रवृद्धि व्याज
लगाकर। कितना होकर उसकी सन्तान के सिर चढ़ा' (गाँव या स्कूल-मनमोहन)
यह कर्ज और व्याज का गणित अन्त में इन उगाने वालों को 'एक वेगार वना
देता है।' (खचेरा और उसकी फेन्टेसी-अशोक चक्रधर)। विजेन्द्र की जनशक्ति
में वुन्देलखण्डी किसान मजदूरों की दारुण कथा कही गई है जिनके 'गलपटों पर
कठोर श्रम के धूमापित दाग हैं' इनके पास 'ओड़े-भोड़े कृषियंत्र। टटपूँजिया
साधन हैं।' 'इनकी कोई हिस्सेदारी नहीं। कोई मिल्कीयत नहीं'। इनके अति-
रिक्त अन्य प्रमुख रचनाओं में मध्यवर्गीय और निम्न मध्यमवर्गीय चरित्र का दस्ता-
वेज श्रीराम तिवारी की 'लोकवार्त्ता', गाँव के हाल-चाल की एक सपाट फोटो-
ग्राफिक कापी मनमोहन की 'शेष कुसल है', एक शरीफ वाल-वच्चेदार आदमी से
साक्षात्कार ज्ञानेन्द्रपति की 'एक वक्तव्य' आदि के नाम गिनाये जा सकते हैं।

इस यथार्थ चित्रण के साथ-साथ प्रतिनिधि स्थितियों और पात्रों की रचना
के कई सफल उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। धूमिल का मोचीराम और लीला-
धर जगूड़ी का वलदेव खटिक अपने पेशे से वड़ी ईमानदारी के साथ जुड़े हुए लोग
हैं। मोचीराम 'एक समझदार चुप' है और वलदेव खटिक 'एक इन्कार से भरी
चीख'। मोचीराम को जो स्थितियाँ दर्शन वघारने पर मजबूर करती हैं वे समाज
के वीच की हैं और उस परिवेश से पैदा हुई है जिसके वीच वह रहता है मगर
वलदेव खटिक का पागल विद्रोह लाल फीताशाही से जुड़ा हुआ है जिसे १९७४
की राजनीति से जोड़कर वल्देव खटिक को भिन्न स्थितियों में प्रतिनिधि मात्र
वनाने की चेष्टा की गई है। वलदेव खटिक से कहीं ज्यादा सजीव उसी कविता
का एक और पात्र है–रंगलू, जो 'कल राशन की लूट में शरीक था' यह हमारे
देश के उस ऐतिहासिक प्रवाह का प्रनिनिधित्व करता है जो एक कभी न भुला
सकने वाली संगदिल हकीकत कही जा सकती है। वलदेव खटिक से मिलता
जुलता एक और पात्र मोदनाथ प्राश्रित का 'नेपाली वहादुर' है (पक्षधर प्रवेशांक)
जो 'टाटा विड़ला के राजदूतों' के यहाँ पीढ़ी दर पीढ़ी की गुलामी करता हुआ
गाँव लौटता है। नेपाल वहादुर की गुलामी मध्यकालीन युग की गुलामी से किसी
कदर भी भिन्न नहीं है। दोनों कविताओं का अन्त वन्दूक की नली से निर्मित
आशावान भविष्य पर होता है। वर्ग चरित्र की दृष्टि से दो अन्य पात्र-अशोक
चक्रधर का खचेरा (खचेरा और उसकी फेन्टेसी) तथा दूधनाथ सिंह का कृष्ण-
कान्त (कृष्णकान्त की खोज में दिल्ली यात्रा) विचारणीय हैं। खचेरा सर्वहारा
का प्रतिनिधित्व करता है और कृष्णकान्त व्यवस्था से चिपके हुये सुविधाभोगी
दल्लाल का। इन प्रतिनिधि पात्रों के अतिरिक्त अन्य उल्लेखनीय पात्रों में
श्रीराम तिवारी की 'लोकवार्ता' का रमुआ, जुगमन्दिर तायल की 'रम्मो चमारिन
ज्ञानेन्द्र पति का 'अपना वघवा' और शशि प्रकाश का निताई वापू (यात्रा में-
सुदर्शन भाई से कविता सम्वाद-भंगिमा कविता विशेषांक) आदि के नाम गिनाये
जा सकते हैं। 'प्रतिनिधिक पात्रों के निर्माण के लिये जिस मर्मभेदी दृष्टि और

तुलनात्मक विवेक की आवश्यकता'[30] पर जो बल दिया गया है उसका अभाव इन रचनाओं में कहीं भी नहीं दिखाई देता। इस सबके ठीक विपरीत सतही अनुभव से उभरे नग्न प्रकृतिवादी और कुत्सित समाजशास्त्रीय यथार्थ चित्रण की भी कोई कमी नहीं है जिसमें भावुक अतिरेक, अमूर्तता और अकविताई घृणा उगालदान में भरे हुये पीक की तरह बजबजाते हैं मगर इस सम्बन्ध में कुछ न कहते हुये खामोशी अख्तियार करना ही बेहतर है।

सामाजिक राजनैतिक परिवर्तन, व्यवस्था और समाजिक यथार्थ रूप में वामकविता का जो वस्तुतत्व-छोटे-मोटे किसान मजूर से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर वियतनाम तक—और रूप विधान—सपाट वक्तव्य से लेकर प्रतीकात्मक बिम्ब-धर्मी फन्तासी तक, उभर कर सामने आये हैं उनमें पर्याप्त विविधता है और कुछ एक रचनाओं को स्पष्ट रूप से वर्गीकृत भी किया जा सकता है हालांकि इस प्रकार का वर्गीकरण एक गलत और जोखिम भरा काम है क्योंकि बहुत सी कविताओं की बुनावट कुछ इस प्रकार की होती है कि उन्हें किसी एक वर्ग में कैद कर देना अन्याय होगा। फिर भी वस्तुगत स्पष्टता के आधार पर निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत कुछ कविताओं को रखा जा सकता है :—

(अ) जनतंत्र, व्यवस्था और सामाजिक राजनीतिक वात्याचक्र-जंगलगाथा (वेणुगोपाल); खूनी नदी की यात्रा (कुमार विकल); जनता का आदमी (आलोक धन्वा); रजत जन्यती पर तुम्हारा हाथ और मैं (लीलाधर जगूड़ी); एक हिमालय और एक सूर्य (शलभ श्रीराम सिंह); विलम्बित रचना (ऋतुराज); हत्यारे (धूमिल) आदि।

(ब) जनता, आम आदमी, मध्यमवर्गीय भावबोध—नंगे सवालों के आमने सामने (मनमोहन); एक मामूली आदमी का बयान (रमेश गोड़); लोकवार्ता (श्रीराम तिवारी)।

(स) सर्वहारा-किसान मजूर, वर्ग चरित्र प्रधान—'संरचना' और 'जनशक्ति' (विजेन्द्र); एक सामरिक चुप्पी (कुमार विकल); दिग्भ्रम (नीलम श्रीवास्तव); रोटी (कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह); फैसला (विजेन्द्र अनिल); वंशज (ज्ञानेन्द्र पति)

(द) समसामयिक स्थितियाँ, आतंक, दमन—मनबोध (श्रीराम तिवारी), अभियोग पत्र (प्रकाश चन्द्रायन); आत्मनिर्वासन (राजीव सक्सेना); लाशों का बयान (श्री हर्ष); चवरी (कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह)

(य) कविता के चरित्र और पहचान सम्बन्धी—जो कानों पर ढोल बजाते हैं (विजेन्द्र); मिट्टी का बर्तन (ऋतुराज); शब्द यहाँ सक्रिय हैं (धूमिल); मेरी आस्था मेरी कविता (नीलम श्रीवास्तव) मेरी कविता (प्रभात)।

विजेन्द्र की 'संरचना' सर्वहारा वर्ग की एक प्रतिनिधि रचना है और 'जन-शक्ति' हिन्दी की 'माच्चू पिच्चू का शिखर' कही जा सकती है। 'जंगल गाथा' समाजतंत्र के खिलाफ खड़े होने के साहस को संजोये हुये है। 'नंगे सवालों के आमने-सामने' में "छः पेटों से बने अपने पेट" की भूख का विकराल स्वरूप है तो "एक मामूली आदमी का बयान" वह हलफनामा है जो रमेश गोड़ का न होकर इस देश की ८० फीसदी आबादी का हलफनामा कहा जा सकता है। श्रीहर्ष का 'लाशों का बयान" 'कील ठुके जूतों के आतंक' की कहानी है और और विजेन्द्र अनिल का 'फैसला' इस बात को लेकर लिखा गया है कि 'कौन सी जिंस तुम्हारी है और कौन सी हमारी यह देश किसका है तुम्हारा या हमारा'

राजीव सक्सेना के 'आत्म निर्वासन' की जो परिस्थितियां सन् ६५ में थी वह आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई हैं। गरज यह है कि समसामयिक हिन्दी वाम-कविता के अनगिनत कवि 'विषय वस्तु की परती को' (मेरी कविता-प्रभात) खोदने में लगे हैं जहाँ 'कविता के मर्म का सोता दबा हुआ है' और 'हठी और प्रचंड अन्धेरे के खिलाफ। अपनी कविता का सावित्री मंत्र। सिद्ध कर रहे हैं।' (मेरी आस्था-मेरी कविता-नीलम श्रीवास्तव)।

वाम कविता के भाषा पक्ष को छोड़ते हुये (जिसकी एक तवील और मुकम्मिल जांच पड़ताल कुमारेन्द्र पारस नाथ सिंह के लेख "काव्यभाषा का वाम पक्ष"—आलोचना नवांक ३४-३५ में की गई है) रूप तत्व के अन्तर्गत किये गये विभिन्न शैली शिल्प और रूप प्रयोगों का इस्तेमाल आमतरीके से देखने में आया है। कुछ के प्रकारों को निम्न रूप में तालिकावद्ध किया जा सकता है :—

१. वार्तालाप एवं सम्वाद शैली—यात्रा में—सुदर्शन भाई से कविता—सम्वाद (शशि प्रकाश); दो शराबियों की बातचीत का एक टुकड़ा—(कुमार विकल)

२. वक्तव्यपूर्ण—एक वक्तव्य (ज्ञानेन्द्रपति); सम्राज्ञी आ रही है (पंकजसिंह)

३. तर्क पूर्ण—पावलाव और गांधी (वेणुगोपाल); क्या है—(ऋतुराज)।

४. कथा शैली —एक सामरिक चुप्पी (कुमारविकल); बल्देव खटिक (जगूड़ी)

५. पत्र शैली—शेष कुसल है—(मनमोहन)।

६. प्रतीकात्मक और बिम्बात्मक—रेलगाड़ी (मनमोहन); आजादी (भूपेन्द्र कौशिक), बारिश—(राजीव सक्सेना); युद्ध (मनमोहन); घोड़ा—(प्रकाश चन्द्रायन); रामलीला (लीलाधर जगूड़ी)।

इनके अलावा भी सूक्तियां, सामरिक युक्तियां, खबर देने का अन्दाज, तुकों की लटकेबाजी, मजमेबाज मुद्रायें, शब्दों के साथ चुहल आदि की शक्ल में वाम कविता का काफी मशहूर तर्जेबयान रहा है; मगर इन सबमें एक प्रकार की विरूपता और विद्रूपता रही है जो वाम कविता के चरित्र को उदात्त होने से रोकती रही है। विषय वस्तु के अन्तर्गत उन नायकों का भी अभाव रहा है जो 'जीवन के निर्माता' कहे जाते हैं। आज जरूरत इस बात की है कि कविता को उसके कविता धर्म से जोड़कर ऐसी सही और सार्थक रचना की तलाश की जाय जो तत्कालीन सन्दर्भों में ही नहीं वरन् दीर्घकालीन जरूरतों की शक्ल में भी मनुष्य के स्वप्न, सामर्थ्य और संघर्ष की नियति से जुड़ी हुई हो।

और अन्त में जनवादी रचनाओं के बारे में....। ये जनवादी रचनायें पार्टी की राजनीतिक मांग के अनुसार जनजागरण के उद्देश्य से लोक परम्परा में लिखी जानी चाहिये। इनसे सर्वहारा में बौद्धिक और सांस्कृतिक चेतना का प्रचार और प्रसार करने में सहायता मिलती है। इनकी सौन्दर्यशास्त्रीय बुनावट विशिष्ट, संस्कारी अथवा शास्त्रीय रचनाओं की तुलना में भिन्न स्तर की होती है। इन्हीं रचनाओं की सीढ़ियों पर चढ़कर अपढ़ अशिक्षित सर्वहारा विशिष्ट कलात्मक मूल्यों की पहचान कर सकता है और उनका आस्वाद भी। अतः ये दोनों प्रकार की रचनायें एक दूसरे के पूरक के रूप में देखी जानी चाहिए। इस प्रकार के श्रेणी विभाजन का इशारा अर्नेस्ट फिशर ने लेनिन को उधृत करते हुये इन शब्दों में दिया है—"लेनिन ने 'पार्टी समझ' की मांग सामान्य

साहित्य के लिये नहीं, वल्कि राजनैतिक रचनाओं के लिये की थी।"[११] यहाँ 'राजनैतिक रचनाओं' का तात्पर्य जनवादी रचनाओं से ही है जो कि पार्टी की मांग और प्रोग्राम के अनुसार लिखी जाने के कारण राजनैतिक चरित्र की होती हैं। इस परम्परा में सबसे पहला नाम नागार्जुन का लिया जा सकता है जिनकी बहुत सी रचनायें—'यह चुनाव का प्रहसन', 'अन्न-पचीसी', 'काले धन की बैसाखी पर' आदि—काफी प्रसिद्धि पा चुकी है। अन्य रचनाकारों में शलभ श्रीराम सिंह (जमाने को बदलना है; जिन्दाबाद इन्कलाब), रमेश रंजक (दमन की नगरी, नहीं चाहिये सरकार सयानी); रमेश दीक्षित (अब नहीं आवाज जनता की दबेगी); मुद्राराक्षस (डाकू नौटंकी); अशोक चक्रधर (हक की लड़ाई) आदि प्रमुख हैं।

पाँच

आज हम चढ़े हुये सैलाब से उतर जाने के बाद नदी के उफान के अवशेषों की तरह किनारों पर पड़े हैं और वह उबलता, उफनता, तहस-नहस करने वाली मुद्राओं का सैलाब इतिहास की धरोहर बन गया है। अब हम बड़ी पुख्तामिजाजी से एक नये सफर की तैयारी शुरू कर सकते हैं और अपने विकास की दिशायें तय कर सकते हैं, उस सब सामर्थ्य और ताकत के साथ जो हमें विगत १३, १४ वर्षों के संक्रान्ति काल के छोटे बड़े कवियों ने प्रदान की है। भविष्य की वाम कविता जिन्दगी के महान और उदात्त चरित्र की ही कविता नहीं होगी बल्कि वह जीने की और-और ऊँचा उठने की प्रेरणा भी देगी तथा उन स्थायी मूल्यों के सृजन करने में भी मदद देगी जिन पर आने वाली नस्लें गर्व कर सकें।

●

सन्दर्भ-सूची

१. दर्शन, साहित्य और आलोचना,—नरोतम नागर, पी. पी. एच पृष्ठ १६।
२. सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता और सामाजिक विकास—डा० राम विलास शर्मा समालोचक-सौन्दर्य-शास्त्र विशेषांक पृष्ठ १७८।
३. "चर्निशेव्स्की"—आलोचना के सिद्धान्त—शिवदान सिंह चौहान—पृष्ठ १३१।
4. Problems of Modern Aeosthetics Progress Publishers Moscow, Pags. 103.
५. कार्ल मार्क्स फ्रेडेरिक एंगेल्स—संकलित रचनाएं भाग-३ प्रगति प्रकाशन-मास्को पृष्ठ ६।
6. Problems of Modern Aeosthetics—Page 178. Progress Publisheri-Moscow.
७. मार्क्स और एंगेल्स के सौन्दर्य शास्त्रीय विचार—स्तेफान मोराव्स्की आलोचना नवांक १५ पृष्ठ-३।
८. "थे लिस्टों की मान्यताओं का विकास" आलोचना अंक ६, अक्टूबर १९५३।
९. मार्क्सवादी साहित्य चिंतन-इतिहास तथा सिद्धान्त—डा० शिवकुमार मिश्र पृष्ठ २६०।

१०. सौन्दर्यशास्त्र के तत्व—डा० कुमार विमल पृष्ठ-७१-७३ ।
१०. मार्क्स और एंगेल्स के सौन्दर्य शास्त्रीय विचार—डा० स्तेफान मोराव्सकी-आलोचना नवांक १५, पृष्ठ ५ ।
१२. वही, पृष्ठ-४ ।
१३. "लूकाच का वास्तविकता वाद"—ओमप्रकाश ग्रेवाल कथा-४, पृष्ठ ५१ ।
१४. मनुष्य और समाज-ओम प्रकाश मंत्री, पी. पी. एच. पृष्ठ १७४ ।
१५. दर्शन साहित्य और आलोचना, नरोतम नागर, पी. पी. एच. ।
१६. मनुष्य और समाज—ओम प्रकाश मंत्री, पी. पी. एच. पृष्ठ १७८ ।
१७. मार्क्स और एंगेल्स के सौन्दर्यशास्त्री विचार स्तेफान मोराव्सकी, आलोचना नवांक १५ पृष्ठ १० ।
१८. यथार्थवाद—डा० शिव कुमार मिश्र, पृष्ठ, ६२ ।
१९. नये साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र-मुक्तिबोध पृष्ठ ६२ ।
२०. यथार्थवाद—डा० शिव कुमार मिश्र पृष्ठ ७९ ।
२१. मार्क्सवादी साहित्य चिंतन—इतिहास तथा सिद्धान्त—डा० शिव कुमार मिश्र पृष्ठ २३५ ।
22. "On Literatiure and Art"—V. I. Lenin. Progress Pub, Moscow, Page. 25.
२३. भैरव प्रसाद गुप्त—निकेत नागार्जुन, अंक पृष्ठ, १८ ।
२४. आलोचना अंक २-जुलाई-सितम्बर-६७ पृष्ठ १२८ ।
२५. चुका भी हूँ नहीं मैं—आभार ज्ञापन-शमशेर ।
२६. कुछ और कविताएं—भूमिका-शमशेर ।
२७. धूमिल सीधी लेखक शिविर के दस्तावेज़ पृष्ठ ७४ ।
२८. शुरुआत—भूमिका—हंसराज रहबर ।
२९. सम्पादकीय आलोचना नवांक २९ पृष्ठ ५ ।
३०. समकालीन हिन्दी कविता में वाम-ओमप्रकाश ग्रेवाल—युगमरिबोध मई ७६ पृष्ठ १० ।
३१. पार्टी साहित्य और समाजवाद—आलोचना नवांक १३ पृष्ठ-४५ ।



वैज्ञानिक यथार्थवाद और प्रतिबद्ध लेखन

—राज कुमार सैनी

एक

खोज और विकास

वैज्ञानिक यथार्थवाद विज्ञान और कला के बीच, वस्तुजगत और भावजगत के बीच, भौतिक चेतना और सौन्दर्याभिरुचि के बीच, विचार और संवेदना के बीच, आपसी अन्तःसम्बन्धों और अन्तर्विरोधों को समझने, सुलझाने, उन्हें मस्तिष्क-गत और हृदय-गत करते हुए आत्मसात करने और कलात्मक रूप से अभिव्यक्त करने की एक आधुनिक, प्रामाणिक, आत्यंतिक रूप से विकसित और वास्तविक कला-प्रणाली है जो अपने आविर्भाव, विकास और अन्तिम परिणतियों में एक साथ कलात्मक भी है और वैज्ञानिक भी। वैज्ञानिक यथार्थवाद कला और विज्ञान के रिश्तों और उनके बीच कभी न टूटने वाले सम्बन्धों के आदिम काल से चले आते स्वरूपों और विकासों की एक आधुनिक मंजिल है। इन्ट्यूशनल यथार्थवाद, आध्यात्मिक यथार्थवाद, काल्पनिक और भाववादी यथार्थवाद, बुर्जुवा यथार्थवाद, पैटी बुर्जुवा यथार्थवाद, आलोचनात्मक यथार्थवाद, सामाजिक यथार्थवाद, समाजवादी यथार्थवाद आदि विकास की विभिन्न मंजिलों से गुजरता हुआ, अपेक्षाकृत अधिक सामाजिक, अधिक प्रामाणिक और अधिक सुसंगत होता हुआ वह अपने विद्यमान स्वरूप को प्राप्त कर सका है जिसे वैज्ञानिक यथार्थवाद या द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक यथार्थवाद कह सकते हैं। जिस प्रकार द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिकभौतिकवाद विज्ञान के क्षेत्र में मानव जाति की अब तक की उपलब्धियों में सर्वाधिक रूप से एक प्रामाणिक उपलब्धि है, उसी प्रकार कला के क्षेत्र में वैज्ञानिक यथार्थवाद मानव-जाति की अब तक की सभी कलात्मक उपलब्धियों में सबसे ज्यादा वास्तविक और कलात्मक उपलब्धि है। जिस प्रकार द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक भौतिकवाद (मार्क्सवाद) अपने विकास की अनेक पूर्व मन्जिलों

(आदिम युग से लेकर आज तक) से गुजरता हुआ और इस प्रकार क्रमिक और यकायक (Evolutionary and Revolutionary) रूप से विकसित होता हुआ अपने विद्यमान स्वरूप को प्राप्त कर सका है, वही स्थिति वैज्ञानिक यथार्थवाद की भी है। इस अर्थ में ये दोनों उपलब्धियां नया आविष्कार (New-inventions)न होकर नई खोजें (New discoveries) हैं। वैज्ञानिक यथार्थ-वाद की खोज अपने मूल रूप में द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक भौतिकवाद (मार्क्सवाद) की खोज के वाद हुई और अपने आविर्भाव, विकास और अन्तिम परिणतियों में द्वन्द्वात्मक, ऐतिहासिक भौतिकवाद (मार्क्सवाद) के आविर्भाव विकास और उसकी अन्तिम परिणतियों का अनुवर्तन करती है। किन्तु यह अनुवर्तन यांत्रिक (Mechanical) गैरसृजनात्मक (Non-creative) और अधीनस्थ (Sub-ordinate) नहीं होता। यह अनुवर्तन सृजनात्मक और सापेक्ष (Relative) रूप से स्वतंत्र (Independent) और स्वायत्त (Autonomous) होता है। किन्तु किसी भी स्थिति में यह अनुवर्तन परम-स्वतंत्र (Sovereign) नहीं होता। वैज्ञानिक यथार्थ-वाद रचनाशीलता और मूल्यधर्मिता के पारदर्शी माणिभों (Transparent crystals) के रूप में कला की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धियों को जन्म देने में सक्षम है। वैज्ञानिक यथार्थवाद कलाकार को कलाकार नहीं बना सकता किन्तु कलाकार को महानतम कलाकार बनाने में उसका आश्चर्यजनक रूप से सकारात्मक और निर्णायक योगदान होता है। यह धारणा विश्व-कला के विकास और इतिहास द्वारा पुष्ट हो चुकी है। नाजिम हिकमत, पाब्लो नेरुदा, गोर्की, मायकोवस्की, हावर्ड फास्ट, काडवेल, लूकाच, और बहुत कुछ सीमा तक सार्त्र का साहित्य, हमारे यहां फैज अहमद फैज, प्रेमचन्द, राहुल सांकृत्यायन, निराला, यशपाल, रांगेय राघव, अली सरदार जाफरी, कैफी आजमी, मुक्तिबोध, हरिशंकर परसाई आदि महान कलाकारों का साहित्य अपने-अपने भू-खंड के सर्वश्रेष्ठ आधुनिक साहित्य के रूप में मान्यता पा चुका है। इसका बहुत-कुछ श्रेय वैज्ञानिक यथार्थ-वाद की इस भूमिका को ही है जिसका पालन इन सभी कलाकारों ने अपनी देश-काल-संभवा परिस्थितियों में यथा संभव जागरूकता ((consciousness) और ईमानदारी (Conscientiousness) के साथ किया।

वैज्ञानिक यथार्थवाद के बीज यूं तो यथार्थवादी पूर्व परम्पराओं में भी मिलते हैं—सोफोक्लीज (Sophocles) की "ओडिपियस एक राजा' (Odepius the king) और एस्किलस (Aeschylus) की 'प्रोमिथियस बाउंड' जैसी ग्रीक त्रासदियों से लेकर शेक्सपीयर की त्रासदियों में, बेकन के निबन्धों में, बाल्जाक और गेटे की रचनाओं, टॉलसटॉय, दास्तोएवस्की और चेखव की कृतियों में, हमारे यहां कबीर से लेकर भारतेन्दु की रचनाओं में, वैज्ञानिक यथार्थवाद के पूर्वरूप बिखरे पड़े हैं। किन्तु अपने आविर्भाव के सर्वथा प्रामाणिक उत्स के रूप में वैज्ञानिक यथार्थवाद का उद्गम स्रोत हैं—मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, प्लाखोनोव, गोर्की और लूनाचार्स्की के कला और साहित्य सम्बन्धी लेख, विचार और वक्तव्य। रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र में वैज्ञानिक यथार्थवाद की खोज सर्वप्रथम मैक्जिम गोर्की ने की और वैज्ञानिक यथार्थवाद की सबसे महत्वपूर्ण कृति उनका उपन्यास 'मां' ही है जो वैज्ञानिक यथार्थवाद के अनेक पहलुओं को पहली बार रचनात्मक स्तर पर कला और विचारधारा के आर-पार दर्शी क्रिस्टलों के रूप

प्रस्तुत करता है। साहित्य के क्षेत्र में वैज्ञानिक यथार्थवाद के विविध पहलुओं को उनकी देशकाल-संभव परिस्थितियों में रचनात्मक स्तर पर चरितार्थ करना ही प्रतिबद्ध-लेखन की ओर अग्रसर होना है। वैज्ञानिक-यथार्थवादी साहित्यकार को ही प्रतिबद्ध साहित्यकार कहते हैं। गोर्की के 'माँ' शीर्षक उपन्यास की प्रशंसा करते हुए लेनिन ने रचना के स्तर पर पारदर्शित प्रतिबद्ध-लेखन के शुभारम्भ की उद्घोषणा की थी। अपने निबन्ध 'एक महान शुरुआत' (The Great Beginning) में उन्होंने इस 'नए यथार्थवाद' (जो आज के सन्दर्भ में नया नहीं रहा। अतः हम उसे वैज्ञानिक यथार्थवाद कहना अधिक पसन्द करते हैं) की रूप-रेखा स्पष्ट की थी। कविता के क्षेत्र में उसे रचनात्मक स्तर पर उतारते हुए महान कवि मायकोवस्की ने कहा था कि 'सच्चा काव्य अनिवार्य रूप से जीवन से आगे होगा, चाहे वह एक घड़ी ही आगे क्यों न हो'। वैज्ञानिक यथार्थवाद को पूर्व यथार्थवादी प्रवृत्तियों से अलगाते हुए उन्होंने लिखा :—

> "हम यथार्थवादी तो हैं
> किन्तु जुगाली करने वाले ढोर नहीं
> कि पालतू होकर चिपके रहें
> (वर्तमान से)
> हम भविष्य में रहते हैं
> हम संघर्ष में जीते है
> (संघर्ष जो भविष्य के लिए....)
> साम्यवाद के लिए
> साम्यवाद जो
> बिजली सा द्युतिमान"[1]

दो

मूल्य और रचना के अन्तः संबंध और अन्तर्विरोध

पूँजीवाद ने अपनी ह्रासोन्मुख और क्षयग्रस्त स्थिति में आकर (मरता, क्या न करता) मानवीय मूल्यों और मानव संस्कृति के बीच खाइयाँ खोदनी प्रारम्भ कर दीं। विज्ञान मानव की सबसे बड़ी उपलब्धि के रूप में एक मानवीय मूल्य है; कला का उद्देश्य यह है, कि वह इस सबसे बड़े मानवीय मूल्य और अन्य मूल्यों के प्रति मानव जाति के रुचि-वैशिष्ट्य को अधिक संवेदनशील और अधिक ग्रहणशील (Receptive) बनाये। गोर्की ने एक बार कहा था[2] कि हमें यह भी जानना चाहिए कि 'पुरानी दुनिया' में केवल विज्ञान ही ऐसा मूल्य है जो मानवीय है, अतः हमें उसकी इस अविवाद मूल्यवत्ता की रक्षा करनी है। द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक भौतिकवाद विज्ञानों का विज्ञान (Science of Sciences) है और वैज्ञानिक यथार्थवाद ऐसे ही मानवीय मूल्यों की पुनर्रचना का, या यूँ कहें, कि कलाओं का विज्ञान (Sciences of Arts) है। मूल्यधर्मिता और रचनाशीलता के बीच इस गहरे रिश्ते की अभिव्यक्ति ही कला की अभिव्यक्ति है। इस रिश्ते के बिना कोई भी कलाकृति या साहित्य-सृजन छद्म कला (Fake Art) या छद्म साहित्य (Fake-

Literature) का नमूना ही बन जाती है। कलात्मकता और कलाबाजी के इस अन्तर्विरोध को समझना, एक कलाकार और कला के मूल्यांकन-कर्त्ता के लिए अत्यन्त अनिवार्य होता है। केशव और बिहारी कलाबाज कवि हैं किन्तु कबीर और तुलसी सच्ची कलात्मकता वाले कवि हैं। कारण यही है कि कबीर और तुलसी अपने युग की देशकाल-संभव मूल्यधर्मिता और रचनाशीलता के बीच के रिश्ते का अपने-अपने ढंग से [जागरूकता (Conscoiusness) और ईमानदारी (Conscientiousness) के साथ] निर्वाह करते हैं। इस अर्थ में वे यथार्थवादी पूर्व परम्पराओं के बहुत निकट हो जाते हैं। चाहे उनकी यथार्थवादी चेतना कई प्रकार के युग-भ्रमों (Illusions of Epoch) से ग्रस्त रहती है। यहाँ इस अन्तर्विरोध को स्पष्ट करना अनिवार्य होगा कि वे चेतन-अवचेतन स्तरों पर (At Conscious and sub-conscious levels) अपने युग-भ्रमों से मुक्त होने के लिए छटपटाते हैं और सामाजिक यथार्थ का साक्षात्कार करते रहने के लिए आतुर दिखाई देते हैं। वे महान इसलिए हैं; इसीलिए नहीं, कि उक्त भ्रमों के शिकार हैं। अक्सर निहित स्वार्थ उनकी महानता के असली कारण न बताकर उनके भ्रमों को (उनकी कमजोरियों को) ग्लोरिफाई करते हैं और अपना उल्लू सीधा करते हैं। तुलसी की 'रामराज्यपरक' कल्पना को उनकी तात्कालिक परिस्थितियों में विद्यमान आततायी और मूल्य विरोधी राज्य के कन्ट्रास्ट में देखने और परखने के बजाय वे उसे आध्यात्मिक कल्पना द्वारा महिमामंडित करते रहते हैं। पौराणिक कथा के एक नायक को अपने आदर्श चरित्र के रूप में चुनने मात्र से वे अतीत-धर्मी नहीं हो जाते। देखना यह चाहिए कि तुलसी ने जिन मानवीय मूल्यों और मानवीय सम्बन्धों का चित्रण किया वे अतीतमुखी न होकर भविष्य-मुखी ही थे। तुलसी ने जिस 'रामराज्य' की पूर्वकल्पना की थी वह सोवियत यूनियन में लगभग वास्तविकता बनता जा रहा है।

कला और वास्तविकता

कला और वास्तविकता के अन्तः सम्बन्धों की पहचान का अभाव कला की क्षति करता है जबकि उनका पूरा-पूरा अहसास कला के उत्कर्ष का कारण होता है। इस सम्बन्ध में गोर्की के सम्बन्ध में दो रोचक उदाहरण हैं जिनका उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। एक बार गोर्की से उनकी '२६ पुरुष और एक लड़की' शीर्षक कहानी की चर्चा करते हुए लियो टॉल्सटॉय[३] ने कहा था—"तुम्हारा तन्दूर उस तरह नहीं खड़ा जैसे कि उसे होना चाहिए था"। टॉल्सटॉय के इस मजाक का संकेत कहानी में तन्दूर (भट्टी) सम्बन्धी उस विवरण से था जिसमें कहानीकार ने कहा था कि तन्दूर (भट्टी) की आग रोटी सेकने वालों के चेहरे को रोशन कर रही है। गोर्की ने बाद में स्वयं स्वीकार किया कि यह विवरण वास्तविकता से दूर था, इसीलिए टॉल्सटॉय ने 'कला की क्षति, के रूप में उसका उल्लेख किया है। इसी प्रकार गोर्की की 'फोमा गोरदेयेव' शीर्षक रचना में मेदिनस्काया नामक स्त्री पात्र के बारे में चेखव[४] ने मजाक करते हुए उनसे (गोर्की से) एक बार कहा कि 'ऐसा लगता हैं' मानो उसके तीन कान हैं, एक शायद उसकी ठोड़ी पर भी है....' गोर्की ने बाद में स्वयं स्वीकार किया मेदिनस्काया को प्रकाश की ओर मुंह किये हुए जिस ढंग से चित्रित किया गया था, वह वास्तविकता से मेल नहीं खाता था। ये उदाहरण उस कलाकार की आत्मस्वीकृति के हैं जो वस्तुजगत की विशेषज्ञता में (कला के क्षेत्र में) अपना सानी

नहीं रहता। जब इतने बड़े यथार्थवादी कलाकार से भी ऐसी गल्तियों की सम्भावना हो सकती है, तो यह विचारणीय हो जाता है कि साधारण प्रतिभा के यथार्थवादी कलाकार कितनी गल्तियाँ करते होंगे। इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि गोर्की वस्तुजगत के वास्तविक चित्रण में सबसे अधिक सावधानी बरतते हैं। वस्तुजगत और कलाजगत के अन्तःसम्बन्धों का सही-सही निर्वाह करने वाले आधुनिक युग के महानतम कथाकारों में उनकी गणना होती है, किन्तु प्रतिबद्ध कलाकार जितना जागरूक (Conscious) होता है उतना ही ईमानदार (Conscientious) भी, इसीलिए, वे अपनी छोटी-छोटी भूलों, को कबूल कर लेते हैं। जबकि गैर-प्रतिबद्ध कलाकार इतना फितरती होता है कि अपनी भूलों, कमजोरियों को कलाबाजी जता कर महिमा-मंडित करता रहता है। अपनी मैटामारफोसिस (Matamorphosis) शीर्षक कहानी में काफ्का आदमी को 'कॉकरोच' के रूप में काया-कल्पित होता हुए दर्शाते हैं और मानव की इस अपमानजनक झूठी नियति को 'कला' के रूप में प्रस्तुत करते हैं। अस्तित्ववादी कलाकारों ने ऐसी कितनी ही अपनी कमजोरियों को कलाबाजी के रूप में महिमा-मंडित करने की बेईमानी की है। कला जब ह्रासोन्मुख होती है, वास्तविकता से उसका रिश्ता टूट जाता है तभी वह कलाबाजी के टोटके अपनाती है। काफ्का ने अपने युग की वास्तविकता को प्रामाणिक ढंग से समझने का प्रयास किया होता तो वे आदमी के व्यक्तित्वांतर की प्रक्रिया की सकारात्मक सम्भावनाओं को भी देख पाते और उनकी कला ह्रासोन्मुख होने से बच जाती। कई आलोचक कहते हैं कि काफ्का आकर्षित करता है; मन को छूता है; अभिभूत करता है। अगर मरणासन्न आदमी की बातें भी हमारा ध्यान आकर्षित करती हैं; मन को छूती हैं, अभिभूत करती हैं, वे याद भी रहती हैं, किन्तु वे इसी से जीवन्त मानवता का उदाहरण नहीं हो जातीं। पश्चिमी यूरोप की मरणासन्न कला के आत्म प्रलाप के रूप में काफ्का और कामू आदि की कला पाठकों को अभिभूत करती है किन्तु यह विकासोन्मुख जीवन्त कला के उत्कर्ष से कोसों दूर है। मरते हुए आदमी की तरह वह कौतूहल और करुणा (Pity) जगाती है। हिन्दी के एक उपन्यासकार बदीउज्जमा ने भी इसी काफ्काई अन्दाज में आदमी को चूहे में 'अन्तरित' होते हुए दिखाया है। क्या मानव का भविष्य 'चूहे में अन्तरित' होना है? वह भी उस मानव का जो पूंजीवादी तन्त्र के चूहेखाने और साम्राज्यवादी तन्त्र के 'मुलाकिजखाने' के खिलाफ संघर्ष करने के लिए कृत-संकल्प है। वियतनाम, कम्बोडिया और अंगोला की घटनाएँ और पूरे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर होते हुए बदलाव की प्रक्रियाएँ, क्या आने वाले समय में मानव के सकारात्मक व्यक्तित्वांतर की सम्भावनाओं को रेखांकित नहीं करतीं? आदमी के निराशाजनक भविष्य की आशंकाओं से आतंकित होकर, उसके भविष्य के केवल नकारात्मक पहलुओं को रेखांकित करना, उसी तक सीमित हो जाना, वास्तविकता का साक्षात्कार करने की बजाय उससे आँखें मूंदना है। ऐसे नियतिवादी दुराग्रहों से कला की क्षति होती है। 'चूहे की मौत' हिन्दी उपन्यास कला का ह्रासोन्मुख परिणति का एक उदाहरण है। ऐसे उदाहरण कई और भी हैं, किन्तु सबका उल्लेख करना यहाँ सम्भव न होगा।

'मानव को चूहे में अन्तरित' करने जैसी प्रवृत्तियों के ठीक विपरीत मुक्तिबोध ने मानव के भावी व्यक्तित्वांतरण के रूप में 'आलोक-स्नात पुरुष' की

कल्पना की थी। इसीलिए उनकी 'अधेरे में' कविता विकासोन्मुख होती हुई कला के उत्कर्ष की स्थिति का उदाहरण बन चुकी है। कला का उत्कर्ष मानव-भविष्य की उज्जवलतम सम्भावनाओं की पुनरर्चना में निहित है। इन सम्भावनाओं को नकारने वाली हर रचना ह्रासोन्मुख (decadent) और क्षतिग्रस्त कला का नमूना ही हो सकती है। फिर चाहे वह कामू की 'प्लेग' शीर्षक रचना हो या काफका की 'कैसल' शीर्षक कृति हो। वास्तविकता से कतराकर सामन्ती आश्रयों में सिर छिपा कर फफकने वाला अतीतमुखी और उच्छ्वसित मौन ही अज्ञेय की 'असाध्यवीणा' कविता को ह्रासोन्मुख होती हुई मरणासन्न कला का दयनीय दृष्टान्त बना देता है।

वहिर्जगत और अन्तर्जगत के अन्तर्विरोध और अन्तःसंबन्ध—

वहिर्जगत और अन्तर्जगत के अन्तर्विरोध द्वन्द्वात्मक-ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टि के विना शत्रुतापूर्ण होने लगते हैं; क्योंकि पूंजीवादी प्रचारतन्त्र द्वारा फैलाए गए भ्रम और खोदी गई खाईयां वहिर्जगत और अन्तर्जगत के बीच मित्रतापूर्ण संवाद की हरगुंजाइश को असफल बना देती हैं। इसीलिए यह देखा गया है कि एक प्रतिवद्ध कलाकार भी वैज्ञानिक यथार्थवाद की जागरूकता में कमी रह जाने के कारण इन अन्तर्विरोधों को सुलझालने में असावधानी वरत लेता है जिसका निर्णायक परिणाम होता है—कला का क्षतिग्रस्त हो जाना। यशपाल जैसे सशक्त और प्रतिबद्ध लेखक का भी सबसे ज्यादा कमजोर उपन्यास 'क्यों फँसें' इसका एक उपयुक्त उदाहरण है। वहिर्जगत और अन्तर्जगत के अन्तर्विरोधों की मित्रतापूर्ण प्रकृति की उपेक्षा कर, यशपाल इस उपन्यास में दोनों को एक दूसरे के विपरीत शत्रुतापूर्ण प्रतिद्वन्द्विता के साथ काउन्टर पोज करते हैं। स्त्री-पुरुष प्रेम (अन्तर्जगत का मूल्य) और सन्तान-उत्पत्ति (वहिर्जगत का मूल्य) के बीच के अन्तर्विरोधों को जागरूकता द्वारा सुलझाया जा सकता है, किन्तु यशपाल उन्हें एक ऐसी समस्या के रूप में पेश करते हैं मानों उक्त दोनों मूल्य एक दूसरे से टकरा रहे हों। जाहिर है कि यहां वे पूंजीवादी भ्रम के शिकार हो जाते हैं जिसका अनिवार्य परिणाम यह होता है कि 'क्यों फँसें' उपन्यास एक क्षयग्रस्त कला का उदाहरण बन जाता है। मित्रतापूर्ण अन्तर्विरोधों को शत्रुतापूर्ण ढंग से और शत्रुतापूर्ण अन्तर्विरोधों को मित्रतापूर्ण ढंग से पेश करना ह्रासोन्मुख और क्षयग्रस्त होते हुए पूंजीवाद की विशेषता है। यह विशेषता कला पर हावी होते ही उसे भी ह्रासोन्मुख और क्षयग्रस्त बना देती है, फिर चाहे वहकला प्रतिवद्ध कलाकार की हो चाहे गैर-प्रतिवद्ध कलाकार की। द्वन्द्वात्मक या वैज्ञानिक यथार्थवाद को समझ वहिर्जगत और अन्तर्जगत के अन्तः सम्बन्धों और अन्तर्विरोधों की प्रकृति के बारे में रचनाकारको एक जागरूक और ईमानदार दृष्टि अपनाने में सहायक होती है। मुक्तिबोध की कविताएँ उक्त अन्तः-सम्बन्धों और अन्तर्विरोधों की सही पहचान, उनके सही-सही अहसास की कविताएँ हैं, इसीलिए वह समकालीन कविता के उत्कर्ष की अद्वितीय मिसाल हैं। चंचल चौहान ने अपनी मुक्तिबोध विषयक पुस्तक में उन्हें प्रतिवद्ध कला का प्रतीक कह कर जो सम्मानित किया है, वह युक्तियुक्त ही है।

वहिर्जगत और अन्तर्जगत के अन्तःसंबंधों और अन्तर्विरोधों के प्रति वैज्ञानिक यथार्थवादी दृष्टि न अपनाने के कारण ही अज्ञेय का 'शेखर जीवनी' उपन्यास मूल्यों की क्षति के साथ-साथ कला की क्षति का भी एक नमूना

बन जाता है। उक्त अन्तःसम्बन्धों और अन्तर्विरोधों के प्रति नासमझी का यह परिणाम होता है कि रचनाकार भाई और बहन के बीच कामुक-मुद्राओं का चित्रण करते हुए भाई से कहलवाता है—"क्या होता है शशि ?" और बहन से यह उत्तर दिलवाता है—"सुख मिलता है शेखर, सुख"। समकालीन यथार्थ की उपेक्षा करने वाले रचनाकार को जब कोई बौद्धिक, तार्किक और मार्मिक समाधान नहीं सूझता तो वह घिसी-पिटी दकियानूसी और गैर-आधुनिक हिडोनिज्म (Hedonism) की अवैज्ञानिक, अकलात्मक, छिछली भावुकतापूर्ण कामुक मुद्रा में शशि की परिवेशगत परिस्थिति (बहिर्जगत) और उसकी मनःस्थिति (अन्तर्जगत) के बीच के सारे अन्तःसम्बन्धों और अन्तर्विरोधों के प्रति आत्ममुग्ध उपेक्षाभाव अपनाने लगता है; परिणाम स्पष्ट है रचनाकार की कला भी मानों शशि की ही तरह क्षयग्रस्त होने लगती है। शशि का क्षयरोग रचनाकार की रचना का ही क्षयरोग बन जाता है जो नायिका की उक्त नियति के रूप में प्रतिफलित होता है। कला की जड़ता और ठहराव का दूसरा उदाहरण उनका 'नदी के द्वीप' शीर्षक उपन्यास है। रचनाकार की खोज है कि द्वीप समुद्र में ही नहीं होते नदी में भी होते हैं। नदी की धारा (विचारधारा ?) से कतरा कर ढूहों और टीलों की तरह सिर उठाने वाले ये नदी-द्वीप मानवों के रहने-लायक नहीं हैं। ये टीले कीड़ों और मकोड़ों के रेंगने-लायक स्थल ही हैं। 'नदी के द्वीप' उपन्यास हमें इस तथ्य से अवगत कराता है कि उपन्यासकार कला 'मानवीय भू-खंडों' से पलायन कर 'ढूहों और टीलों' तक सीमित हो गई है। कला का आयाम संकीर्णतर और संकीर्णतम होता जा रहा है। धर्मवीर भारती का 'गुनाहों का देवता' उपन्यास भी बहिर्जगत और अन्तर्जगत के अन्तःसम्बन्धों और अन्तर्विरोधों के प्रति नितान्त अयथार्थवादी अवैज्ञानिक, झूठा, निष्क्रिय और रोमानी रवैया अपनाता है और हिन्दी उपन्यास कला के बढ़ते हुए क्षयरोग की आत्मपीड़ित और आत्मदया (Self pity) पूर्ण स्थिति को ही हमारे सामने पेश करता है। इसी प्रकार 'कनुप्रिया' में भी जब रचनाकार एक पिलपिली, लिजलिजी, चिकनी-चुपड़ी, छिछोरी, छिछली रोमानी दृष्टि के कारण उक्त अन्तर्विरोधों को नहीं सुलझा पाता तो समकालीन वास्तविकताओं से आँखें मींच कर, इतिहास-विरोधी मुद्राएँ ओढ़ता हुआ तथा उस पर 'राधा-कृष्ण' के मिथिकल रोमान्स का मुलम्मा लेपता हुआ क्षयग्रस्त कलाबाजी को ही कला के रूप में प्रस्तुत कर देता है। 'सोवियत यथार्थ' को 'सबसे बड़ा अयथार्थ' कहने के दुःसाहसी रचनाकार का अपना साहित्य अयथार्थवादी-रोमानी दृष्टि लिये हुए है और वैज्ञानिक यथार्थवाद विश्व-दृष्टि के प्रति प्रतिक्रियावाद के दुराग्रहों से ग्रस्त है, यही कारण है कि वह भौतिक चेतना और सौन्दर्य चेतना के बीच के सारे अन्तःसम्बन्धों और अन्तर्विरोधों को नजरन्दाज करता हुआ कला के उत्कर्ष का तो कहीं भी कोई आदर्श प्रस्तुत नहीं कर पाता, किन्तु कलाबाजी के सारे नमूनों के ढेर के ढेर लगा देता है। 'अन्धा युग' मानव जाति के इतिहास में न कभी आया है, न आयेगा। अगर समाज के विकास के नियमों का पता हो, इतिहास की समझ हो, वैज्ञानिक यथार्थवादी विश्व दृष्टि हो, उच्चकोटि की कलात्मक प्रतिभा हो, तो प्रत्येक पूरे इतिहास में आधुनिक युग आँखें खोलकर आगे बढ़ता हुआ, उसे नजर आयेगा। किन्तु इसके लिए वैज्ञानिक यथार्थवाद की समझ जरूरी होती है। जिसके पास वैज्ञानिक यथार्थवादी कला नहीं है, विश्व-दृष्टि नहीं है, तो आधुनिक युग एक अन्धायुग ही दिखाई देगा, और कुछ दिखाई

दे भी तो कैसे ?

अन्तर्जगत और वहिर्जगत के अन्त:सम्बन्धों पर मुक्तिवोध के थीसिस का उल्लेख किए विना यह प्रसंग अधूरा ही रहेगा। अपने 'कलात्मक अनुभव' शीर्षक निवन्ध में वे कहते हैं :—"इस मनोमय जीवन में वाह्य की सामग्री है, वाह्य के तत्व हैं। तो क्या अन्तर के तत्व हैं ही नहीं ? अवश्य हैं !! लेकिन वस्तुत: वे उसकी आभ्यन्तर शक्तियाँ हैं—संवेदना, बोधशक्ति, कल्पना और इच्छाएँ, ये उसकी अन्तर की चेतना के अंगभूत हैं। इन सभी शक्तियों या प्रवृत्तियों का वाह्य से जव सम्मिलन होता है, तव वह प्रक्रिया शुरू होती है जिसे मैं वाह्य का आभ्यन्तरीकरण कहता हूँ !! वह शुरू से ही जीवन-जगत का आभ्यन्तरीकरण करता आया है। इस आभ्यन्तरीकरण के दौरान में ही, वह वाह्य से शिक्षा तथा संस्कार भी प्राप्त करता है, साथ ही वह अपनी प्रवृत्ति के अनुसार जीवन-जगत से प्राप्त मानवीय मूल्यों द्वारा उसी जीवन-जगत की आलोचना भी करता है। आत्मालोचन भी करता है। यदि उसके संस्कार बुरे हैं तो निश्चय ही उसकी मूल्य-दृष्टि भी विकृत होगी"।[४] मुक्तिवोध के थीसिस का सारांश यह है कि कलाकार अन्तर्जगत की आभ्यन्तर शक्तियों (संवेदन, बोधशक्ति, कल्पना और इच्छाओं) द्वारा अपने वहिर्जगत की ही पुनरंचना करता है। इसी निवन्ध में मुक्तिवोध 'निज-वद्धता' की स्थिति से उवरने की स्थिति को कलात्मक अनुभव की पूर्व स्थिति वताते हैं। यह निज-वद्धता से मुक्त होने के पूर्व स्थिति ही प्रतिवद्धता की स्थिति के सबसे ज्यादा समीप होती है।

पाँच

निज-वद्धता, मुक्त-दशा, रसदशा और प्रतिबद्धता

शायद अपने ढंग से प्रतिवद्धता की इस भूमिका को ही मुक्तिबोध निजवद्धता से उवरने की स्थिति मानते हैं और आचार्य शुक्ल अपने ढंग से इसी स्थिति को मुक्त-दशा का नाम देते हैं। मुक्त-दशा ही शुक्ल जी के अनुसार रस-दशा हो जाती है। ('हृदय की मुक्ति-दशा का नाम रस-दशा है।') मुक्तिवोध भी निज-वद्धता से उवरने के वाद की स्थिति को कलात्मक अनुभव की स्थिति मानते हैं। शुक्ल और मुक्तिवोध दूसरे शब्दों में व्यक्तिगत राग, द्वेष, स्वार्थ, अहंकार, लोलुपता, आत्मरति आदि से मुक्त होने की स्थिति को क्रमशः मुक्त-दशा और निज-वद्धता से उवरने की स्थिति मानते है। मैं इसे अपने शब्दों में यूँ कहूँगा कि 'व्यक्तिवाद' से उवरने की स्थिति, व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों से मुक्त होने की स्थिति ही मुक्तिवोध के शब्दों में निज-वद्धता से उवरने या मुक्त-दशा को प्राप्त करने की स्थिति है। 'हृदय की यह मुक्त-दशा ही रस-दशा कहलाती है।' व्यक्तिवाद से मुक्त होकर समाजवाद के प्रति ग्रहणशील होने की स्थिति 'प्रतिवद्धता' की स्थिति कहलाती है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि प्रतिवद्धता के क्षण कलात्मक अनुभवोंया रसात्मक अनुभवों के सर्वाधिक निकट होते हैं।

प्रतिवद्धता, वीज भाव और साधारणीकरण

शुक्ल जी ने 'लोग मंगल की साधनावस्था' शीर्षक अपने महत्वपूर्ण निवन्ध में जिस 'वीज-भाव' का उल्लेख किया है, उसकी संकल्पना भी प्रतिवद्धता की

बीज भाव की यह स्थिति प्रतिवद्धता के संकल्प के बिना नितान्त असंभव है। प्रतिवद्धता का यह संकल्प 'साहित्येतर' नहीं हो जाता, जैसा कि प्रतिक्रियावादी लेखक अक्सर कहा करते हैं। यह संकल्प नितांत साहित्यधर्मी होता है, क्योंकि रसदशा और साधारणीकरण के वह सर्वथा उपयुक्त होता है। जयशंकर प्रसाद ने भी साहित्य के मूल प्रयोजन के रूप में जिस 'संकल्पनात्मक अनुभूति' की चर्चा की है उसका यदि साहित्यिक (धार्मिक नहीं) और सामाजिक विश्लेषण किया जाय तो वह भी प्रतिवद्धता की अनुभूति से काफी मेल खाती है। यह शायद संयोग नहीं है कि 'संकल्पात्मक अनुभूति' को साहित्य का मूल प्रयोजन मानने वाले साहित्यकार ने शायद हिन्दी आलोचना में सबसे पहले एक निबन्ध लिखकर 'यथार्थवाद' की चर्चा की थी (देखें 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' शीर्षक पुस्तक में 'यथार्थवाद और छायावाद' शीर्षक निबन्ध)। इतना ही नहीं, अपनी इस देश-काल-संभव यथार्थवादी समझ को प्रसाद जी ने रचना में भी उतारने की कोशिश की थी। 'तितली' और 'कंकाल' जैसे उपन्यास और 'वेड़ी' और 'गूदड़ी का लाल' जैसी कहानियाँ इसका प्रमाण हैं।

सम्प्रेषण, प्रतिवद्धता, संवेदना और उत्तेजना

भाव को सम्प्रेषणीय होने के लिए यह आवश्यक है कि वह संवेदनात्मक हो अथवा उत्तेजनात्मक। भाव जब उत्तेजनात्मक होते हैं तो वे दैहिक प्रतिवर्त (physiological reflex) के अधिक निकट हो जाते हैं किन्तु जब वे संवेदनात्मक होते हैं तो मानसिक प्रतिवर्त (psychological reflex) के अधिक निकट हो जाते हैं। मानसिक प्रतिवर्त भी एक प्रकार से दैहिक प्रतिवर्तों के ही विकसित, जटिल और गुणात्मक रूप से परिवर्तित परिणाम ही होते हैं। कला या साहित्य सृजन के स्रोत ये विकसित, जटिल और गुणात्मक रूप से विकसित मानसिक प्रतिवर्त ही होते हैं। अतः मानसिक प्रतिवर्त ही कलात्मक होते हैं। प्रतिबद्धता की मनःस्थिति संवेदनाओं के अत्यधिक निकट होती है, उत्तेजनाओं से दूर होती है। संवेदनाओं के निकट होने से वह मानसिक प्रतिवर्तों से अपना रिश्ता बनाये रखती है, अतः वह अधिक कलात्मक होती है। दूसरे शब्दों में प्रतिबद्ध साहित्य कलात्मक सम्प्रेषणीयता के सर्वथा उपयुक्त होता है। प्रतिवद्धता की अनुभूति उत्तेजना की बजाय संवेदना के अधिक निकट क्यों होती है? क्योंकि उत्तेजना के मूल में 'आत्मरति' होती है जबकि संवेदना के मूल में मानवीय सहानुभूति होती है। गैर-प्रतिबद्ध साहित्य के आत्मरतिपरक होने की संभावनाएँ ज्यादा हैं; प्रतिबद्ध साहित्य के आत्मरतिपरक होने की संभावनाएं लगभग नगण्य हैं। आत्मरति उत्तेजना जगा सकती है, अधिक से अधिक आत्मदया (self-pity) जगा सकती है, वह हमें आत्ममुग्धता का मूड दे सकती है किन्तु संवेदना जगा कर हमें अधिक कलात्मक बनाने की क्षमता उसमें है, लेकिन बहुत कम, लगभग नगण्य। यही कारण है कि गैर-प्रतिबद्ध व्यक्तिवादी कलाकार जब मानवीय संवेदना नहीं जगा पाते तो अपनी कला को 'गैर-कलात्मक ढंग से' सम्प्रेषणीय बनाने के लिए 'सेक्स-उत्तेजना' और अन्य प्रकार की 'उत्तेजनाओं' का इस्तेमाल करते हैं। कभी-कभी इस गलती के शिकार प्रगतिशील लेखक भी हो जाते हैं। कमलेश्वर की 'मांस का दरिया' शीर्षक कहानी में शोषिता वेश्या के प्रति उत्तेजनापरक दृष्टि कला को क्षयग्रस्त बना देती है। यदि इस कहानी में गैर-उत्तेजनात्मक ढंग से मानवीय संवदना को उभारने की कोशिश की जाती तो वह

हमारी हिन्दी कहानी कला के उत्कर्ष का चरम बिन्दु हो सकती थी। भारतीय काव्य शास्त्र में शायद इसी स्थिति को रसाभास की स्थिति (रस कोटि की अधम अवस्था) कहा गया है। जो कलाकार सामाजिक यथार्थ से मुंह-दर-मुंह नहीं हो पाते, वे सच्ची सामाजिक संवेदना (संवेदना हमेशा सामाजिक ही होती है) नहीं जगा पाते। वे प्रायः उत्तेजना के स्तर की ही रस-निष्पत्ति कर पाते हैं। शायद यही कारण है कि अमरीका (यू एस ए) और पश्चिमी यूरोप का आधुनिक साहित्य, उनकी फिल्में, उनकी पत्रिकाएँ सेक्स स्कैण्डल, हत्या-स्कैण्डल जैसे उत्तेजनात्मक विवरणों से भरी होती हैं, जबकि समाजवादी देशों का साहित्य उत्तेजना के छिछले, सस्ते और बाजारू प्रसंगों के समावेश से 'सरस' और 'सम्प्रेष्य' होने की बजाय गहरी और व्यापक संवेदना जगाने वाले मार्मिक, सामाजिक और मानवीय प्रसंगों के समावेश से ही कलात्मक उत्कर्ष को छूती हुई सरस, सम्प्रेष्य और संकल्पधर्मी होती है।

प्रतिबद्धता, जागरूकता और ईमानदारी

क्योंकि प्रतिबद्धता की भूमिका वैज्ञानिक यथार्थवाद को समझने, आत्मसात करने और उसे कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करने में निहित है, अतः यह मानवीय जागरूकता (human consciousness) की सबसे बेहतर भूमिका है। इतना ही नहीं, मानव के बहुमत के सुन्दर भविष्य के प्रति समर्पित होने के कारण वह मानवीय ईमानदारी (human consciousness) की भी सबसे ज्यादा बेहतरीन भूमिका के निकट है (सम्पत्ति विहीन मेहनतकश वर्ग ही संसार में मानव जाति का बहुमत वर्ग है)।

प्रतिबद्धता (वैज्ञानिक यथार्थवाद) की त्रिआयामी भूमिका

प्रतिबद्धता (वैज्ञानिक यथार्थवाद) सामाजिक यथार्थ की द्वन्द्वात्मक प्रक्रियाओं (यानी उनकी क्रिया-प्रतिक्रियाओं, अन्तःसम्बन्धों और अन्तर्विरोधों) को समझने, सुलझाने, आत्मसात करने और उन्हें कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करने में तो सहायक होती ही है, साथ ही वह उन प्रक्रियाओं के ऐतिहासिक (भूत-वर्तमान-भविष्य) पहलुओं को समझने, सुलझाने, आत्मसात करने और कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करने में भी सहायक होती है। द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक भौतिकवाद की खोज से पूर्व इतिहास की एक-आयामी (अतीत-मुखी) संकल्पना ही मानव समझा जाता था। वह इतिहास को समझने का अर्थ यही समझता था कि मात्र अतीत (Past) को ही जान लिया जाये। किन्तु द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक भौतिकवाद (मार्क्सवाद) ने इतिहास की त्रिआयामी (भूत-वर्तमान-भविष्य) व्याख्या प्रस्तुत की। चूंकि वैज्ञानिक यथार्थवाद की खोज द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक भौतिकवाद की ही कलात्मक परिणति के रूप में हमें हासिल हुई है अतः वह भी सामाजिक यथार्थ की त्रिआयामी दृष्टि से लैस होती है। वैज्ञानिक यथार्थवादी भूमिका ही प्रतिबद्धता की भूमिका है। अतः प्रतिबद्ध कलाकार की दृष्टि पुराने यथार्थवादियों की तरह (या दूसरे यथातथ्यवादियों की तरह) केवल वर्तमान की आलोचना-प्रत्यालोचना तक ही संकुचित और सीमित नहीं रहती, वह अतीत का मित्र और ऐतिहासिक घटित तथ्यों के रूपों में—तथा भविष्य का—स्वप्न और पहेली के रूपों में—भी साक्षात्कार करती है। तुलसीदास के शब्दों को उधार लेकर कहें तो कह सकते हैं कि प्रतिबद्ध कलाकार त्रिकालज्ञ होता है और जिन की संकल्पना (एक बेर की तरह नहीं) पारदर्शी माणिक (transparent

crystal) की तरह उसकी हथेली पर रखी होती है (तुम त्रिकालज्ञ मुनि नाथा, विश्ववदर जिमि तुम्हरे हाथा)।

गोर्की के उपन्यास 'माँ' का मुख्यपात्र पावेल एक ऐसे रूसी युवक का चित्रण करता है जो भूत, वर्तमान और भविष्य के बीच के क्रमिक और क्रान्तिकारी सम्बन्धों के प्रति जागरूक, ईमानदार और सक्रिय दृष्टिकोण अपनाता है। इस अर्थ में वह भावी युग के भावी मानव का पूर्व-रूप (protype) है। गोर्की, भविष्य की इस पूर्वकल्पना को तीसरी वास्तविकता (third reality)[७] कह कर पुकारते हैं। हिन्दी में मुक्तिबोध और हरिशंकर परसाई के साहित्य में इस 'तीसरी वास्तविकता' के फ्लैशेज (flashes) चमक-चमक उठते हैं। 'अंधेरे में' कविता में सामाजिक यथार्थ के इस तीसरे स्वरूप की कल्पना की गई है; उस भावी यथार्थ की, जिसकी अन्तर्वस्तु (essence) तो जन्म ले चुकी है किन्तु जिसका पूर्ण स्वरूप आगे चल कर स्पष्ट होगा :

"मैं उन स्वप्नों का खोजता हूँ आशय
अर्थों की वेदना घिरती है मन में
अजीव झमेला
घूमता है मन उन अर्थों के आस-पास
आत्मा में चमकीली प्यास भर गई है
जग भर दीखती हैं सुनहरी तस्वीरें मुझको"[८]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक यथार्थवाद सामाजिक यथार्थ के द्वन्द्वात्मक, ऐतिहासिक गत्यात्मक विकासात्मक और परिमाणात्मक तथा गुणात्मक रूपों में परिवर्तित होते हुए भूत, वर्तमान और भावी स्वरूपों तथा उनकी अन्तर्वस्तुओं, उसकी स्थानीय (local) और विश्वजनीन (universal) क्रिया-प्रतिक्रियाओं की कलात्मक पुनरर्चना में निर्णायक और सकारात्मक भूमिका अदा करता है। उसका विकास यूनानी ग्रीक त्रासदियों की यथार्थपरक प्रवृत्तियों से लेकर शेक्सपियर की त्रासदियों, फिर बाल्जाक और गेटे की कृतियों से गुजरता है। रूस में वह पुश्किन, गोगोल, तुर्गनेव, दास्तोयेव्स्की, टॉलस्टॉय, चेखव की कृतियों में विकसित, परिवर्द्धित और परिवर्तित होता हुआ गोर्की और मायकोव्स्की की कृतियों में गुणात्मक रूप से अन्तरित होता हुआ अपने वर्तमान विकास की मंजिल को छू लेता है। वह अपने हर विकास की मन्जिल में सापेक्ष रूप से विकसित होता है, वह निरपेक्ष रूप से सर्व-देश-काल-सम्भव, सनातन और शाश्वत नहीं होता। आने वाली शताब्दियों में उसका स्वरूप और अधिक विकसित, और अधिक वैज्ञानिक तथा और अधिक कलात्मक होता रहेगा। उसका उज्ज्वलतम गौरव उसका अतीत न होकर उसका भविष्य ही होगा।

छः

वैज्ञानिक यथार्थवाद का हिन्दी साहित्य में विकास

हिन्दी साहित्य की यथार्थवादी परम्पराओं के वीज कवीर और तुलसीदास के साहित्य में विखरे पड़े हैं। आधुनिक रूप में पहले यथार्थवादी लेखक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र है जो अपने युग के सामाजिक यथार्थ से मुंह-दर-मुंह होते हैं। उनके

'अंधेर नगरी' और 'भारत दुर्दशा' हिन्दी के प्रारम्भिक यथार्थवादी नाटक हैं। 'अंधेर नगरी' से लेकर 'अँधेरे में' (मुक्तिबोध) तक की साहित्य-परम्परा यथार्थवाद से वैज्ञानिक यथार्थवाद के विकास की सूचक है।

भारतेन्दु के बाद जयशंकर प्रसाद दूसरे महत्त्वपूर्ण यथार्थवादी लेखक हैं। 'तितली' और 'कंकाल' जैसे उनके सशक्त उपन्यास हिन्दी में यथार्थवादी उपन्यास लेखन की शुरुआत करते हैं। उनकी 'बेड़ी' और 'गूदड़ी का लाल' जैसी कहानियाँ यथार्थवादी कहानियों की स्वस्थ परम्परा का सूत्रपात करती हैं। 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' में प्रसाद जी ने यथार्थवाद की चर्चा की है और हिन्दी में भारतेन्दु को पहला यथार्थवादी लेखक माना है।

प्रेमचन्द यथार्थवादी साहित्य के गौरव हैं। उनका 'गोदान' शीर्षक उपन्यास हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। 'कफन' और 'पूस की रात' जैसी उनकी कहानियाँ हिन्दी की प्रारम्भिक और श्रेष्ठ कहानियाँ हैं। प्रेमचन्द आदर्शवाद से यथार्थवाद और यथार्थवाद से वैज्ञानिक यथार्थवाद की ओर अग्रसर होने वाले हिन्दी के पहले साहित्यकार हैं।

प्रेमचन्द के अतिरिक्त राहुल सांकृत्यायन, रांगेय राघव और यशपाल हिन्दी के महानतम कथाकारों में से हैं। 'वोल्गा से गंगा' (राहुल), 'महागाथा' (रांगेय राघव) और 'झूठा सच' (यशपाल) आदि कृतियाँ 'गोदान' के बाद हिन्दी कथा साहित्य की सार्थक उपलब्धियाँ हैं।

निराला, नागार्जुन, भीष्म साहनी, भैरवप्रसाद गुप्त, अमरकान्त, मार्कण्डेय, शेखर जोशी, ज्ञानरंजन, रवीन्द्र कालिया, सतीश जमाली, इसराइल, काशीनाथ सिंह, रमेश उपाध्याय, योगेश गुप्त, स्वयंप्रकाश, पंकज बिष्ट, असगर वजाहत, नमिता सिंह आदि कथाकारों की उज्जवल परम्परा वैज्ञानिक यथार्थवादी कथा साहित्य की ही प्रतिनिधि प्रतिभाओं के विकास की लड़ी है।

'गोदान', 'वोल्गा से गंगा', 'महागाथा', 'झूठा सच', 'तमस' आदि रचनाएँ विश्व के किसी भी कथा-साहित्य का गौरव हो सकती हैं। भैरवप्रसाद गुप्त की 'श्रम' शीर्षक कहानी मौजूदा सामाजिक व्यवस्था (पूंजीवादी व्यवस्था) में अमानवीय 'श्रम' के भयावह परिणामों का अहसास कराने वाली एक श्रेष्ठ कहानी है। मार्कण्डेय की 'बीच के लोग' वर्ग-सहयोग के अनैतिहासिक पाखंड पर चोट करने वाली एक सार्थक कहानी है। अमरकान्त की 'कम्युनिस्ट' कहानी वर्ग-चेतना के अत्यन्त कलात्मक और पारदर्शी क्रिस्टल के रूप में हिन्दी कथा-साहित्य की एक विशिष्ट उपलब्धि है। शेखर जोशी का 'मेन्टल' एक महत्वपूर्ण कहानी है जो निम्नमध्य वर्ग के स्वाभिमान और सहनशीलता का द्वन्द्वात्मक चित्र प्रस्तुत करती हुई शोषक वर्ग की हृदयहीनता (callousness) को रेखांकित करती है। ज्ञानरंजन की 'घण्टा' शीर्षक कहानी मध्यमवर्गीय बुद्धिजीविता और छद्म-बौद्धिक मूल्यों की विडम्बना को उभारती हुई उन पर एक साथ व्यंग्यात्मक, और आत्मालोचनात्मक टिप्पणी करने वाली एक सशक्त कहानी है। नीरज सिंह की 'किस लिए, किसके लिए' कहानी सामाजिक भ्रष्टाचार और बेरोजगारी के भयावह यथार्थ को चित्रित करती है। इसराइल की 'कहानी फिर उसी कहानी की' ह्रासोन्मुख व्यवस्था के बहुरंगी चरित्र का आँखोंदेखा हाल, बयान करती है। मधुकर सिंह की 'मुनेसर मास्टर' कहानी अर्ध-सामंती और पूँजीवादी व्यवस्था के पोषित ढाँचों की कुरूपताओं के प्रति हमें आगाह करती है। स्वयंप्रकाश की

'सूरज कब निकलेगा' शीर्षक कहानी प्रतीक शैली द्वारा समाजवादी भविष्य के सूर्योदय की ओर, अपने पाठकों का ध्यान ले जाती है। प्रेमचन्द की 'पूस की रात' और 'कफन' शीर्षक कहानियों तथा जयशंकर प्रसाद की 'वेड़ी' और 'गूदड़ी का लाल' शीर्षक कहानियों की परम्परा में हिन्दी की ये समकालीन कहानियाँ यथार्थवादी कला के विकास की ही परिचायक हैं। प्रतिबद्ध विश्वदृष्टि रचना को किस प्रकार विकासोन्मुख बनाती है, ह्रासोन्मुख होने से बचाती है और कला को उत्कर्ष प्रदान करती है, इन रचनाकारों के साहित्य को पढ़कर यह आसानी से समझा जा सकता है। यह संयोग मात्र नहीं है कि ये सभी कथाकार हिन्दी कथा साहित्य की उज्ज्वलतम संभावनाओं के साक्षी हैं, प्रतिबद्ध भी हैं और श्रेष्ठ भी। प्रतिबद्धता और कलात्मक श्रेष्ठता में कोई अन्तर्विरोध नहीं है, वैज्ञानिक यथार्थवादी दृष्टि से लिखी गई ये रचनाएँ इसी तथ्य को रेखांकित करती हैं।

कविता के क्षेत्र में भारतेन्दु, निराला, नागार्जुन, शमेशर, केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध, त्रिलोचन, राजीव सक्सेना, धूमिल, कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह, श्रीराम तिवारी, जुगमन्दिर तायल, विजेन्द्र, वेग गोपाल, कुमार विकल, रमेश गौड़, श्री हर्ष, सत्यसाची, चंचल चौहान, मंगलेश, विश्वनाथ त्रिपाठी, विष्णु चन्द्र शर्मा, पंकज सिंह, इब्बार रब्बी, श्याम कश्यप, शशि प्रकाश, केवल गोस्वामी आदि की काविताएँ यथार्थवाद से वैज्ञानिक यथार्थ की ओर अभिमुख होती हुई हिन्दी कविता की विकासोन्मुख दिशा का संकेत करती हैं। समकालीन रचनाओं में राजीव सक्सेना की 'मुक्तिगीत' कविता मानव के ऐतिहासिक भौतिकवादी विकास का इतिहास प्रस्तुत करने वाली एक कलात्मक संरचना है। राजीव सक्सेना की ही 'आत्मनिर्वासन' कविता द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन की कविता में पुनर्रचना द्वारा चरितार्थ करती हुई, पाठकों को नये कवि की नई दृष्टि का साक्षात्कार कराती है। कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह की वियतनाम सम्बन्धी कविताएँ हिन्दी में वैज्ञानिक यथार्थवादी काव्य की परम्परा में विश्व-राजनीति और विश्व-कविता की पारदर्शियाँ हैं।

शमशेर यद्यपि पुरानी पीढ़ी के रचनाकार हैं किन्तु 'अमन का राग', 'अंगोला' जैसी कविताओं की रचना कर उन्होंने नई पीढ़ी के नये हस्ताक्षरों का दिशा-निर्देशन भी किया है। इन सभी रचनाओं द्वारा पुनः इस तथ्य की पुष्टि होती है कि रचना और विचारधारा के अन्तःसम्बन्ध जितने आदिम हैं उतने ही अद्यतन भी।

आलोचना के क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० रामविलास शर्मा, डॉ० शिवदान सिंह चौहान, भगवत शरण उपाध्याय, प्रकाशचन्द्र गुप्त, अमृत राय, मुक्तिबोध, डॉ० नामवर सिंह, डॉ० रमेश कुन्तल मेघ, डॉ० शिवकुमार मिश्र, श्री राजीव सक्सेना, डॉ० विश्वनाथ त्रिपाठी, डॉ० ओम-प्रकाश अग्रवाल, चन्द्रभूषण तिवारी, सव्यसाची, चंचल चौहान, डॉ० प्रेमपति, सुधीर पचौरी, डॉ० कमला प्रसाद पांडेय, कर्ण सिंह चौहान, डॉ० मैनेजर पांडेय आदि आलोचक—समीक्षक यथार्थवादी और प्रगतिशील परम्परा से जुड़े आलोचक-समीक्षक हैं। कुछ सीमाओं के बावजूद डॉ० नामवर सिंह को इस सूची से वहिष्कृत नहीं किया जा सकता।

गजानन्द माधव मुक्तिबोध और हरिशंकर परसाई का विशेषोल्लेख किये

चित्र का मेरा अधूरा ही रहेगा। प्रतिबद्ध कला का चरमोत्कर्ष यदि देखना है तो समकालीन साहित्य के प्रत्येक पाठक को इन दोनों साहित्यकारों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करना होगा। दोनों कलाकारों का तुलनात्मक अध्ययन हमें इस निष्कर्ष तक पहुँचाता है कि प्रतिबद्ध साहित्य किसी विशेष शैली, किसी विशेष कथा-विधा या किसी विशेष शिल्प-विधि तक सीमित नहीं है। वह क्लिष्ट से क्लिष्ट और सरल से सरल होकर भी अपनी कलात्मकता और प्रभावोत्पादकता के नये से नये आयाम ढूँढ लेता है। मुक्तिबोध और परसाई दोनों प्रतिबद्ध साहित्यकार हैं किन्तु दोनों की कला-विधियों में जमीन और आसमान का अन्तर है। कला, स्टाइल और अभिव्यक्ति की दृष्टि से परसाई मुक्तिबोध के एंटीथीसिस हैं। मुक्तिबोध अनुभूतियों को जटिल बनाते हुए मस्तिष्क और हृदय की शिराओं में तनाव भर देते हैं, हमें संगीन रूप से गम्भीर मनःस्थिति में ले आते हैं और इस पद्धति द्वारा पाठक को शॉक-ट्रीटमेंट (shock treatment) देते हुए उसकी मानसिक रुग्णता का इलाज करते हैं। दूसरी ओर परसाई जी ठीक इसके उलट जटिल अनुभूतियों का सहजीकरण करते हुए मस्तिष्क और हृदय की शिराओं को तनाव से मुक्त कर देते हैं और हमें हँसाते और सहज मनःस्थिति में ले आते हैं। किन्तु दोनों साहित्यकार अपने प्रभाव में और अपने प्रत्यायन (persuasion) में आश्चर्यजनक रूप से एक ही लक्ष्य की पूर्ति में सफल होते हैं। वह लक्ष्य है—अपने पाठकों को अपने परिवेश के प्रति उत्तरोत्तर अधिक जागरूक (conscious) और अधिक ईमानदार (conscientious) बनाते चलना। दोनों साहित्यकार 'आँख मिचौनी' खेलने वाले 'साहित्य' के विरुद्ध 'आँखें खोल देने वाले साहित्य' के स्रष्टा और पक्षधर हैं। मुक्तिबोध असाधारण गाम्भीर्य के रचनाकार हैं तो परसाई सहज व्यंग्य के।

मुक्तिबोध बहुमुखी विधाओं के प्रतिबद्ध रचनाकार हैं। 'चाँद का मुख टेढ़ा है' शीर्षक कविता संकलन विश्व-प्रतिबद्ध कविता के सर्वश्रेष्ठ संकलनों में गिना जा सकता है। उनकी कहानियाँ ('सतह से उठता हुआ आदमी', 'काठ का सपना' आदि कहानी संग्रहों में संग्रहीत) प्रतिबद्ध कथा साहित्य की श्रेष्ठ मिसाल हैं। 'कामायनी: एक पुनर्विचार', 'नई कविता का आत्मसंघर्ष' और 'नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' आदि पुस्तकें उन्हें एक आदर्श मार्क्सवादी चिन्तक और आलोचक के रूप में प्रतिष्ठित करती हैं। जयशंकर प्रसाद के बाद हिन्दी में बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न इतना बड़ा कोई दूसरा कलाकार नहीं हुआ। उनके द्वारा हिन्दी कविता, हिन्दी कहानी और हिन्दी की व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक आलोचना में गुणात्मक बदलाव आया। हिन्दी प्रगतिशील साहित्य एक सरलीकृत लीक से हट कर उत्कर्ष के नये-नये आयाम ढूँढ पाया है तो इसके लिए अकेले मुक्तिबोध का योगदान कई साहित्यकारों के योगदान के बराबर है। दूसरी ओर हरिशंकर परसाई ने हिन्दी साहित्य की एक बहुत निर्धन विधा—'व्यंग्य' को सम्पन्न विधा का स्वरूप प्रदान किया है। वे हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ और महानतम व्यंग्यकार हैं। उन्होंने हिन्दी के पाठकों की रुचि को, चेतना को एक गुणात्मक मंजिल तक विकसित करने में विशेष योगदान किया है। 'जैसे उनके दिन फिरे', 'हँसते हैं, रोते हैं', 'तब की बात' (कथा संग्रह), 'तट की खोज', 'ज्वाला और जल' (लघु उपन्यास), 'रानी नागफनी की कहानी' (व्यंग्य उपन्यास), 'भूत के पाँव पीछे' (निबन्ध संग्रह), 'सदाचार का तावीज' (व्यंग्य-लेख), 'वैष्णव

की फिसलन' (राजनैतिक और सामाजिक व्यंग्यों का संग्रह) आदि उनकी कितनी ही कृतियाँ हैं जो इस तथ्य की परिचायक हैं कि उन्होंने परिमाण और गुण दोनों दृष्टियों से महान् रचनाकार के दायित्व की पूर्ति की है। मुक्तिबोध की कहानियों की ही तरह परसाई की कहानियाँ अपनी विशेषताओं के कारण अलग-पहचान रखती हैं। वे विधा की मिथक-सीमाओं और रूढ़ियों को तोड़ती हुई नये-नये सृजनशील प्रयोगों के अन्वेषण का रास्ता अपनाती हैं। इन दोनों रचनाकारों ने कहानी विधा को दुर्लम्यता (rigidity) से मुक्त कर उसे सहज, विविधात्मक और लचीला (flexible) बनाने में महत्वपूर्ण योगदान किया है। ये कहानियाँ कविता-निबन्ध-कहानी के त्रिभुज में बीच के किसी सम्मिलन (concurrent) बिन्दु पर अवस्थित होती हैं तथा अपने में तीनों विधाओं का समाहार लिये होती हैं। पंचतन्त्र की कहानियाँ या ईसप की कहानियों की ही तरह परसाई की व्यंग्य कथाएँ अपने युग के व्यापक गहन और विविध पक्षीय सामाजिक यथार्थ का इतिहास प्रस्तुत करती हैं और उन्हीं की तरह वे भावी युगों में आख्यानों (legends) का रूप ले लेंगी। जन साहित्य और लोक साहित्य का सबसे अच्छा आधुनिक उदाहरण हरिशंकर परसाई की व्यंग्य-कथाएँ ही हैं। विचारधारा और रचना के, सामाजिक चेतना और सौंदर्य चेतना के, रचनाशीलता और मूल्यधर्मिता के अन्तःसम्बन्धों और अन्तर्विरोधों को पार-दर्शित करने वाले माणिभों (transparent crystals) के रूप में उनकी व्यंग्य-कथाएँ इस सत्य का शंखनाद करती हैं कि वैज्ञानिक यथार्थवादी दृष्टि से सम्पन्न होकर जाने वाली साहित्य सर्जना ही कला का पारदर्शी (transparent) क्रिष्टल बन पाती है। अप्रतिवद्ध कला लाख किस्म की कलाबाजियों के बावजूद पारभासक (translucent) बनी रहती है, पारदर्शी (transparent) नहीं हो पाती।

सन्दर्भ

1. V. Mayakovsky, Collected Works, Vol. 7, Moscow 1958 p. 269 (in Russian) [Quoted by VLADIMIR SHCHERBINA in his famous book Lenin and Problems of Literature on p. 58—Edition 1974.
2. Maxim Gorky On Literature'; Progress Publishers Moscow, p. 41.
3. Ibid, p. 55.
4. Ibid, p. 56.
5. 'नये साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र, मुक्तिबोध ('कलात्मक अनुभव' शीर्षक निवन्ध) पृष्ठ १५०-१५१ (संस्करण, १९७१)
6. चिन्तामणि, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था' शीर्षक निवन्ध) पृष्ठ २२५ (संस्करण १९५८)।
7. 'Lenin and Problems of Literature' Progress Publishers.,Moscow, p 63.
8. 'चांद का मुंह टेढ़ा है', मुक्तिबोध, ('अंधेरे में' शीर्षक कविता) पृष्ठ २६८, (संस्करण १९७५)।

उस क्षण से जब एक पराधीन वर्ग वास्तव में स्वतन्त्र और शक्तिवान हो जाता है और एक नये प्रकार के राज्य की स्थापना पर बल देता है—तब आवश्यकता पैदा होती है एक नयी बौद्धिक और नैतिक व्यवस्था के निर्माण की, अर्थात् एक नये तरह के समाज की, और इसीलिए आवश्यकता होती है अधिकतम सार्वकालिक अवधारणाओं के प्रतिपादन की, अधिकतम सम्वर्द्धित और निर्णायक वैचारिक अस्त्रों की।

—ग्राम्शी

मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र

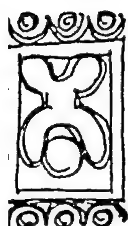
समग्र चिन्तन

खण्ड तीन

'विचारक'

△ चर्नीशेवस्की △ प्लेखनोव △ लूनाचार्स्की △ लुगुन
△ काडवेल △ एलिकवेस्ट △ लुकाच △ हरबर्ट मारकूज





चर्नीशेवस्की यथार्थवाद की विकास प्रक्रिया

—डॉ० प्रेमपति

निकोलाई गार्वीलोविच चर्नीशवस्की सन् १८२८-८६ ई० मार्क्स- पूर्वी वस्तुवाद (भौतिकवाद) के अन्यतम रूसी विचारक थे। युग था जारशाही का। समाज के सामंती उत्पादन सम्बन्धों पर पूँजीवाद का दवाव कारगर हो रहा था, लेकिन पतनशील सामंतवाद कुछेक सामंतोन्मुख सुधार लाकर आखिरी साँसें ले रहा था। एक ओर पूँजीवाद का अभ्युदय और पूँजीवादी उत्पादन संबंधों का जारशाही और सामंतवाद पर दवाव, और दूसरी ओर क्रीमिया युद्ध सन् १८५३-५६ ई० में जारशाही की करारी हार। इस दोहरी मार से बच निकलने के लिये जब सामंतों ने अपने वर्गहित में भूमि सुधार किये तोक्रांतिकारी-गणतांत्रिक माँगें जोर पकड़ने लगीं। समूचे रूस में जन आन्दोलन की एक नई लहर दौड़ पड़ी। सन् १८६१ से १८६३ ई० के बीच लगभग दो हजार किसान उपद्रव देखे गये। यह ठीक है कि किसानों के स्वयंस्फूर्त, विच्छिन्न उपद्रव कामयाव नहीं हो सके, लेकिन इतना अवश्य हुआ कि तत्कालीन क्रांतिकारी-गणतांत्रिक बौद्धिक वर्ग किसानों के इस व्यापक आक्रोश से बहुत कुछ प्रभावित हुआ। लिहाजा रूसी क्रांतिकारी आन्दोलन के इस खास चरण का नेतृत्व इसी बौद्धिक वर्ग के हाथों आया—ऐसे बौद्धिक जो अमीर-उमराव नहीं हुआ करते थे, जो प्रायः पेटी बुर्जुआ व्यापारी और निचले वर्ग के पादरी और किसान हुआ करते थे। सन् १८६१ ई० के आस-पास से रूसी क्रांतिकारी आंदोलन के इतिहास में बुर्जुआ गणतांत्रिक आंदोलन का नया किन्तु जरूरी अध्याय जुड़ गया जो लगभग सन् १८९५ तक चलता रहा। क्रांति के इस स्तर पर प्रगतिशील बौद्धिकों के नेतृत्व में पीटर्सबर्ग, मास्को, कजान आदि केन्द्रों में विद्यार्थी उपद्रव, गुप्त राजनैतिक संगठनों का निर्माण और अवैध साहित्य का वितरण आदि काम संगठित तरीके से होने लग गये।

सन् १८६१ के तथाकथित सुधार से किसानों की स्थिति और खराव हो गई। हुआ यह कि जनसाधारण में भूस्वामियों के भूमि संबंधी अधिकारों को और

साथ-साथ जारशाही को खत्म करने की क्रांतिकारी विचारधारा घर कर गई। लगभग इसी अनुपात में उदारपंथी राजतंत्रवादियों ने किसानों की इस बढ़ती हुई क्रांतिकारी भावना को गुमराह करना चाहा। लेकिन जारशाही और सामंतवाद, और इन दोनों के अनन्य सेवक उदारपंथी राजतंत्रवादियों, के खिलाफ चर्नीशेवस्की ने तथाकथित भूमिसुधार के सामंती चरित्र को बताया और समझाया। क्रांतिकारी गणतांत्रिकों में चर्नीशेवस्की अग्रणी थे। अचरज की बात नहीं थी कि तत्कालीन सामंती और उदारपंथी लोग चर्नीशेवस्की से नफरत करने लग गये थे। वे जार से निवेदन करने लग गये कि इतने खतरनाक व्यक्ति को जल्द से जल्द नजरबन्द कर लिया जाय। उनको इससे काफी बल मिला कि सन् १८५९-६१ की क्रांतिकारी स्थिति क्रांति में विकसित नहीं हो सकी थी। क्रांति कैसे आती? उस समय तक रूस में वैसा सामाजिक वर्ग बन नहीं पाया था जिसमें एक सफल सामाजिक क्रांति लाने की क्षमता रही हो। आमतौर पर चर्नीशेवस्की को छठे दशक के सामाजिक क्रांतिकारी आंदोलन के साथ जोड़ा जाता है। छठे दशक के बाद भी वह जीवित रहे—लेकिन वह दूसरी जिंदगी थी—जेल की, निर्वासन की और यातना की। इस दृष्टि से इस क्रांतिकारी योद्धा का जीवन असाधारण रूप से दुखमय रहा। बचपन और जवानी उन्होंने सन् १८२८-४६ ई० सारातोव में बितायी बाद के पाँच वर्ष सन् १८४६-५० ई० सेंट पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय के इतिहास और दर्शन के निकायों में पढ़ते रहे। स्नातक होने के बाद करीब ढाई वर्ष सन् १८५१-५३ ई० सारातोव के एक जिमनेसियम में पढ़ाने का काम किया। सन् १८५३ ई० में पीटर्सबर्ग में वापस आ बसे और सुविख्यात पत्रिका "सोवरेमेनिक" में लगातार लिखना शुरू किया। कुछ ही समय बाद इसके सम्पादक बना दिये गये। तत्कालीन गणतांत्रिक आंदोलन को इस पत्रिका ने नेतृत्व दिया। उनकी विख्यात साहित्य समीक्षाएँ—रूसी साहित्य के गोगोल युग पर, लेसिंग और पुश्किन पर—इसी पत्रिका में छपीं। 'जुलाई राजतंत्र' शीर्षक क्रांतिकारी लेख इसी में छपा। 'दर्शन में नेतृत्वशास्त्रीय सिद्धान्त' शीर्षक लेख और अंग्रेज दार्शनिक जे० एस० मिल की राजनैतिक अर्थसत्ता पर टिप्पणियाँ इसी में छपीं। चूँकि चर्नीशेवस्की चिंतन और कर्म दोनों ही क्षेत्रों के सेनानी थे, अतः उन्होंने जहाँ दार्शनिक समस्याओं का मूर्त अध्ययन किया, वहाँ संगठनात्मक पहलू पर भी ध्यान दिया। सन् ७० के प्रारम्भ में चर्नीशेवस्की, हर्जन आदि विचारकों ने एक गुप्त राजनैतिक संगठन 'भूमि और स्वातंत्र्य' के निर्माण में सहयोग दिया। चर्नीशेवस्की के सहयोग से सेंट पीटर्सबर्ग में लिटरेरी फण्ड (साहित्य कोश संस्थान—विपन्न लेखकों और वैज्ञानिकों और उनके परिवारों की सहायता के लिये) स्थापित किया गया। सहायता देने के बहाने आयोजकों ने बौद्धिक वर्ग के प्रगतिशील, क्रांतिकारी अंश को संगठित किया। विद्यार्थियों को संगठित करने के लिये इसी किस्म की एक संस्था बनाई गई। चर्नीशेवस्की की कोशिश से साहित्यकारों को संगठित करने के लिये चेस क्लब सन् १८६२ ई० स्थापित किया गया। सिर्फ छः महीने के बाद जारशाही ने इसे बन्द कर दिया। सन् १८६२ ई० में चर्नीशेवस्की गिरफ्तार कर लिये गये और सेंटपीटर एण्ड पॉल किले में बन्द कर दिये गये। वहीं उन्होंने अपना सुप्रसिद्ध उपन्यास, 'व्हाट इज टू बी डन?' लिखा जो कोई पीढ़ियों तक क्रांतिकारियों के लिये पाठ्य पुस्तक जैसा बन गया। उनका दूसरा उपन्यास, "प्रोलोग" भी इसी क्रांतिकारी महत्व

का था। सन् १८६४ ई० में जारशाही ने उन्हें आमरण कारावास की सजा दी। ६१ वर्ष की उम्र में १७ अक्तूबर सन् १८८६ ई० को उनकी मृत्यु हुई।

सामंतविरोधी, क्रान्तिकारी गणतान्त्रिक भूमिका की वजह से आमरण कारावास, साईवेरिया में निर्वासन भोगनेवाले साहित्य शिल्पी और चिन्तक चर्नीशेवस्की का सौन्दर्यशास्त्र क्या होगा? लेनिन के शब्दों में जो व्यक्ति प्रेस नियन्त्रण के समस्त अवरोधों के बावजूद अपनी कृषक क्रान्ति के माध्यम से युग की समस्त राजनैतिक घटनाओं पर अमिट क्रान्तिकारी छाप छोड़ गया है, उसका सौन्दर्यशास्त्र, चाहे जो हो, एकांगी और संकीर्ण नहीं हो सकता है। लेनिन के ही शब्दों में जिस व्यक्ति की विश्वदृष्टि अभिन्न रूप से जुड़ी हुई थी सम्पूर्ण दार्शनिक वस्तुवाद से और जिसने नव-कांतवादियों (निओ-कांटियन), प्रत्यक्षवादियों (पाजटिविस्ट) और मैचवादियों की हर आदर्शवादी बक-झक का जमकर मुकाबिला किया हो, उस क्रांतिकारी गणतान्त्रिक—चर्नीशेवस्की-का सौन्दर्यशास्त्र, चाहे जो हो, न अप्रासंगिक होगा और न वायवी, न अमूर्त और कोरा भावात्मक-आदर्शवादी। जिसने क्रान्तिकारी गणतांत्रिक आचरण की मूर्त आवश्यकताओं के मुताबिक दार्शनिक समस्याओं को समझने-बूझने की कोशिश की हो और जिसने अपने युग के यथार्थ का वैज्ञानिक विश्लेषण किया हो, उसका सौन्दर्यशास्त्र जीवन से अलग नहीं होगा, जीवन को लेकर होगा, फलक उसका उतना ही विस्तृत जितना स्वयं जीवन होगा।

क्रान्तिपूर्व रूस को राष्ट्रीय संस्कृति में दरअसल दो राष्ट्रीय संस्कृतियाँ रहीं: भूस्वामियों और बुर्जुआ को अलग और जनसाधारण की अलग। यदि दो विरोधी हित हों तो दो विरोधी संस्कृतियाँ होंगी ही चाहे क्रान्तिपूर्व रूस की बात हो अथवा क्रांतिपूर्व अन्य किसी देश की बात हो। तत्कालीन समाज का सबसे बड़ा अंतर्विरोध था किसानों और सामंतों के बीच और जो जितना महान् और साहसी चिंतक होगा वह उतने ही बड़े अंतर्विरोध पर अपना सारा ध्यान फोकस करेगा। जब उस युग के निरंकुश सत्ताधारियों ने तथाकथित भूमिसुधार लागू किये तो उनके सामंती चरित्र को समझाने और बताने वाले चिंतकों में चर्नीशेवस्की सबसे आगे थे। अपने कई लेखों में, तथ्यों की मदद से, चर्नीशेवस्की ने किसानों को क्रमशः लूटने की सरकारी नीति का पर्दाफाश किया। और इस प्रक्रिया में उदारपंथियों, जो सामंती भूस्वामियों के जरखरीद गुलाम हुआ करते थे, की घृणित भूमिका का उद्घाटन किया। इस प्रकार चर्नीशेवस्की, हर्जन, दोब्रोल्योबोव जैसे क्रांतिकारी गणतांत्रिक चिंतक और दूसरी ओर तत्कालीन उदारपंथी चिंतक रूस की दो ऐतिहासिक धाराओं के परस्पर विरोधी व्याख्याकार थे; एक धारा थी गणतांत्रिक, समाजवादी, क्रांतिकारी धारा और दूसरी धारा थी बुर्जुआ उदारपंथी। इन क्रांतिकारी-गणतांत्रिकों ने अपने युग की सबसे ज्यादा बुनियादी समस्याओं को लिया और क्रांतिकारी गणतंत्रीकरण के तहत उन्हें हल करना चाहा। जिनका फलक इतना गूढ़ और व्यापक हो वे अर्थनीति, इतिहास, दर्शन आदि से बच कैसे सकते हैं? जारशाही और सामंतवाद के खिलाफ इस सीधे संघर्ष में उन्होंने देखा कि आदर्शवाद और उदारपंथ शोषकों के चिरपरिचित हथियार हैं और वस्तुवाद के सम्यक् विकास में ही शोषितों की मुक्ति संभावना है। उन्नीसवीं सदी के रूसी वस्तुवादियों के दार्शनिक और सौंदर्यात्मक विचारों पर लिखे अपने कई लेखों में (जैसे 'इन मेमरी ऑव हर्जन', 'दि पेजंट रिफार्म एण्ड दि प्रोलीते-

मिलिटेंट रेवल्यूशन', 'कन्सर्निंग वेखी' आदि में) लेनिन ने बताया कि उन्नीसवीं सदी में विशेषकर उत्तरार्द्ध में वस्तुवादी विकास का सीधा सम्बन्ध मुक्ति संग्राम से रहा है।

निकोलाई चर्नीशेवस्की रूसी सोशल डेमोक्रेसी के विलक्षण प्रणयकों में से एक थे और उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में क्रांतिकारी-गणतांत्रिक आन्दोलन के मुख्य प्रेरणा-स्रोत और नेताओं में से थे, लेकिन ऐतिहासिक कारणों से उनका समाजवाद यूटोपियाई समाजवाद था। बावजूद इस यूटोपियाई समाजवाद के लेनिन ने बताया कि चर्नीशेवस्की पूँजीवाद के अत्यन्त प्रखर आलोचक थे। चर्नीशेवस्की ने न केवल यह स्थापित किया कि निरंकुश और सामंती भूस्वामी व्यवस्था क्षयिष्णु है बल्कि यह भी कि विपन्न और पिछड़े रूस की परिस्थितियों में पूँजीवाद श्रमिक वर्ग के हितों के खिलाफ है और बुर्जुआ 'स्वातंत्र्य' की दुहाई देते रहना नितांत भ्रामक है। स्वातंत्र्य के सिलसिले में बुर्जुआ गणतांत्रिकों के बारे में उन्होंने जो कुछ कहा उसकी प्रामाणिकता आज भी गूँजती है।

"मैं इन भले लोगों को कतई नहीं पसन्द नहीं करता हूँ जो स्वातंत्र्य, स्वातंत्र्य का रट्टा लगाये रहते हैं, और स्वातंत्र्य को शब्द के उच्चारण तक और कानून के अन्तर्गत लिख देने तक सीमित कर देते हैं लेकिन जीवन में उसे लागू नहीं करते; सीमित कर देते हैं। असमानता की चर्चा करने वाले कानूनों के खात्मे तक लेकिन उस सामाजिक व्यवस्था को खत्म नहीं करना चाहते हैं जिसकी वजह से देश में नौ लोग गुलाम हैं, सर्वहारा हैं। सवाल यह नहीं है कि जार रहेगा अथवा नहीं, यह भी नहीं कि विधान होगा कि नहीं' सवाल है सामाजिक सम्बन्धों का, सवाल है क्या एक वर्ग दूसरे वर्ग का खून चूसता रहेगा।"

वर्गों से परे 'विशुद्ध विज्ञान', 'विशुद्ध दर्शन', 'विशुद्ध कला' के अस्तित्व तक वह स्वीकारते नहीं थे। अक्सर वे कहा करते थे : "मुझे कितना घिनौना लगता है जब कोई पहल करता है कि वह दृढ़तापूर्वक निष्पक्ष है, किसी दल का नहीं है—यह मुमकिन कैसे है कि कोई व्यक्ति किसी दल का न हो, किसी निकाय का न हो?" बराबर ही वह सैद्धांतिक विवेचन की वर्गवस्तु को उघाड़ कर सामने रखते थे। इसी से वह मार्क्स-पूर्वी दर्शन के इतिहास में पहले चिंतक हैं जिन्होंने रेखांकित किया कि दर्शन राजनीति पर कितनी बुरी तरह से निर्भर है। लेनिन के शब्दों में उनकी कृतियाँ वर्ग संघर्ष की सारवस्तु में साँसें लेती हैं।

आधुनिक मार्क्सवादी दार्शनिकों ने बताया कि चर्नीशेवस्की का दर्शन मार्क्स-पूर्वी वस्तुवाद का एक ऐतिहासिक प्रारूप है और उन्नीसवीं सदी के रूस का सामंतवाद से पूँजीवाद के संक्रमण का, और इस ऐतिहासिक प्रक्रिया की जो उन्नततर विचारधारा है अर्थात् प्रगतिशील सामाजिक विचारधारा का प्रतिनिधि है। इसी धारा का अग्रगामी विकास हुआ, मार्क्सवाद में, किन्तु विकास के भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक चरणों में देखा गया कि मार्क्सवादी वस्तुवाद अनैतिहासिक वस्तुवाद से कितना भिन्न है। दर्शन के इतिहास में द्वन्द्वात्मकता की परम्परा की खोज की जाय तो हम पायेंगे कि यह परम्परा अर्थात् द्वन्द्वात्मक चिंतन, द्वन्द्वात्मक आर्ग्युमेन्ट और कैटेगरी की परम्परा अरस्तू, लिपनित्स, हेगल, हर्जेन, चर्नीशेवस्की आदि विचारकों में विकास के भिन्न-भिन्न चरणों में पायी जाती है। इसमें कोई शक नहीं है कि चर्नीशेवस्की मार्क्सवाद के अग्रदूत हैं गणतांत्रिक क्रांति (सर्वजन : दासप्रथा का विरोध, समाज के गणतंत्रीकरण का अभियान,

जनसाधारण की माली हालत को सुधारने का संघर्ष। वैचारिक मुद्दे : क्रांतिकारी गणतंत्रवाद, तत्कालीन रूस में उपलब्ध विरोधी सामाजिक संबंधों और वर्ग संघर्ष का तीव्र बोध, जनसाधारण की क्षमता में अपार आस्था) समाजवादी क्रांति की अग्रदूत है।

चर्नीशेवस्की के युग में भाववादी आदर्शवादी चिंतन बड़े व्यापक पैमाने पर रूस में छाया हुआ था। इस थोथे चिंतन के खिलाफ उन्होंने वस्तुवाद को विकसित किया (चर्नीशेवस्की के लेख 'यथार्थ और कला के सौंदर्यात्मक सम्बन्ध', 'दर्शन में नृतत्वशास्त्रीय सिद्धांत', 'कारपेंटरकृत एनर्जी इन नेचर की भूमिका और उस पर टिप्पणियां' आदि द्रष्टव्य हैं)। उन्होंने यह स्थापित किया कि प्रत्येक दार्शनिक निकाय किसी वर्ग विशेष के खास स्वार्थ से बंधा होता है। अपनी वस्तुवाद की इस परम्परा में उन्होंने आत्मपरक आदर्शवादी दर्शन की प्रतिक्रियावादी सारवस्तु को पहिचाना और तत्कालीन नव-कांतवादियों का जमकर मुकाबिला किया। इतना ही नहीं, वल्कि प्रत्यक्षवाद और आत्मपरक आदर्शवाद के अन्य रूपांतरों के खिलाफ जमकर मोर्चाबंदी की। लोकोत्तर, अनुभवातीत दर्शन (ट्रेन्सेन्डेंटल) के खिलाफ संघर्ष किया। कांत के अज्ञेयवाद (एगनास्टिज्म) और व्यक्तिवाद के आकलन में वह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के विल्कुल करीव आ गये थे। लेनिन की दृष्टि में चर्नीशेवस्की एंगल्स की तुलना में कुछ ही नीचे पड़ते हैं क्योंकि वह अपनी पारिभाषिक शब्दावली में वस्तुवाद और आदर्शवाद के बीच के विरोध को समझने में गड़बड़ा गये। चर्नीशेवस्की ने वस्तुवाद और आदर्शवाद के विरोध को आधिभौतिकी (मेटाफिजिकल) विचार और द्वन्द्वात्मक चिंतन का विरोध समझ लिया। इसके वावजूद उन्होंने कांत की आलोचना यथार्थवाद की वजह से नहीं वल्कि अज्ञेयवाद और व्यक्तिवाद की वजह से की, "वस्तु अपने आप में" (थिंग इन इटसेलफ) की पहिचान के लिये नहीं वल्कि इस वस्तुपरक स्रोत से ज्ञान पाने की असामर्थ्य के लिये की। अतएव लेनिन का निष्कर्ष था कि कई मौलिक पहलुओं में एंगल्स के बराबर होने के वावजूद चर्नीशेवस्की तत्कालीन रूसी समाज के पिछड़ेपन के कारण द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की ऊँचाई तक पहुँच नहीं पाये। हेगल की द्वन्द्वात्मक विधि को चर्नीशेवस्की ने यथार्थवादी आधार देने की कोशिश की। द्वन्द्वात्मक विधि को सर्वप्रथम विकास देने वाले हेगल में भी द्वन्द्ववाद अपनी सम्पूर्ण सम्भावनाओं को प्राप्त नहीं कर सका क्योंकि हेगलीय निकाय में द्वन्द्वात्मक विधि को वास्तविकता के तहत नहीं, वल्कि कान्सेप्टस (विचारों) के तहत; अतीत पर, न कि वर्तमान और भविष्य पर, लागू किया गया था। चूंकि मार्क्स-पूर्वी वस्तुवादियों (स्पिनोजा, दीदरो, हर्जन, चर्नीशेवस्की आदि) का वस्तुवाद आधिभौतिकी विधि से प्रभारहा, इसलिये वे प्रकृति, समाज और चिंतन के सामान्य विकास को पकड़ने में असमर्थ रहे और अंततः समझ नहीं सके कि विकास का मूलस्रोत और सारवस्तु उपलब्ध है प्रतिकूल तत्वों के संघर्ष और एकता में। इतनी स्पष्ट सीमा के वावजूद मार्क्स-पूर्वी दार्शनिकों में चर्नीशेवस्की ही पहले चिंतक हैं जिन्होंने द्वन्द्वात्मक विधि को यथार्थ की दिशा में विकसित करने की कोशिश की। एक मिसाल लें। सामाजिक सम्वन्धों की प्रक्रिया की गवेषणा में फ्रांसीसी एनूलाईटेनमेंट के चितकों ने पाया कि विशुद्ध हित अथवा स्वार्थ ही मनुष्य के विचार व कर्मों की प्राथमिक प्रेरक शक्ति है। यहाँ तक कि उसी निकाय के चिंतक हॉलवाच की

ट्रक इस प्रकार समाप्त करते हैं।

"कला का कार्य है उस हरेक वस्तु को प्रतिरूपित करना जो मनुष्य को जीवन में महत्वपूर्ण लगती हो।"

लेकिन प्रतिरूपन का यह सौंदर्यात्मक कार्य तभी पूरा नहीं समझा जायेगा जब कलाकार, चेतन अथवा अचेतन रूप से, अपने विचार भी व्यक्त करता हो और तभी, इसी खास वजह से, "कला मनुष्य का नैतिक क्रिया कलाप वन जाती है।" कलाकृति का महत्व उसी अनुपात में आंका जाना चाहिए जिस अनुपात में रचनाकार जीवन की समस्याओं का मुकाबिला करता है और साथ-साथ सुलझाने की कोशिश करता है। इसका हर्गिज आशय यह नहीं होना चाहिए कि कलाकार प्रकृति में जो कुछ सुन्दर है सिर्फ उसे ही प्रतिरूपित करता रहे।

"किसी आकृति को सुन्दरतापूर्वक चित्रित करना अलग वस्तु है और किसी सुन्दर आकृति को चित्रित करना अलग वस्तु है।"

कला की सारवस्तु के रूप में चर्नीशेवस्की का जीवनबोध गतिशील है, द्वन्द्वात्मक है' वह दरअसल जीवन का समूचा संघर्ष है, जीवन जैसे वह वास्तव में है, न कि स्वप्निल सुखों का जीवन।

"उस हरेक वस्तु को प्रतिरूपित करना जो मनुष्य को जीवन में महत्वपूर्ण लगती हो' में शामिल हैं घिनौनी और सुन्दर वे शक्तियाँ जो जीवन को पराजित करती हैं और खड़ा भी करती हैं, मृत्यु और जीवन भी।"

"किसी आकृति को सुन्दरतापूर्वक चित्रित किया गया है" का अर्थ है कि कलाकार ने जो कुछ व्यक्त करना चाहा, उसमें वह सफल रहा। लेकिन यह रूपवाद नहीं है क्योंकि सौंदर्य को 'रूप की पूर्णता' के अर्थ में अथवा 'भाव और विम्व की एकता' के अर्थ में स्वीकारते हुए भी चर्नीशेवस्की रूप की पूर्णता को यथार्थवादी आयाम दे देते हैं : 'रूप की पूर्णता (भाव और रूप की एकता), "ललित कला' के सौंदर्यात्मक अर्थ में, कला की चारित्रिक विशेषता हुआ नहीं करती है। भाव और विम्व की एकता अथवा किसी भाव की परिपूर्ण प्राप्ति के अर्थ में कला—इस पद के व्यापकतम सम्भव अर्थ में—का ध्येय होता है सौंदर्य। हर हुनर (स्किल) का यही लक्ष्य होता है, मनुष्य के तमाम व्यवहार्य क्रियाकलाप का यही लक्ष्य होता है।' हर 'हुनर', हर 'व्यवहार्य क्रियाकलाप' के साथ कला को जोड़कर चर्नीशेवस्की ने रूप और कथ्य की एकता को यथार्थवादी दृष्टि से स्थापित किया। इसी दिशा में, आगे वढ़कर, वह इस प्रक्रिया को जाँचते हैं कि कला किस खास तरीके से यथार्थ को प्रतिरूपित करती है। यथार्थ की व्याख्या गणित अपने तरीके से करता है, यथार्थ की अनेकता को अमूर्त नियमों में वर्गीकृत कर देता है, जबकि कला यथार्थ को विम्वों के माध्यम से प्रतिरूपित करती है।

'सुन्दर एक व्यक्ति है, जीवन्त पहलू है, न कि अमूर्त चिंतन।' विशिष्ट व वस्तु विशेष की सम्पूर्ण सम्पदा को सामान्य पा नहीं सकता है और विना सामान्य को समझे विशिष्ट की अतुल सम्पदा पायी नहीं जा सकती है। चुनांचे 'सुन्दरतापूर्वक चित्रित करने' का आशय है कि विशिष्ट को व्यक्त करना ताकि वह सामान्य महत्व पा सके। वह इसलिए कि कला में विशिष्ट वन जाता है सामान्य और सामान्य प्रगट होता है विशिष्ट में; और विशिष्ट और सामान्य की एकता ही कथ्य और रूप की एकता में व्यक्त होती है और इसी से कला वन जाती है महत्वपूर्ण अनुभूति का अक्षय स्रोत।

चर्नीशेवस्की की दृष्टि में रचना धर्मिता अपने सर्वोच्च स्तर—यथार्थवाद पर तब पहुँचती है जब रचनाकार वास्तविकता को उदात्त मनोवेग और प्रगतिशील विचार से जोड़ता है। और यही बना परवर्ती सोवियत समाजवादी यथार्थवाद का दार्शनिक आधार। यथार्थबोध की व्याख्या करते हुए चर्नीशेवस्की लिखते हैं :

"वास्तविक जीवन से हमारा आशय महज इतना है कि वस्तुपरक संसार की वस्तुओं और प्राणियों के साथ मनुष्य के सम्बन्ध क्या है, इतना ही नहीं बल्कि उसका आन्तरिक जीवन भी है; कभी-कभी मनुष्य अपने सपनों के भरोसे जीवित रहता है—उसके स्वप्न उस हालत में उसके लिये वस्तुपरक अर्थ हासिल कर लेते हैं (किसी निश्चित सीमा तक और किसी निश्चित अवधि तक के लिये); बल्कि अपेक्षाकृत ज्यादा निरन्तर यह देखा जाता है कि कोई-कोई मनुष्य अपनी भावनाओं की दुनियाँ में रहता है—मस्तिष्क की ये दशाएँ भी यदि महत्वपूर्ण बन जायें तो कला में प्रतिरूपित की जाती हैं।"

अपनी प्रतिरोपन (रिप्रोडक्शन) की थ्योरी को चर्नीशेवस्की ने बड़ी स्पष्ट भाषा में व्याख्यायित किया और बताया कि प्राचीन सौन्दर्यशास्त्रियों विशेषकर अरस्तू की अनुकरण (इमीटेशन) थ्योरी से वह कितनी भिन्न है। 'मार्क्सिज्म एण्ड माडर्न आर्ट' पुस्तक में एफ० डी० क्लिंगजेंडर प्रतिरोपन की थ्योरी की बड़ी विशद व्याख्या करते हैं। यथार्थवाद की बाबत चर्नीशेवस्की का आग्रह बहुत साफ था, अर्थात् यथार्थवादी कला मनुष्य को जीवन में जो महत्वपूर्ण लगे उसे प्रतिरूपित और व्याख्यायित करे। इसका मतलब साफ है कि कलाकार अपने खास यथार्थबोध के मामले में स्वतंत्र है। चर्नीशेवस्की की स्थापना के सम्बन्ध में यह कहना गलत नहीं होगा कि वह उस समय फायरबाख से प्रभावित थे जिन्होंने कला की हेगलीय धारणा की आलोचना की थी। फायरबाख के वस्तुवाद की आलोचना मार्क्स और एंगल्स ने की, जो प्रकारान्तर से चर्नीशेवस्की पर भी लागू होती है। इस सम्बन्ध में अपनी 'थीसीस ऑन फायरबाख' में मार्क्स ने लिखा "फायरबाख तक को शामिल करते हुए आज तक के वस्तुवाद का प्रमुख दोष यही रहा कि विषय, यथार्थ, जिसका बोध हम अपनी इन्द्रियानुभूति के माध्यम से करते हैं, को समझा जाता है सिर्फ वस्तु अथवा चिंतन के रूप में; लेकिन ऐंद्रिय मानव सक्रियता, व्यवहार के रूप में नहीं, व्यक्तिपरक तरीके से नहीं।"

मार्क्स की यह आलोचना चर्नीशेवस्की के 'प्रतिरूपन' थ्योरी के मूल्यांकन के लिये काफी महत्वपूर्ण है। फायरबाख की तरह चर्नीशेवस्की यथार्थ को 'मनुष्य' से भिन्न एक अलग क्षेत्र समझते रहे—एक 'विषय' जिसे कलाकार इसीलिये प्रतिबिम्बित करता है ताकि उसका 'मनुष्य' चिन्तन कर सके। लेकिन मार्क्स का तर्क था कि स्वयं मनुष्य जाति यथार्थ का अविच्छेद्य अंग है और हमारा संज्ञान यथार्थ को बदलने की हमारी व्यावहारिक क्रिया का महज प्रतिबिम्बन है। समाज और दुनियाँ को बदलने की इस व्यावहारिक क्रिया में कला भी भागीदार है। किसी शाश्वत अपरिवर्तनशील प्रकृति जिसका 'मनुष्य' चिन्तन करता रहे, को प्रतिरूपित करना तो दूर की बात है, कला दरअसल प्राकृतिक शक्तियों को नियन्त्रित करने के मानव संघर्ष को प्रतिबिम्बित करती है। इस संघर्ष का हिरावल होता है कलाकार क्योंकि अन्य लोगों की अपेक्षा वह अपनी संवेदना की वजह से यथार्थ के नित नये पहलुओं का संधान कर पाता है। 'सौन्दर्य' निरन्तर रूप से एक सा नहीं होता है, नित बदलती

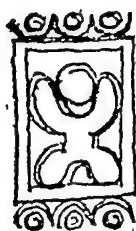
सारवस्तु को खोजना, और फिर खोजना, जरूरी हो जाता है और उसे जनसमूह के समक्ष अभिव्यक्त करना पड़ता है। मार्क्स ने इसे यूं रखा :

"कलाकृति—अन्य किसी उत्पाद के समान—एक ऐसे जनसमूह को तैयार करती है जो उसके (अर्थात् कलाकृति के) अपने विलक्षण सौन्दर्य के प्रति सचेत रहता है और जो उसके (अर्थात् कलाकृति के) आस्वाद की सामर्थ्य रखता है।"

जाहिर है कि फायरबाख का 'आदमी' अमूर्त्त था; लेकिन फायरबाखीय प्रभाव के बावजूद चर्नीशेवस्की में प्रमाण उपलब्ध है कि उनका "आदमी" अमूर्तता का वैसा शिकार नहीं था। सौन्दर्य और जीवन बोध हर युग में और हर वर्ग में एक सा नहीं होता। सुप्रसिद्ध सोवियत आलोचक लूनाचर्स्की के अनुसार चर्नीशेवस्की के ग्रीक त्रासदी सम्बन्धी विचारों में मूर्त 'आदमी' का साक्ष्य उपलब्ध है। चर्नीशेवस्की के युग में रूस में त्रासद बोध का विचार वही था जो प्राचीन युग के सौन्दर्यशास्त्रियों का था। अपने 'काव्यशास्त्र' में अरस्तू ने त्रासदी के बुनियादी विचार की जो व्याख्या की, वह, चर्नीशेवस्की के अनुसार प्राचीन विश्वदृष्टि से भिन्न नहीं है। हेगल और अन्य सौन्दर्यशास्त्रियों ने अरस्तू के त्रासद बोध का ऐतिहासिक अध्ययन नहीं किया। उनकी व्याख्या यूं थी : त्रासदी किसी महान् और महत्वपूर्ण व्यक्ति, किसी विलक्षण व्यक्ति के प्रारब्ध को चित्रित करती है जो अपने त्रासद दोष की वजह से मारा जाता है। यह दोष क्या है? त्रासदी का नायक असाधारण रूप से शक्तिशाली होता है, लेकिन परिवेश के साथ समझौता कर नहीं पाता है। परिवेश के साथ द्वन्द्व अपने जिस दोष की वजह से हो जाता है वह है अहंकार व दर्प जिसे अरस्तू ने ह्यूब्रिस बताया। अपनी विलक्षण शक्ति, उत्कृष्ट सामाजिक स्थान और ओजपूर्ण व्यक्तित्व की वजह से नायक में ह्यूब्रिस का जन्म होता है अर्थात् विलक्षणता में ही विध्वंस के बीज पड़े रहते हैं। नवजात ग्रीक प्रजातन्त्र को ऐसे विलक्षण व्यक्तियों से खतरा था; डर था कि व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा की वजह से जनतन्त्र को खत्म कर देंगे। अत: जब ग्रीक त्रासदी सिर्फ "किसी महान् और महत्वपूर्ण व्यक्ति, किसी विलक्षण व्यक्ति" को चित्रित करना चाहती है तो वह युगीन विश्वदृष्टि से स्वतन्त्र नहीं है। इसी इतिहास बोध को रेखांकित करते हुए चर्नीशेवस्की ने बताया कि त्रासदी की ऐसी व्याख्या जनसाधारण को शाश्वत नियमों की आड़ में आतंकित करने की एक तरकीब है। जिस किसी व्यक्ति को चाहे कुछ भी हो सकता है। प्रारब्ध की बात से उनको मनोरंजन ही हुआ, और कुछ नहीं। ये शाश्वत नियम किसी वर्ग विशेष के अपने एकांत हित में बनाये नियम हैं। त्रासदी पायी जाती है हर भयानक घटना में, हर भयानक अन्त में, मानवजाति की हर पीड़ा में—चाहे वे पात्र हों अथवा अपात्र। अमुक व्यक्ति दोषी है और बर्बाद हो जाता है तो त्रासदी हुई, और यदि वह दोषरहित है और बर्बाद हो जाता है तो यह त्रासदी क्यों नहीं हुई? चर्नीशेवस्की की इस व्याख्या से यह स्पष्ट है फायरबाख के समान वह 'मनुष्य' को अमूर्त नहीं मानते थे। किसी स्तर पर उनके चिन्तन में द्वन्द्व बोध था और इतिहास बोध भी, जो द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक वस्तुवाद के विकास तक पहुंच नहीं पाया था।

इसलिये लूनाचर्स्की का निष्कर्ष था कि चर्नीशेवस्की का सौन्दर्यशास्त्र कला के उस विचार को हिकारत की निगाह से देखता है जो कला को यथार्थ नहीं, बल्कि यथार्थ की जगह स्थानापन्न वस्तु मानता है। यथार्थ के प्रति अटल निष्ठा

और सामाजिक जीवन की वृद्धि, विकास और उत्कर्ष के प्रति उनकी वांच्छा शब्द-शब्द में फूट पड़ती है। जीवनहीनता के प्रति उनका नकारात्मक दृष्टिकोण समझौता करने के लिये तैयार नहीं है। उनकी स्थापना है कि कला यथार्थ के उन्हीं वस्तुओं को प्रतिबिम्बित करती है जो मनुष्य के महत्व के हैं और दर्पण के समान हर वस्तु को प्रतिबिम्बित नहीं करती है। चर्नीशेवस्की की मूल स्थापना कि कला जीवन को मूल्यांकित करती है, समाजवादी नैतिकता का अविच्छेद्य अंग है। 'विशुद्ध कला' जो अपने आप को नैतिकता से परे और स्वतन्त्र देखना पसन्द करती है, को नैतिक क्रिया-कलाप की सूरत में स्वीकारना मुमकिन नहीं है और इसलिये ऐसी कला मनुष्य-महत्व की हो नहीं सकती है। समाजवादी क्रान्ति के पहले जनतान्त्रिक क्रांति के ऐतिहासिक चरण से निपटना पड़ता है; समाजवादी यथार्थवाद के पूर्व यथार्थवाद के ऐतिहासिक चरण से गुजरना पड़ता है। चर्नीशेवस्की का सौन्दर्यशास्त्र है साहित्य के सामाजिक रोल का, साहित्य की रूपांतरकारी शक्ति का, विशिष्ट और सामान्य की द्वन्द्वात्मक एकता का, ज्ञान-विज्ञान की सक्रिय समग्रता का, जनआकांक्षाओं के साथ नित नये समीकरण बैठाने का और समाजवादी नैतिकता और सौन्दर्य की पूर्णता का सौन्दर्यशास्त्र है। स्वयं मार्क्स ने उनकी कृतियों का अध्ययन किया था। आदर और श्रद्धा से वह चर्नीशेवस्की को "महान् रूसी लेखक" बताया करते थे। लेनिन ने कहा था कि चर्नीशेवस्की सतयुग के एकमात्र महान् रूसी लेखक हैं जो पाँचवें दशक से १८८८ तक दार्शनिक वस्तुवाद को अपनी समग्रता में बनाये रखने में कामयाब रहे। कितनी घृणा और आक्रोश की बात है कि इस क्रान्तिकारी सौन्दर्यशास्त्री को हमारे विश्वविद्यालयों में जाना नहीं जाता है जबकि उन्हीं के समकालीन अंग्रेज कवि टेनीसन जो मिथ्या नैतिक बोध और बेईमान विचारों की वजह से राजकवि बना दिया गया था, आज भी हम पर छाया हुआ है। उसी की वैचारिक बेईमानी की प्रतिक्रिया थी कि साहित्य में "कला, कला के लिये" आंदोलन आ जमा था। मूल बात यह थी कि घटिया, मिथ्या और झूठे विचारों की जगह यदि विचारहीनता हो तो बेहतर है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में संस्कृति की दो धारायें थीं—एक साम्राज्यवाद की और दूसरी जनगण की, जनतान्त्रिक धारा विकसित हुई चर्नीशेवस्की में, अतः इस सौन्दर्यशास्त्र की सन्दर्भधर्मिता आज, विकास के इस स्तर पर, अपने देश में स्वतः सिद्ध है।



नया सौन्दर्यशास्त्र प्लेखानोव का योगदान

—राजीव सक्सेना

पहले रूसी मार्क्सवादी, ज्यार्जी वालेन्तिनोविच प्लेखानोव, ने १९वीं सदी के अन्तिम चतुर्थांश में मार्क्सवाद के सिद्धान्तों और इतिहास की व्याख्या करने में अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान किया। उस समय रूस में मार्क्स-एंगेल्स की कृतियाँ अपने मूल रूप में या अनुवाद में सुलभ न थीं, और उस पर यह कि शासक वर्ग एक ओर नंगे दमन से और दूसरी ओर मार्क्सवाद के विचारों को तोड़-मरोड़ कर पेश कर मजदूर वर्ग में प्राथमिक रूप से और सामान्यतः बुद्धिजीवी वर्ग में उसकी प्रतिष्ठा गिराने का प्रयत्न कर रहे थे। तब प्लेखानोव पहले व्यक्ति थे जिन्होंने दमन और जेलों का मुकाबला करते हुए मार्क्सवाद की व्याख्या आम लोगों तक पहुँचाने में बड़ी सूझ-बूझ से काम लिया।

प्लेखानोव ने मार्क्स के इस सुप्रसिद्ध उद्धरण की विस्तृत व्याख्या की, 'अपने जीवन के सामाजिक उत्पादन के दौरान मनुष्य आपस में ऐसे सुनिश्चित सम्बन्ध स्थापित करते हैं जो अनिवार्य होते हैं और उनकी इच्छा से स्वतन्त्र होते हैं, और ये उत्पादन सम्बन्ध उनकी भौतिक उत्पादक शक्तियों के विकास के एक निश्चित चरण के अनुरूप होते हैं। उत्पादन के इन सम्बन्धों के कुल योग से समाज की आर्थिक बनावट, असली नींव बनती है जिस पर कानून की और राजनीति की अधिरचना खड़ी होती है और उसी के अनुरूप सामाजिक चेतना के निश्चित स्वरूप बनते हैं।'

सौन्दर्य बोध सामाजिक चेतना का अंग है, इसलिए मार्क्स के इस बुनियादी सिद्धान्त के विषय में प्लेखानोव की व्याख्या के लिए उनकी कृति 'इतिहास की एकत्ववादी व्याख्या' अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें प्लेखानोव ने उन विचारकों की भर्त्सना की जो मार्क्सवाद को एक आर्थिक नियमन का सिद्धान्त मात्र समझते थे। प्लेखानोव ने बताया कि अपनी भौतिक आवश्यकताओं के उत्पादन में उत्पादन के साधनों के विकास के अनुरूप मनुष्य एक सामाजिक सम्बन्ध में बँधते

है जिन्हें मार्क्स उत्पादन के सम्बन्ध कहते हैं। इन सम्बन्धों के कुल योग से समाज की आर्थिक बनावट तैयार होती है जिससे लोगों के बीच सभी अन्य सामाजिक सम्बन्ध पैदा होते हैं। और इन सम्बन्धों के अनुरूप एक सामाजिक मनोविज्ञान बनता है और उन्हीं के अनुरूप सभी प्रकार के दार्शनिक, राजनीतिक कानूनी, कलात्मक आदि विचार बनते हैं।

वर्गों में बँटे हुए समाजों में, शोषण पर आधारित समाजों में शासित और शासक वर्ग उत्पादन की प्रक्रिया में एक दूसरे से टकराते है। प्लेखानोव ने बताया कि यही वह संघर्ष है जिसमें से विभिन्न राजनीतिक सिद्धान्त और वैचारिक अभिव्यक्ति पैदा होती और विकसित होती है। वर्गों के बीच संघर्ष का अध्ययन कर ही समाज के वैचारिक और आध्यात्मिक इतिहास को समझा जा सकता है। वर्ग विभक्त समाज में प्रभुत्वशील वर्ग की विचारधारा प्रभुत्वशील विचारधारा होती है। पूँजीवादी समाज में पूँजीवादी विचारधारा का प्रभुत्व स्थापित होता है और नवोदित मजदूर वर्ग पूँजीपति वर्ग को हर क्षेत्र में चुनौती देता है और उत्पादन सम्बन्धों को तोड़कर नये सम्बन्ध स्थापित करने का संघर्ष छेड़ता है। प्लेखानोव ने सामाजिक रूपान्तर में चेतना का अत्यन्त महत्व रेखांकित किया। उन्होंने कहा, 'जब तक ऐतिहासिक विकास की प्रेरक शक्तियाँ लोगों के पीठ पीछे, उनकी चेतना से स्वतन्त्र रूप में, काम करती रहीं, तब तक लोगों ने अपने इतिहास का अचेत रूप से निर्माण किया, उन्हें करना पड़ा। मगर जब लोग इन शक्तियों की खोज कर लेते हैं, जिन नियमों से वे परिचालित होती हैं, उनका अध्ययन कर लेते हैं, तब वे उन्हें अपने हाथ में लेने लगते हैं और उन्हें स्वयं अपनी बुद्धि के अधीन बना लेते हैं। मार्क्स ने जो सेवा की, वह थी इन शक्तियों की खोज करने और उनकी कार्य--प्रणाली का गहनतम वैज्ञानिक अध्ययन करने की।' (अंग्रेजी में प्लेखानोव की चुनी हुई दार्शनिक कृतियाँ, खण्ड १, पृष्ठ ४२२)

वर्ग-विभक्त समाज में सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में भी प्रभुत्वशील वर्गों की धारणाओं का शासन होता है। इनके विरुद्ध संघर्ष करने के लिए यह आवश्यक है कि इनके मूल और विकास के नियम समझे जायें। प्लेखानोव ने इस क्षेत्र में अनन्य योगदान किया है। इस क्षेत्र में उनका योगदान इसलिए और भी महत्वपूर्ण है कि इन प्रश्नों का स्वयं मार्क्स और एंगेल्स क्रमबद्ध नहीं कर पाये थे।

प्लेखानोव ने इस प्रश्न पर यहाँ से विचार शुरू किया: सौन्दर्यबोध जीव का सहज गुण है, इतना कहने से न तो यह स्पष्ट होता है कि एक समय विशेष में तथा एक एक समाज विशेष में खास प्रकार की ही सौन्दर्य-अवधारणाएँ क्यों पैदा होती है और उनमें क्यों तथा कैसे परिवर्तन तथा विकास होता रहता है। और फिर, इस प्रश्न का उत्तर खोजने के लिए उन्होंने मार्क्स की ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टि का तथा अपने समय की नृतत्वविज्ञान तथा समाज विज्ञान सम्बन्धी समस्त शोधों के निष्कर्षों का उपयोग किया। यह उत्तर उनकी कृति 'बिना पते की चिट्ठियाँ' में मिलता है जो पत्र शैली में लिखी गयी है। एक अन्य कृति 'कला तथा सामाजिक जीवन' में उन्होंने इसी दृष्टि से समसामयिक साहित्य के अध्ययन से प्राप्त निष्कर्षों को आकलित किया है। आज से तीन-चौथाई सदी पहले प्रकाशित उनके निष्कर्ष आज भी मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ करने के लिए मार्गदर्शक सूत्र हैं।

"विना पते की चिट्ठियाँ" में प्लेखानोव सौन्दर्यबोध के मूल और विकास के जिम्मेदार तत्वों की खोज के लिए आदिवासियों के जीवन से प्राप्त उदाहरणों का विश्लेषण करते हैं। इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य समाज की उत्पादक शक्तियों की अवस्था और उनसे उत्पन्न सामाजिक सम्बन्धों की एक विशेष स्थिति में एक विशेष सौन्दर्य बोध प्रतिफलित होता है। उन्होंने कहा, 'हमें पता है कि आदिम कबीले, मिसाल के लिए बुशमैन और आस्ट्रेलियाई आदिवासी अपने को कभी फूलों से नहीं सजाते, हालांकि वे ऐसे देश में रहते हैं जहाँ फूल बेशुमार है।...आदिम समाज की–और निश्चित रूप से कहें तो शिकार-जीवी लोगों की अलंकरण कला में पशु जगत् से विषयवस्तु चुनी जाती हैं। और आधुनिक विज्ञान इसका कारण उनके उत्पादन स्तर के अतिरिक्त और कुछ नहीं बताता। इसका मुख्य कारण यही है कि ये आदिवासी कृषि कर्म में लगे हुए नहीं थे।' (देखिये 'बिना पते की चिट्ठियाँ' और 'कला तथा सामाजिक जीवन' का संयुक्त अंग्रेजी संस्करण, पृष्ठ ३६, मास्को, १९५७)।

डारविन का खयाल था कि आदिम जातियों में सौन्दर्यबोध जटिल प्रत्ययों और विचारों से सम्पृक्त नहीं था, इसलिए वे इस मामले में बहुत पिछड़े थे। कुछ आदिम जातियों में जैसे वीभत्स आभूषण पहने जाते हैं और जैसा वीभत्स संगीत सराहा जाता है, उसको देखकर डारविन ने घोषणा कर दी कि उन जातियों में सौन्दर्य बोध की क्षमता चिड़ियों तक से गयी गुजरी थी। प्लेखानोव ने इस धारणा का खण्डन किया। प्लेखानोव ने बताया :

"यदि बर्बर अपने को चीते के चमड़े, दाँतों या नखों से या भैंसे के सींगों से सजाता है तो इसलिए कि वे उसकी अपनी शक्ति और फुर्ती का चिन्ह है, जिस व्यक्ति ने फुर्तीले को हराया, वह स्वयं फुर्तीला है, जिस व्यक्ति ने शक्तिवान को हराया, वह स्वयं शक्तिवान है। इसमें अंधविश्वास का भी शामिल होना सम्भव है। स्कूलक्राफ्ट (एक अमेरिकी नृतत्व वैज्ञानिक) ने बताया है कि पश्चिमी उत्तरी अमेरिका के रेड इंडियन कबीले के लोग उस क्षेत्र के सबसे खौफनाक हिंस्र पशु, भालू के नखों से बने आभूषण के बड़े शौकीन हैं। इनके शूरवीरों का ख्याल है कि जो भी व्यक्ति उसके नख पहन लेता है, वह उसी भालू की तरह साहसी और खौफनाक हो जाता है।"

प्लेखानोव ने इससे अत्यन्त महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाला, 'ऐतिहासिक रूप से कहा जा सकता है कि अक्सर वस्तुओं के प्रति सचेत उपयोगितापरक रूप उनके प्रति सौन्दर्यपरक रूप से पहले पैदा होता है।' (वही, पृष्ठ १११)। उन्होंने बताया कि रंतुजेल जैसे विद्वान जो आदिम रीति-रिवाजों के विकास में मानव चेतना की भूमिका स्वीकार नहीं करते, ऐसी बातें स्वीकार करने के लिए विवश हैं जिनसे पूर्वोक्त धारणा पुष्ट होती है।

आदिम मानव के सौन्दर्यबोध के निर्धारण में एक और तत्व ने भूमिका अदा की–उसकी जीवन-पद्धति ने (वही, पृष्ठ ११३) अपने शत्रु को अधिक से अधिक भयंकर दिखायी देने की कामना से उसने अपने शरीर को अनेक रीतियों से सजाने और रंगने के उपक्रम किये। इनमें सर्वाधिक आम था अपने को लाल रंग से रंगने का। अनेक आदिम जातियाँ युद्ध-नृत्य के लिए तैयार होते समय लाल रंग से चेहरा रंगती है। स्पष्ट ही, इनके पीछे युद्ध में शत्रु को मौत के घाट उतारने का भाव है जो रक्त के रंग से अभिव्यक्त किया जाता है।

डार्विन ने मनुष्य और पशुओं के मनोभावों की अभिव्यक्ति में 'विलोम के सिद्धान्त' की बड़ी भूमिका बतायी है। प्लेखानोव ने भी संवेदनों के प्रतिवर्तों में इसकी भूमिका स्वीकार की है। (वही, पृष्ठ २४)। उन्होंने कई आदिम जातियों की रस्मों के उदाहरण से इसको स्पष्ट किया। जैसे, नीग्रो महिलाएँ आभूषण पहने बिना बाहर नहीं निकलतीं, मगर किसी की मृत्यु के बाद शोक प्रकट करने के लिए वे आभूषण उतार देती हैं। बोर्नियो के एक आदिवासी कबीले में शोकावस्था में सूती सरोंग के स्थान पर छाल के कपड़े पहन लिये जाते हैं जिन्हें वे पहले कभी पहना करते थे। (वही, पृष्ठ २५)।

इस सिलसिले में उन्होंने यह दिलचस्प तथ्य नोट किया कि शोकावस्था में आस्ट्रेलियाई कबीले अपने शरीर को सफेद चूना मिट्टी से रंगते हैं। यानी काले आस्ट्रेलियाई के लिए शोक सूचक रंग सफेद है जबकि यूरोप के गोरे लोगों के लिए यह रंग काला है। यहाँ भी 'विलोम का सिद्धान्त' लागू होता है। इसी तरह गोरी या गेहुँआ जातियों में शरीर को काले या नीले रंग से गोदा जाता है तो काली जातियाँ चमड़ी जलाकर वहाँ सफेद गोदने बना लेती हैं।

प्लेखानोव कहते हैं कि, 'इन सभी (शोक-दुःख के) मामलों में मनोभाव ऐसी कार्यवाहियों द्वारा अभिव्यक्त किये जाते हैं जो उन कार्यों के विपरीत होते हैं जिनको सामान्यतः जीवन में स्वाभाविक, आवश्यक, उपयोगी या सुखद माना जाता है।' (वही, पृष्ठ २६)।

नारी सम्बन्धी सौन्दर्यबोध पर विचार करते समय प्लेखानोव ने सबसे पहले इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया कि आदिम समाज में सबसे पहला श्रम-विभाजन हुआ पुरुष और नारी के बीच। शिकार और लड़ाई के काम पुरुषों ने संभाले और स्त्रियों ने कृषि, कंद-मूल-फल आदि जमा करने और बच्चों की देख-भाल के काम। फलतः शिकार और युद्ध में विजय के चिन्हों से स्त्रियों के सजाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठा। लेकिन शिकार के फलों से स्त्रियों को सजाने की प्रथा चल पड़ी थी। होंठ, कान, नाक, केश, बाहों, पैरों आदि को हड्डियों, लकड़ियों के टुकड़ों आदि से सजाने का काम शिकारी अवस्था में होता रहा। बाद में लोहे के आविष्कार के बाद लोह आभूषणों का उपयोग होने लगा। ये आभूषण पति के या औरत के स्वामी की सम्पदा के भी चिन्ह थे; औरत जितने अधिक आभूषण पहनती थी, उतना ही अधिक उसके स्वामी को समृद्ध समझा जाता था। इस सम्बन्ध में प्लेखानोव ने स्थापना की :—

"इस प्रकार महिलाओं के आभूषण कई 'कारणों' के प्रभाव से विकसित और परिवर्तित हुए, मगर, ध्यान रहे, बाद के सभी रूप या तो आदिम समाज को उत्पादक शक्तियों की विशेष स्थिति के परिणाम स्वरूप पैदा हुए (पुरुष द्वारा स्त्री को दासी बनाया जाना भी एक ऐसा 'कारण' था), या मानव-प्रकृति के स्थायी पहलू होते हुए वे 'अवचेत' के प्रत्यक्ष प्रभाव के कारण एक खास तरह से विकसित हुए और किसी अन्य तरह नहीं—उदाहरण के लिए, एक ऐसा पहलू था पुरुष का दम्भ जिससे वह अपनी औरतों की समृद्ध साज-सज्जा पर गर्व करने लगा; मानव चरित्र के ऐसे ही अन्य गुण थे।

'इसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं कि धातु के आभूषणों का प्रेम तभी पैदा हुआ जब मनुष्य ने धातु कर्म की कला सीख ली और यह भी बड़ा स्पष्ट है कि अपने को, अपनी पत्नियों और दासियों को धातु के आभूषणों से

विभूपित करने की आदत पैदा हुई अपनी दौलत पर घमण्ड करने की इच्छा से, और अगर आवश्यकता हो तो इसको भी कई उदाहरणों से स्पष्ट किया जा सकता है। किन्तु यह न समझें कि ऐसे आभूषण पहनने के लिए प्रेरित करने वाले किन्हीं और प्रयोजनों को बताना असम्भव है। इसके विपरीत, यह बहुत सम्भव है कि वे (मसलन, भुजाओं और पैरों में पहनी जाने वाली' धातु की चूड़ियाँ, चूड़े) मूलतः इसलिए पहने गये थे कि उनके व्यावहारिक उपयोग थे; बाद में उन्हें न केवल व्यावहारिक उपयोग के लिए पहना गया बल्कि उसके स्वामी के सम्पदा सम्बन्धी घमण्ड की आकांक्षावश भी, जबकि इसके ही समानान्तर, मनुष्य की रुचि धीरे-धीरे विकसित हो गयी, यहाँ तक कि धातु की मुद्रिकाओं से सज्जित अंग सुन्दर लगने लगे।

'वस्तुओं को सौन्दर्य-सुख की दृष्टि से देखे जाने से पहले था उनको उपयोग की दृष्टि से देखे जाने का रुख।' (वही, पृष्ठ १२६)।

किन्तु क्या मनुष्य की बुनियादी शारीरिक आवश्यकताओं, जैसे यौन सम्बन्ध और भूख-प्यास, पर भी मानव समाज के उत्पादन सम्बन्धों का प्रभाव पड़ता है? प्लेखानोव ने यौन भावनाओं पर टीका की है:

'भौतिकवादी व्याख्या के किसी समर्थक के दिमाग में यह बात नहीं पैदा हुई कि मनुष्य के आर्थिक सम्बन्ध उसकी बुनियादी शारीरिक आवश्यकताओं को पैदा करते हैं। यौन भावनाएँ, निश्चय ही, हमारे वनमानुष जैसे पूर्वजों में उस सुदूर समय में भी अस्तित्ववान थीं जब वे उत्पादक गतिविधि के हलके से तत्व तक से अपरिचित थे।''

मनुष्य अपनी प्रकृति वश कुछ अवधारणाएँ (या रुचियाँ, झुकाव आदि) ग्रहण करता है, किन्तु इस सम्भावना को यथार्थ में बदलना उसके आस-पास की परिस्थितियों पर निर्भर करता है। इन्हीं परिस्थितियों के कारण उसकी कुछ विशेष रुचियाँ होती हैं, अन्य नहीं। इस तथ्य को दोहराते हुए उन्होंने एक रूसी भौतिकवादी दार्शनिक के ये विचार उद्धृत किये।

'पेट में जब काफी खाना पहुँच जाता है तो वह पाचन के आम नियमों के अनुसार काम करने लगता है किन्तु क्या इन नियमों से इस प्रश्न का उत्तर मिल सकता है कि क्यों स्वादिष्ट और पौष्टिक भोजन हर दिन आपके पेट में ही पहुँचता है और मेरे पेट में वह कभी-कभी ही मेहमान होता है? क्या उन नियमों से यह भी स्पष्ट हो सकता है कि क्यों कुछ लोग ढेर सारा खाते हैं जब कि कुछ लोग भूख से मर जाते हैं? स्पष्ट ही, इसका स्पष्टीकरण किसी अन्य क्षेत्र में, किन्हीं अन्य किस्म के नियमों के लागू होने के क्षेत्र में, खोजा जाना चाहिए। यही स्थिति मनुष्य के मस्तिष्क की है। एक बार जब वह किसी परिस्थिति विशेष में पड़ जाता है, जब उसके परिवेश से उसे कुछ खास किस्म के संवेदन प्राप्त होते हैं, तब वह उन्हें किन्हीं आम नियमों के अनुसार सयुक्त करता है, और यहाँ भी परिणाम बिलकुल भिन्न होते हैं जो प्राप्त प्रभावों के अनुसार विचित्र होते हैं। किन्तु कौन सी शक्ति है जो उस दिमाग को इस स्थिति में रखती है? नये प्रभावों के प्रवाह और चरित्र को क्या चीज निर्धारित करती है? यह प्रश्न है जिसको विचार-क्रिया सम्बन्धी कोई नियम निर्धारित नहीं कर सकता?''

(वही, पृष्ठ २३०)

यथार्थ-बोध या सौन्दर्यबोध कितनी जटिल प्रक्रिया है, इसको प्लेखानोव ने

अनुकरण की प्रवल प्रवृत्ति होती है, मगर वह केवल किन्हीं विशेष सामाजिक सम्बन्धों में ही अभिव्यक्त होती है। उदाहरण के लिए, १७वीं सदी के फ्रांस में जो सामाजिक सम्बन्ध थे, उनमें पूंजीपति वर्ग बड़ी तत्परता से, हालांकि कोई खास सफलतापूर्वक नहीं, सामन्ती अभिजात वर्ग का अनुकरण किया करता था। याद कीजिए मोलियर का नाटक 'वह सम्भ्रान्त पूंजीपति'। अन्य सामाजिक सम्बन्धों में अनुकरण की प्रवृत्ति गायब हो जाती है। और इसकी विरोधी प्रवृत्ति पैदा हो जाती है जिसे मैं इस समय अन्तर्विरोध की प्रवृति कहना चाहूँगा।

'मगर नहीं, मैं इस बात को सही ढंग से नहीं रख रहा हूँ। अनुकरण की प्रवृत्ति १७वीं सदी के अंग्रेजों में समाप्त नहीं हुई। वह शायद एक ही वर्ग के सदस्यों के आपसी सम्बन्धों में पहले जैसी शक्ति से प्रकट होती रही। उस काल में उच्च वर्गीय अंग्रेजों के बारे में लेखक वेलजामे ने लिखा था, 'ये लोग नास्तिक भी नहीं थे, वे प्राथमिक रूप से धर्म से इनकार करते थे ताकि उन्हें मूर्ख न माना जाय, और उन्हें सोच-विचार का कष्ट न करना पड़े।' बिना किसी गलती के भय के, उन लोगों के बारे में यह कहा जा सकता है कि वे अनुकरण वश धर्म से इनकार करते थे। मगर गम्भीरतर नास्तिकों का अनुकरण करते हुए वे प्यूरिटनों का विरोध या खण्डन कर रहे थे। इस प्रकार अनुकरण, विरोध का स्रोत था। मगर हम जानते हैं कि सामन्ती अभिजात वर्ग के कमजोर दिमाग वाले लोग अपने वर्ग के सशक्त दिमाग वालों की नास्तिकता का अनुकरण कर रहे थे तो इसलिए कि नास्तिकता अच्छी बात समझी जाती थी और उसने यह विशेषता पायी तो अपने विरोध गुण के कारण—प्यूरिटन पंथ के विरुद्ध प्रतिक्रिया के कारण, एक ऐसी प्रतिक्रिया जो अपने तईं उपरोक्त वर्ग संघर्ष के फलस्वरूप पैदा हुई थी। इसलिए इन सभी जटिल मानसिक संघटनाओं की द्वन्द्वात्मकता के मूल में सामाजिक प्रकृति के तथ्य हैं।' (वही, पृष्ठ २२)।

विलोम के सिद्धान्त के अनुसार जो प्रवृत्तियाँ यहाँ पैदा होती हैं, उनमें सम्बन्धित वर्ग को अपने विरोधी वर्ग के विरुद्ध कोई सार्थक अस्त्र मिल जाय, यह कोई आवश्यक नहीं है; वह तो एक मनोवैज्ञानिक परिणाम होता है जिसको डार्विन के कथनानुसार प्लेखानोव ने सहसम्बन्धित विभेद कहा। ब्रिटिश इतिहास में सामन्ती अभिजात्य और पूंजीवाद के सन्दर्भ में प्लेखानोव ने कहा :

'उद्यम, धैर्य, गम्भीरता, किफायतशारी, कड़ी घरेलू नैतिकता आदि जैसे गुण ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग के लिए उस समय उपयोगी थे जब वह समाज में और अधिक उच्च स्थान प्राप्त करने का प्रयास कर रहा था। मगर पूंजीपति वर्ग के गुणों के विरुद्ध जो दुर्गुण थे, वे ब्रिटिश सामन्ती अभिजात वर्ग के लिए पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध अपने जीवन-मरण के संघर्ष में अनुपयोगी थे। उनसे उन्हें अपने संघर्ष के लिए कोई नया अस्त्र नहीं मिला और वे केवल मनोवैज्ञानिक परिणाम स्वरूप पैदा हुए थे। ब्रिटिश अभिजात वर्ग के लिए जो कुछ उपयोगी था, वह पूंजीपति वर्ग के गुणों के विरोधी दुर्गुणों की ओर उनका झुकाव मात्र नहीं था, बल्कि वह मनोभाव था जिनमें यह झुकाव पैदा हुआ था यानी एक ऐसे वर्ग के प्रति घृणा का भाव जिसकी पूर्ण विजय का अर्थ होता अभिजात वर्ग के विशेषाधिकारों का उतनी ही पूर्णता के साथ उन्मूलन।'

उच्च वर्ग की साहित्यिक अवधारणाओं से साहित्य किस तरह प्रभावित होता है, इसका एक उदाहरण प्लेखानोव ने उसी काल के साहित्य से दिया है,

'हमें अंग्रेजी साहित्य के इतिहास से विदित है कि उच्च वर्ग की सौन्दर्य अवधारणाएँ विरोध के सिद्धान्त के उस मनोवैज्ञानिक क्रियान्वयन से प्रभावित होती हैं जो वर्ग संघर्ष से पैदा हुआ करती हैं। अपने निर्वासन के बाद ब्रिटिश अभिजात वर्ग के जो लोग फ्रांस में रहते थे, वे फ्रांसीसी साहित्य और नाटक से परिचित हुए जो एक अत्यन्त सुसंस्कृत अभिजात समाज का अनुकरणीय और अनन्य उपज था और इसलिए एलिज़ाबेथ के काल के अंग्रेजी नाटक और साहित्य की तुलना में कहीं अधिक ब्रिटिश अभिजात वर्ग के रुझानों के साथ सामंजस्यपूर्ण थे। पुनर्स्थापन काल के बाद अंग्रेजी रंगमंच और साहित्य फ्रांसीसी अभिरुचियों के प्रभाव का शिकार हुआ। शेक्सपियर का उसी तरह तिरस्कार किया जाने लगा जैसे बाद में जब फ्रांसीसी लोग, जो अपनी क्लासिकीय परम्परा के अनुगामी थे, उनके नाटकों से परिचित हुए तो उन्होंने उनका तिरस्कार किया, यानी कि यह कहकर, कि वह 'मदहोश जंगली' था। शेक्सपियर के 'रोम्यो एण्ड जूलियट' को 'बुरा' नाटक माना गया और 'मिडशयर नाइट्स ड्रीम' को हास्यास्पद और निस्सार, 'उनका हेनरी एर्थ' बहुत सीधी सादी चीज़ और "ओथेलो' को कमीनी चीज़ कहा गया। यह प्रवृत्ति अगली सदी में भी विलीन नहीं हुई। ह्यूम का ख्याल था कि शेक्सपियर की नाटकीय प्रतिभा को सामान्यतः उसी तरह अधिक मूल्यवान समझा गया जैसे कुविकसित और अनुपातहीन शरीरों को देखकर उनके बहुत बड़े होने की धारणा पैदा होती है। उन्होंने इस महान नाटककार पर आरोप लगाया कि वह 'समस्त नाटकीय कला तथा व्यवहार से पूर्णतया ज्ञानहीन था।' पोप ने खेद प्रकट किया कि शेक्सपियर ने 'जनता के लिए' लिखा और 'अपने राजा के संरक्षण तथा राजदरबार के प्रोत्साहन' के बिना भी अपना काम चला लिया। यहाँ तक कि शेक्सपियर के जबर्दस्त प्रशंसक, सुनामधन्य गैरिक ने भी अपनी 'मूर्ति' को 'संवारने' का प्रयत्न किया। 'हैमलेट' को मंचस्थ करते समय उन्होंने कब्रें खोदने वालों के दृश्य को बड़ा अनगढ़ मानकर निकाल दिया। उन्होंने 'किंग लियर' नाटक को सुखान्त बना दिया। किन्तु अंग्रेज नाटक-प्रेमी दर्शकों के जनवादी हिस्सों में शेक्सपियर के प्रति हार्दिक समादर बना रहा। गैरिक जानते थे कि उनके नाटकों में हेर-फेर कर वे जनता के इसी हिस्से की ओर से तूफानी विरोध को निमंत्रित करने का खतरा उठा रहे हैं। अपने पत्रों में उनके फ्रांसीसी मित्रों ने उनके उस 'साहस' की प्रशंसा की जिस के साथ वे यह खतरा उठा रहे थे; एक पत्र में कहा गया था, 'मैं अंग्रेजी भीड़ की मनोवृत्ति जानता हूँ'।

''१७वीं सदी के उत्तरार्द्ध में अभिजात श्रेणी की नैतिकता सम्बन्धी ढिलाई, जैसा कि हम जानते हैं, अंग्रेजी रंगमंच पर भी प्रतिबिम्बित हुई जहाँ उसने अतिशय अश्लील रूप धारण कर लिया। १६६० और १६९० के बीच इंग्लैण्ड में लिखी गयी सभी कामेडियाँ लगभग निरपवाद रूप से, एडवर्ड एंगेल के शब्दों में, अश्लीलता प्रधान थीं। इसको देखते हुए यह बात पूर्वनिष्कर्षतः कही जा सकती है कि विरोध के सिद्धान्त के अनुसार इंग्लैण्ड में देर-सवेर ऐसी नाटकीय कृतियाँ प्रकट होना अनिवार्य था जिनमें घरेलू गुणों और नैतिकता की मध्यवर्गीय शुद्धता का चित्रण और गौरवगान किया जाता। और आगे चलकर ब्रिटिश पूँजीपति श्रेणी के बौद्धिक प्रतिनिधियों ने इस तरह का साहित्य पैदा किया।'' (वही, पृष्ठ २८-२९)

सामाजिक जीवन मूल्यों के प्रश्न पर ही नहीं, प्रकृति तक के संवेदन में युग विशेष के सामाजिक सम्बन्धों का भारी प्रभाव पड़ता है। इस तथ्य को सिद्ध करने के लिए प्लेखानोव ने समाजशास्त्री टेन की एक कृति से उद्धरण दिया, "अपनी वाक्‌विदग्ध और दिलचस्प पुस्तक 'वायेज ऑव पाइरेनीज़' में उन्होंने (टेन ने) अपने मेज़ के एक साथी श्रीमान पाल के साथ एक वार्त्तालाप का वर्णन दिया है जिसमें श्री पाल, सभी प्रकार से, लेखक के ही विचार व्यक्त करते हैं। श्री पाल कहते हैं, 'आप वर्सेलीज़ जा रहे हैं और आप १७वीं शताब्दी की अभिरुचियों का विरोध करते हैं मगर एक क्षण के लिए आप आज की अपनी आवश्यकताओं तथा आदतों के अनुसार निष्कर्ष निकालना बन्द कीजिए।········ हम जब वन के दृश्यों की सराहना करते हैं तो हम सही हैं, उसी तरह जैसे वे लोग जब इस दृश्य पटल को देखते थे तो ऊब महसूस किया करते थे।····१७वीं शताब्दी में असली पहाड़ों से अधिक बदसूरत और कोई चीज़ नहीं थी। जो लोग अभी ही गृहयुद्ध और अर्द्धबर्बरता से निकले थे, उन्हें पहाड़ देखकर भूख की, घोड़ों पर वर्षा और हिमपात में लम्बी यात्राओं की, भूसे से मिश्रित घटिया काली रोटी की और कीड़ों-मकोड़ों से भरी रिहायशी जगहों की याद आती थी। वे बर्बरता से ऊबे हुए थे जैसे हम सभ्यता से ऊबे हुए हैं।····ये····पहाड़ हमें अपनी सड़कों, अपने दफ्तरों, अपनी दुकानों से मुक्ति देते हैं। वन-दृश्य हमें इसीलिए अच्छे लगते हैं और अगर यह कारण न होता तो वह हमारे लिए उतने ही वितृष्णाकारी होते जैसे वे श्रीमती डे मेनेटेनो के लिए थे।"

प्लेखानोव ने स्मरण कराया है कि प्राकृतिक दृश्यों का चित्रकला तक में सदा स्थान नहीं रहा है। माइकेलाएंजेलो और उनके समसायिक कलाकारों ने उसकी उपेक्षा की। "न ही १७वीं और १८वीं सदी के फ्रांसीसी कलाकारों तक के लिए उसका स्वतंत्र महत्व था। १९वीं सदी में इस समय स्थिति यकायक बदल गयी जब प्राकृतिक दृश्य चित्रण अपने आप में मूल्यवान हो गया, और फ्लेर्स, कैबा, थ्योडोर रूसो जैसे युवा कलाकारों ने पेरिस, फोंटोनेब्लो और मेलुन नगरों के परिवेश में प्रकृति की गोद में प्रेरणा प्राप्त करने का प्रयत्न किया जिसकी सम्भावना के विषय में ले ब्रून और बौखर जैसे कलाकारों ने संदेह तक प्रकट नहीं किया था। क्यों? क्योंकि उस समय फ्रांस में सामाजिक सम्बन्ध बदल चुके थे और इससे फ्रांसीसियों के मनोविज्ञान में परिवर्तन हो चुका था। इस प्रकार सामाजिक विकास के विभिन्न कालों में मनुष्य को प्रकृति से विभिन्न भिन्न प्रभाव प्राप्त होते हैं क्योंकि वह उसकी ओर विभिन्न दृष्टियों से देखता है।"

एक दूसरे सन्दर्भ में प्लेखानोव ने अपनी कृति "कला और सामाजिक जीवन" में बताया कि महान चित्रकार राफेल (१४८३—१५२०) की मेडोना (ईसामसीह की कुमारी मा) ईसाइयत और पादरियों के पारलौकिक आदर्श के ऊपर लौकिक आदर्श की विजय की सर्वाधिक कलात्मक अभिव्यक्ति है। "उनके धार्मिक वाह्य के पीछे एक ऐसी जीवन्तता और विशुद्ध लौकिक जीवन जीने के स्वस्थ आनन्द का बोध होता है कि उनमें बाइजेंटाइन आचार्यों की पवित्र मा मेरी के चित्रों के साथ कोई समानता नहीं रह जाती।" (वही, पृष्ठ १७५)

किन्तु साथ ही प्लेखानोव ने यह भी बताया कि अच्छे और बुरे यानी

एक कलाकृति का रसास्वादन कर हमारे अन्दर 'लाभ का भाव प्रस्तुत कलात्मक विम्ब से पैदा होता है और हम एक मनोवैज्ञानिक विभ्रम द्वारा यह विश्वास करते हैं कि हमें जो आनन्द प्राप्त हो रहा है वह विम्ब से प्राप्त हो रहा है, जब कि वास्तव में वह पैदा होता है उसके द्वारा जागृत विचारों से और परिणामतः उसकी जड़ें होती हैं हमारी तार्किक क्षमता की क्रिया में, न कि हमारी चिन्तन क्षमता में।' प्लेखानोव का मत है कि असली कलाकार हमारी चिन्तन क्षमता को अपील करने का प्रयत्न करता है, तार्किक क्षमता को नहीं।

इसी धारणा को आगे बढ़ाकर प्लेखानोव ने कलाकार और प्रचारक का भेद स्पष्ट किया। उन्होंने कहा कि, 'कलाकार अपने विचार बिम्बों द्वारा व्यक्त करता हैं, प्रचारक अपने विचार को तार्किक निष्कर्षों की सहायता से रखता है।' दोनों हो कोई न कोई विचार अभिव्यक्त करते हैं, अन्तर केवल विधि' का है। (वही, पृष्ठ १७१)।

प्लेखानोव ने जहाँ यह देखा कि कलाकार केवल ऐसी बात, घटना या दृश्य से ही अनुप्रेरित हो सकता है जिससे लोगों के बीच संवाद या आदान-प्रदान या सम्प्रेषण सम्भव हो, वहाँ उन्होंने यह भी कहा कि, 'ऐसे आदान-प्रदान की सम्भावित सीमा कलाकार निर्धारित नहीं करता, बल्कि जिस सामाजिक इकाई का वह अंग होता है उसके सांस्कृतिक स्तर से वह सीमा निर्धारित होती है। मगर वर्गों से विभक्त समाज में उनका निर्धारण इन वर्गों के आपसी सम्बन्धों से और इसके अतिरिक्त, उस समय विशेष में प्रत्येक वर्ग के विकास के कारण से भी होता है।' (वही, पृष्ठ १८७, जोर मेरा-रा. स.) इस सिलसिले में प्लेखानोव ने स्पष्ट किया कि, 'शासक वर्ग की विचारधारा उस समय अपना निहित मूल्य खोने लगती है जब कि वह वर्ग अपने अन्त के लिए परिपक्व होने लगता है। उसके भावात्मक अनुभव से उत्पन्न साहित्य पतनोन्मुख हो जाता है।' (वही, पृष्ठ १८८) इसका उदाहरण स्वयं पूँजीपति वर्ग के उत्थान और पतन से मिलता है। जब पूँजीपति वर्ग सामन्ती व्यवस्था के विरुद्ध लड़ रहा था, यानी जब वह क्रान्तिकारी वर्ग था, तब उसके विचारक सामन्ती तत्वों को छोड़कर सभी मेहनतकश जनता के, 'सारे राष्ट्र के,' प्रतिनिधि थे। दूसरे शब्दों में उस समय पूँजीवादी दृष्टिकोण से सम्पृक्त कलात्मक कृतित्व की सम्प्रेषणीयता सापेक्षतः काफी व्यापक थी। मगर जब पूँजीपति वर्ग स्वयं शासक और शोषक वर्ग बन गया तब उसकी कला का ह्रास होने लगा। प्रारम्भ में उसने सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना का विरोध 'कला के लिए कला' के नारे के साथ किया, मगर ज्यों-ज्यों वर्ग संघर्ष बढ़ता गया, त्यों-त्यों शासक वर्ग जनता की मुक्ति अकांक्षा के प्रति अपनी खुली घृणा प्रकट करने लगा। उसने अविवेक तथा रहस्यवाद पर आधारित अनेक नये दर्शनों को जन्म दिया और माँग की कि विचारधाराओं को मेहनतकश जनता के विरुद्ध बौद्धिक अस्त्र की तरह इस्तेमाल किया जाय।

कला, कला के लिए या उपयोगितामूलक साहित्य के नारे विद्रोहियों और प्रतिक्रियावादियों, दोनों ने ही दिये हैं। इस प्रश्न पर प्लेखानोव ने एक विचारणीय स्थापना की है, 'राजनीतिक सत्ता हमेशा कला के उपयोगितावादी दृष्टिकोण को तरजीह देती है उस हद तक जिस हद तक वह कला की तरफ ध्यान देती है। और यह समझ में आने वाली बात है, जिस लक्ष्य की वह सेवा करती

है, उनके लिए समस्त विचारधाराओं को जीतना उनके अपने हित में है। और चूँकि राजनीतिक सत्ता, क्योंकि कभी-कभी क्रान्तिकारी होती है, अधिकांशतः रूढ़िवादी और प्रतिक्रियावादी तक होती है, इसलिए यह देखा जाना चाहिए कि यह सोचना गलत है कि कला का उपयोगितावादी दृष्टिकोण मुख्यतः क्रांतिकारियों का या सामान्यतः उन्नत विचार वालों का होता है। रूसी साहित्य के इतिहास से बिलकुल स्पष्ट देखा जा सकता है कि इससे हमारे 'रक्षक' तक दूर नहीं रहे।' (वही, पृष्ठ १६४)।

उदाहरण के लिए जार (रूस के सम्राट) के शिक्षामन्त्री ने सन् १८५० में ओस्त्रोव्स्की को अपने पास भेजने के लिए मास्को के शिक्षा विभाग को आदेश देते हुए लिखा था कि वे इस युवा नाटककार को 'समझायें कि प्रतिभा का उदात्त और उपयोगी उद्देश्य केवल हास्यास्पद और कुत्सित तौर-तरीकों के सजीव चित्रण में नहीं, उनकी न्यायपूर्ण निन्दा करने में है, सिर्फ उपहास करने में नहीं उच्च नैतिक मनोभावों के प्रसार में है, परिणामतः (उसकी सार्थकता है) दुर्गुणों को गुणों से नष्ट करने में तथा हास्यास्पद तथा अपराध-भावनाओं को ऐसे विचारों तथा कृत्यों से दूर करने में जिनसे आत्मा उन्नत हो, और अन्ततः (उसकी सार्थकता है) आस्था को सुदृढ़ करने में जो सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवन के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है और कुकर्म का यहीं पृथ्वी पर दण्ड मिलता है।'

प्लेखानोव बताते हैं कि जब क्रूर और दमनकारी जार के सिद्धान्तकार साहित्यकार से सामाजिक दायित्व की माँग कर रहे थे तो यह आश्चर्यजनक नहीं था कि पुश्किन जैसे प्रगतिशील कवि ने 'कवि और भीड़,' शीर्षक कविता में कहा, 'दूर हटो ओ नारकीयो! शान्तिपूर्ण कवि तुम्हारी कोई परवाह नहीं करता! जाओ, बहादुरी से पाप में डूबे रहो। बाँसुरी को तुमसे क्या लेना-देना है?…कवि जीवन प्राप्त करता है तो किसी लौकिक उत्तेजना के लिए नहीं किसी लौकिक लोभ या लड़ाई-भिड़ाई के लिए नहीं, बल्कि मधुर गीत के लिए, प्रेरणा के लिए, प्रार्थना के लिए।' इस सन्दर्भ में प्लेखानोव ने हमारा ध्यान एक तथ्य की ओर आकर्षित किया है जो पुराने साहित्य के मूल्यांकन के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। और वह यह कि पुश्किन ने अपनी कविता में, 'अभिजात श्रेणी की भीड़ की भर्त्सना की है, असली जनता की नहीं जो उस समय तक रूसी साहित्य के दृष्टि-क्षेत्र से पूरी तरह बाहर थी।' (वही, पृष्ठ १८५)।

उपर्युक्त उदाहरण से प्लेखानोव ने निष्कर्ष निकाला कि, 'कला के लिए कला में विश्वास तब पैदा होता है और वह जड़ें जमा लेता है जब कला में संलग्न लोग अपने सामाजिक परिवेश से बुरी तरह अपना असामंजस्य महसूस करते हैं। इस असामंजस्य का कलात्मक कृतित्व पर वहीं तक अनुकूल प्रभाव पड़ता है जहाँ तक कलाकार को अपने परिवेश से ऊपर उठने में सहायता मिलती है।' (वही, पृष्ठ १८४)

इसके साथ प्लेखानोव ने उसका निर्बल पक्ष भी बताया, 'रूमानी विद्रोहियों की कलाकृतियों ने पूँजीवाद के विरुद्ध रचनाकार के विद्रोह रचनाकार के विद्रोह से भारी उत्साह लिया, मगर इस तथ्य वश कि उस विद्रोह का कोई व्यावहारिक अर्थ नहीं था, उनकी (कलाकृतियों की) कोई कम क्षति नहीं हुई।' (वही, पृष्ठ १७८)

मैं समझता हूँ कि सातवें दशक की हिन्दी कविता का मूल्यांकन करते समय भी हमें इस तथ्य को ध्यान में रखना होगा।

प्लेखानोव के जमाने में रूस आर्थिक रूप से उतना ही पिछड़ा था जितना स्वतन्त्रता के बाद का भारत। वहाँ सामन्ती अभिजात वर्ग का प्रभुत्व था। मगर फिर भी फ्रांस के क्रान्तिकारी पूँजीपति वर्ग के विचारों (जिन्हें एन्साइक्लोपीडिस्ट कहा जाता था) ने रूस के पढ़े-लिखे (अभिजात) वर्ग पर प्रभाव डाला। बाद में पूँजीवाद के पतनोन्मुख होने के बाद जो ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियाँ पैदा हुई, उनका भी रूस में प्रभाव पड़ा, हालाँकि इनके लिए वहाँ उचित सामाजिक भूमि नहीं थी। कुछ यही स्थिति आज भारत की है जहाँ 'आधुनिकतावाद' के नाम पर अनेक पश्चिमी ह्रासोन्मुख प्रभाव ग्रहण किये गये हैं। इनके लाभ-अलाभ पर प्लेखानोव की टिप्पणी विचारणीय है :—

'फ्रांसीसी एन्साइक्लोपीडिस्टों के प्रति रूसी अभिजात लोगों के व्यामोह का कोई विशेष परिणाम नहीं हुआ। फिर भी वह लाभदायक था, इस अर्थ में कि उससे अभिजात श्रेणी के कुछ लोगों के दिमागों से अभिजातीय पूर्वग्रह साफ हुए। दूसरी ओर हमारे बुद्धिजीवियों के एक हिस्से में पतनोन्मुख पूँजीपति वर्ग के दार्शनिक विचारों और सौन्दर्यबोध गत अभिरुचियों के प्रति वर्तमान व्यामोह हानिकारक है, इस अर्थ में कि इससे उनके 'बुद्धिजीवी' मस्तिष्क पूँजीवादी पूर्वग्रहों से भर जाते हैं जिनकी उपज के लिए हमारी रूसी भूमि को सामाजिक विकास ने अभी काफी तैयार नहीं किया है। ये पूर्वग्रह अनेक ऐसे रूसियों के दिमाग पर भी हमला कर रहे हैं जो सर्वहारा वर्ग के आन्दोलन से सहानुभूति रखते हैं। परिणाम यह है कि वे समाजवाद के और उस आधुनिकताद के जिसको पूँजीवाद के पतन ने जन्म दिया है, यिचित्र मिश्रण हैं। इस विभ्रम से कोई कम व्यवहारिक क्षति नहीं हो रही है। (वही, फुटनोट, पृष्ठ २०५)।

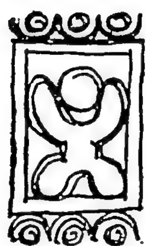
हमारे समय में कला के लिए कला का नारा वास्तव में कला धन कमाने के लिए का नारा बन गया है। प्लेखानोव कहते हैं कि क्या हमें इसका कारण नहीं जानना चाहिये ? इसको समझ ये लिए उन्होंने मार्क्स की पुस्तक 'दर्शन की दरिद्रता' से निम्नलिखित उदाहरण दिया है :—

'एक समय था जैसे कि मध्य युग में, जब केवल अतिरिक्त का यानी उपभोग से बचे जिन्स का, विनिमय किया जाता था। फिर एक समय था जब न केवल अतिरिक्त जिन्स, बल्कि सारी उपज, सारा औद्योगिक अस्तित्व, व्यापारिक बन गया और सारा उत्पादन विनिमय पर निर्भर करने लगा।

'अन्तत: एक समय आया जब हर ऐसी चीज जिसको मनुष्य अपने से अभिन्न मानता था, विनिमय की, लेन-देन की, वस्तु बन गयी और अपने से अलग की जाने लगी। यही समय था जब सारी ऐसी चीजें जिनको उस समय तक सम्प्रेषित किया जाता था मगर विनिमय नहीं किया जाता था, दिया जाता था मगर बेचा नहीं जाता था, हासिल किया जाता था मगर खरीदा नहीं जाता था, जैसे सद्गुण, प्रेम, विश्वास, ज्ञान, अन्तरात्मा आदि, संक्षेप में, सभी चीजें व्यापार में ढल जाती गयी। यही समय बना आम भ्रष्टाचार का, सार्वभौमिक बेईमानी का, यानी अगर उसको राजनीतिक-अर्थशास्त्रीय शब्दावली में कहें तो यही समय बना जब हर भौतिक या नैतिक सामग्री एक व्यापार योग्य मूल्य बन गयी और उसका सबसे सही मूल्य जानने के लिए उसको बाजार में लाया जाने लगा।'

इस बात को अनेक पूंजीवादी विचारक जानते-समझते हैं, मगर वे उसके विरुद्ध रोष या क्षोभ नहीं प्रकट करते। कलाकार को इस कुत्सित स्थिति के विरुद्ध विद्रोह करना चाहिए, और अनेक बुद्धिजीवी इस स्थिति को पहचान कर पूंजीपति वर्ग से नाता तोड़कर मजदूर वर्ग के पक्ष में आ खड़े होते हैं। प्लेखानोव ने इस स्थिति के विषय में "कम्युनिस्ट घोषणापत्र" से यह उद्धरण दिया। "ऐसे समय में जब वर्ग संघर्ष निर्णयकारी घड़ी के निकट पहुँच जाता है, तब शासक वर्ग के अन्दर, पुराने समाज के अन्दर, हर क्षेत्र में, विघटन की निरन्तर जारी प्रक्रिया ऐसा उग्र और सुस्पष्ट चरित्र ग्रहण कर लेती है कि शासक वर्ग का एक छोटा-सा हिस्सा अपने को उससे अलग कर लेता है और उस क्रान्तिकारी वर्ग में शामिल हो जाता है जो अपने हाथ में भविष्य सँभाले होता है। इसलिए जैसे पहले सामन्ती अभिजात वर्ग का एक हिस्सा पूंजीपति वर्ग के पक्ष में चला गया था, वैसे ही अब पूंजीपति वर्ग का एक भाग सर्वहारा वर्ग के पक्ष में चला जाता है और विशेषकर इनमें पूंजीवादी विचारकों का एक अंश होता है जिन्होंने सर्वांग ऐतिहासिक आन्दोलन को सैद्धान्तिक रूप से समझ लेने के स्तर तक अपने को उठा लिया होता है।" (वही, पृष्ठ २२३)

जो पूंजीवादी विचारक सर्वहारा वर्ग के पक्ष में चले आते हैं, उनमें कलाकार क्यों कम होते हैं, इसका कारण बताते हुए प्लेखानोव ने कहा कि विचारक लोग ही हैं जो मार्क्स के शब्दों में "सर्वांग ऐतिहासिक आन्दोलन को सैद्धान्तिक रूप से समझ लेने के स्तर तक अपने को उठा लेने" में समर्थ हो सकते हैं मगर आधुनिक कलाकार, किसी युग के महान कलाकारों के विपरीत, बहुत कम चिन्तन करते हैं। प्लेखानोव के समय से स्थिति बहुत बदल गयी और पूंजीपति वर्ग इतना चतुर हो गया है कि उसने कलाकार को और भी कई अदृश्य सूत्रों से बाँध रखा है। जो भी हो, प्लेखानोव का यह कहना आज भी सही है कि "विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि अगर कमोबेश हर एक प्रतिभाशाली कलाकार हमारे युग के मुक्तिदायी विचारों को आत्मसात कर ले तो उसकी क्षमता काफी बढ़ जायगी। सिर्फ यही है कि उन विचारों को उसके हाड़-माँस का अंग बन जाना चाहिए और उनको एक कलाकार की भाँति सही रीति से अभिव्यक्त करना चाहिए।" यहाँ पर प्लेखानोव ने फुटनोट में फ्रांसीसी विद्रोही उपन्यासकार फ्लाबेर का (जो मजदूर आन्दोलन का विरोधी बन गया था) एक उद्धरण दिया और कहा, 'मुझे यहाँ फ्लाबेर का उद्धरण देते सन्तोष हो रहा है। उसने ज्यार्ज सैंड को एक पत्र में लिखा था, 'मेरा विश्वास है कि रूप और सार दो ऐसी इकाइयाँ हैं जिनका कभी एक-दूसरे से अलग अस्तित्व नहीं होता।' इसके आगे स्वयं प्लेखानोव ने जोड़ा, 'जो यह समझता है कि कला रूप को 'विचार के बिना' बनाया गढ़ा जा सकता है, वह अगर कभी कलाकार रहा है तो इसके बाद कलाकार नहीं रह जाता।"



मार्क्सवादी आलोचना की समस्याएँ

—लूनार्चास्की

एक

हमारा साहित्य अपने विकास के एक निर्णायक दौर से गुजर रहा है। हमारे देश में एक नये जीवन का निर्माण हो रहा है और साहित्य—हालांकि अभी तक अपरिभाषित और असंतुलित रूपों में—इस नए जीवन को प्रतिबिम्वत करने के लिए अधिक से अधिक सीख रहा है; यह विल्कुल स्पष्ट है कि आगे चलकर निर्माण की इस प्रक्रिया के राजनैतिक और विशेषकर नैतिक प्रभाव को ज्यादा दक्षता के साथ प्रस्तुत कर सकेगा।

यद्यपि हमारे देश में अन्य देशों की अपेक्षा पृथक् वर्गों में विरोध नहीं के वरावर है फिर भी यह सोचना कि हमारा देश पूरी तौर पर वर्गहीन है—अभी असम्भव है। किसानों और श्रमजीवियों के पक्षधर साहित्य की अपरिहार्यता को मानने वालों के अलावा देश में ऐसे भी तत्व मौजूद हैं जिन्होंने पुरानी मनोवृत्ति को वनाए रखा है तथा जिन्होंने अभी तक अपने को सर्वहारा के अधिनायकत्व में मिलाया नहीं है या जो श्रमजीवी जनता द्वारा निर्मित किए जा रहे समाजवाद की बुनियादी विचारधारा को अपनाने में खुद को अक्षम पाते हैं।

पुराने और नए के वीच संघर्ष जारी है। पुराने शासक वर्ग का अवशेष, अतीत, यूरोप और नए मध्य वर्ग का प्रभाव जो एक निश्चित सीमा तक नयी आर्थिक नीति के भीतर घुसा हुआ है—अपने को लचीचा वना रहा है। ये विभिन्न तत्व केवल व्यक्ति समूहों और व्यक्तियों के प्रचलित मिज़ाज में ही नहीं दिखायी देते वल्कि हर चीज में घुले-मिले हैं। यह याद रखा जाना चाहिए कि पूंजीवाद की घोषित साफ और सुनियोजित शत्रुतापूर्ण विचारधारा के अलावा एक और भी तत्व है जो कि शायद ज्यादा खतरनाक है और जिसे पराजित करना वहुत मुश्किल है—वह है रोज़ के जीवन में घुसी निम्न पूंजीवादी मनोवृत्ति जिसने सर्व-

[illegible] और यहाँ तक कि साम्यवादियों के भी रोजमर्रा के व्यवहार में कहीं गहरे [illegible] कर लिया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि एक नये जीवन दर्शन के निर्माण के क्रम में—जिन पर सर्वहारा के समाजवादी आकांक्षा की छाप कम होने के बजाय उनके पूर्ण अभाव में बनाए हुए हैं—वर्ग संघर्ष पहले से अधिक गहन और सूक्ष्म स्तर पर उत्तरदायित्व ग्रहण कर रहा है। यही वह परिस्थिति है जो [illegible] रूप में साहित्य को आज के समय में नितान्त महत्वपूर्ण बनाती है। यही परिस्थितियाँ सर्वहारा व राजकीय साहित्य के साथ-साथ शत्रुतापूर्ण साहित्य के निस्सरण का कारण भी बनती हैं—इससे मेरा तात्पर्य केवल सचेतन और विवेक रूप में शत्रुतापूर्ण तत्वों से ही नहीं बल्कि अकर्मण्यता, निराशावाद व्यक्तिवाद, ईर्ष्यापूर्ण पूर्वाग्रह, हिंसा, मिथ्या वर्णन आदि अचेतन रूप में शत्रुतापूर्ण और विरोधी तत्वों से भी है।

दो

इन हालात के तहत जिसमें साहित्य को महत्वपूर्ण भूमिका अदा करनी है—मार्क्सवादी आलोचना पर भी विचारणीय जिम्मेदारी आ जाती है। साहित्य के साथ ही साथ बिना किसी संदेह के अब इस बात पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि नवमानव नव जीवन दर्शन के निर्माण की प्रक्रिया में आलोचना को पूरी प्रखरता और ऊर्जा के साथ साझीदार होना है।

तीन

मार्क्सवादी आलोचना, अन्य सभी प्रकार की साहित्यिक आलोचनाओं से मुख्यतः इस तथ्य के आधार पर विशिष्ट है कि, मार्क्स और लेनिन के समाजशास्त्र पर आधारित यह अपनी प्रकृति में समाजशास्त्रीय है। बहुधा साहित्यिक इतिहासकार और साहित्यिक आलोचक के काम में अन्तर माना जाता है। यह माना जाता है कि इतिहासकार का काम अतीत और वर्तमान के विश्लेषण का उतना नहीं जितना कृति के उद्गम, स्थान, सामाजिक बनावट और प्रभाव के निरीक्षण का है जब कि साहित्यिक आलोचक का कार्य कृति का विशुद्ध तात्विक और सामाजिक गुण दोष की दृष्टि से मूल्यांकन करना है।

मार्क्सवादी आलोचक के लिए इस प्रकार का अन्तर उसकी मान्यताओं को भटकाने वाला है यद्यपि 'आलोचना' शब्द के सुनिश्चित बोध में यह कार्य अवश्य ही मार्क्सवादी आलोचना का एक अंग होना चाहिए किन्तु समाजशास्त्रीय विश्लेषण इसमें भी अधिक अनिवार्य व बुनियादी तत्व है।

चार

एक मार्क्सवादी आलोचक समाजशास्त्रीय विश्लेषण का कार्य किस प्रकार

करता है ? मार्क्सवाद सामाजिक जीवन को एक संघटित इकाई के रूप में मानता है जिसमें विभिन्न घटक एक दूसरे पर आश्रित होते हैं तथा भौतिक व आर्थिक संबंध जिसमें श्रम के प्रकार प्रमुख हैं अपनी निर्णायक भूमिका अदा करते हैं। उदाहरण के लिए, एक युग के सामान्य विश्लेषण के लिए एक मार्क्सवादी आलोचक उस युग के सम्पूर्ण सामाजिक विकास का पूरा खाका प्रस्तुत करने का प्रयास करेगा। किन्तु जब केवल एक लेखक पर या किसी कृति विशेष पर वहस हो तव यह जरूरी नहीं कि मूलभूत आर्थिक-सामाजिक स्थितियों का विश्लेषण किया जाय। यहाँ सदैव प्रामाणिक सिद्धांत–जिसे हम प्लाखेनोव का सिद्धान्त कहते हैं-अपने पूरे विस्तार के साथ लागू किया जा सकता है। वह वतलाता है कि एक प्रदत्त समाज में कोई कृति सीधे उत्पादन-सम्वन्धों पर नितान्तन गण्य सीमा तक आधारित होती है। वह उत्पादन-सम्वन्धों पर-समाज के वर्गीय ढांचे और सामाजिक मनोविज्ञान जो कि वर्गीय हितों के परिणाम स्वरूप वनता है—की अन्तवर्ती कड़ियों के माध्यम से निर्भर होती है। एक साहित्यिक कृति सदैव चेतन अथवा अचेतन रूप में उस वर्ग के मनोविज्ञान को जिसका कि लेखक प्रतिनिधि होत है—प्रस्तुत करती है। अन्यथा जैसा कि अक्सर होता है वह लेखक पर पड़ने वाले विभिन्न वर्गों के प्रभाव के मिश्रण को प्रतिविम्वित करती है। यही मार्क्सवादी आलोचक के सूक्ष्म विश्लेषण का विषय है।

पांच

कला की प्रत्येक विधा में वर्ग विशेष या विशाल जन समूह की बृहत्तर सामाजिक प्रवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक सम्वन्ध प्रधानतया उनकी विषय वस्तु द्वारा निर्धारित होता है। साहित्य जो कि विचार और शब्द की कला है—कला के अन्य रूप से 'रूप' की तुलना में विषय वस्तु द्वारा महत्वपूर्ण तरीके से अलग है। साहित्य में कलात्मक विषय वस्तु—विचारों के प्रवाह और संवेदनाबिम्वों द्वारा या विम्वों से जुड़ी हुयी—कृति की पूर्णता का निर्णायक तत्व होती है—यह साफ देखा जा सकता है। विषय वस्तु स्वयं ही एक निश्चित रूप धारण करने का प्रयास करती है। यह कहा जा सकता है कि एक निश्चित विषयवस्तु का उसी के अनुरूप आदर्श रूप होगा। एक लेखक अधिक या कम सामर्थ्य के साथ अपने विचारों, घटनाओं और अनुभावों के अनुरूप ही अभिव्यक्ति का रूप अपनाना है जो विषय-वस्तु को पूरी स्पष्टता के और गहरे प्रभाव के साथ उन पाठकों तक संम्प्रेषित करती है जिनके लिए उसने कृति की रचना की है। इस प्रकार मार्क्सवादी आलोचक सबसे पहले अपने विश्लेषण का आधार कृति की विषयवस्तु और उसके द्वारा पड़ने वाले सामाजिक प्रभाव को वनाता है। वह विशेष सामाजिक समूह के साथ कृति के सम्वन्ध को निर्धारित करता है जिसका प्रभाव पूरे सामाजिक जीवन पर पड़ सकता है। इसके वाद वह रूप की ओर आता है और रूप का विश्लेषण मुख्यतया इस दृष्टि से करता है कि रूप विशेष अपने उद्देश्य में कितना सफल रहा है याने वह कृति को किस सीमा तक संभव रूप में प्रभावकारी और ग्राह्य बनाता है।

छः

यह असम्भव है कि साहित्यिक रूपों के विश्लेषण के खास काम की उपेक्षा कर दी जाय। मार्क्सवादी आलोचक को यकीनन इस ओर से आँख नहीं मूंद लेनी चाहिए। सच तो यह भी है कि किसी कृति का रूप न केवल उसकी विषयवस्तु द्वारा बल्कि अन्य तत्त्वों द्वारा भी निर्धारित होता है। एक निश्चित वर्ग या वर्ग समूहों—जिनकी कृति पर प्रभाव पड़ता है—का मनोविज्ञान, विचार-प्रक्रिया और संस्कार, सामाजिक संस्कृति का सामान्य भौतिक स्तर पड़ोसियों का प्रभाव, अतीत के संस्कार, पुनर्जीवीकरण के प्रयास जो जीवन के सभी पक्षों में हो सकते हैं—सभी मिलकर रूप को प्रभावित करते हैं या सहायक कारकों के रूप में उसे परिभाषित करते हैं। प्रायः रूप का सम्बन्ध न केवल कृति से वरन् एक पूरे वाद या धारा से जुड़ा होता है। रूप एक ऐसी शक्ति भी होती है जो विषयवस्तु की विरोधी या हानिकारक हो। कभी-कभी वस्तु से अलग होकर रूप अमूर्त एवं आकार की प्रवृत्ति धारण कर लेता है। यह तब घटित होता है जब कोई साहित्यिक कृति वास्तविक जीवन से कट कर अपने वर्ण्य विषय से अलग हट जाती है और मात्र वर्गों की प्रवृत्तियों का वर्णन करने लगती है। अथवा वास्तविक जीवन के यथार्थ को भारी भरकम शब्दों की लफ्फाजी, खिलवाड़ और दिखावटीपन के पीछे छुपाने का प्रयत्न करती है या इसके विपरीत झूठी और वंचनापूर्ण होती है। इन सारी बातों को अवश्य ही मार्क्सवादी आलोचना का एक भाग होना चाहिए और इसकी जरूरत है। जैसा कि पाठक देख सकते हैं कि उपरोक्त तथ्य एक साधारण सिद्धान्त का विरोध करते हैं कि प्रत्येक उच्च श्रेणी की कृति अथवा क्लासिक में रूप पूरी तौर पर विषयवस्तु द्वारा निर्धारित होता है और हर वह साहित्यिक कृति जो उच्च श्रेणी का या क्लासिक बनने का प्रयत्न करती है—किसी भी प्रकार से सामाजिक जीवन से कट नहीं सकती। इसलिए प्रत्येक साहित्यिक कृति को उसके सामाजिक परिप्रेक्ष्य में ही देखा जाना चाहिए।

सात

अभी तक हमने अपना ध्यान मुख्यतया मार्क्सवादी आलोचना के क्षेत्र में साहित्यिक ज्ञान की क्रियाओं पर ही केन्द्रित किया है। मार्क्सवादी आलोचक यहाँ एक वैज्ञानिक समाजशास्त्री के रूप में आता है जो विशेषतया मार्क्सवादी विश्लेषण की विधियों को एक खास क्षेत्र-साहित्य में लागू करता है। मार्क्सवादी आलोचना के संस्थापक प्लेखानोव ने बहुत जोर देकर कहा है कि यही वास्तविक कार्य है जिसे एक मार्क्सवादी को करना है। उन्होंने बताया है कि एक मार्क्सवादी अन्य प्रकार के प्रबुद्धजन से इसी अर्थ में भिन्न है। उदाहरण के लिए इस तथ्य को लिया जा सकता है कि एक प्रबुद्ध जन साहित्य के विशेष उद्देश्य और माँग के बारे में बतलाता है और विशेष आदर्शों की दृष्टि से साहित्य के बारे में निर्णय करता है जबकि मार्क्सवादी कृति विशेष की उत्पत्ति के प्राकृतिक कारणों पर प्रकाश डालता है।

आठ

वह कौन सा प्रतिमान है जिसे किसी साहित्यिक कृति के विकास का आधार बनाया जा सकता है ? हमें सब से पहले वर्ण्य विषय की दृष्टि से इसे परखना चाहिये। यहाँ सब कुछ एकदम साफ है। हमारा मूल आधार वही है जो नवजात सर्वहारा सौन्दर्यशास्त्र का है। हर वह चीज जो सर्वहारा के विकास और विजय में सहायक है अच्छी है और हर वह चीज जो नुकसान पहुँचाती है-बुरी है।

मार्क्सवादी अलोचक को यह पता लगाने का अवश्य प्रयास करना चाहिए कि किसी कृति विशेष में व्यक्त मूल सामाजिक विचारधारा क्या है, उसका स्त्रोत क्या है ? और अपनी प्रक्रिया में वह विवेकपूर्ण है या नहीं। कृति के विकास को अवश्य ही मूल सामाजिक और गतिशील तत्त्व पर आधारित होना चाहिए।

किसी कृति के सामाजिक विषयवस्तु के विकासशील क्षेत्र में हर चीज सरलता से वहुत दूर है इसलिए मार्क्सवादी आलोचक को वहुत निपुण और संवेदनशील होने की आवश्यकता है। इसका मतलब केवल उसकी मार्क्सवादी शिक्षा से ही नहीं वल्कि प्रतिभा विशेष से भी है जिसके अभाव में कोई अलोचना हो नहीं सकती। वास्तव में, किसी उच्चकृति के मामले में, वहुत से पहलू हैं जिनका मूल्यांकन होता है और यह बहुत ही मुश्किल है कि इस तरह के मामले में किसी तरह के मापदण्ड या थर्मामीटर का प्रयोग किया जाय। यहाँ उस चीज़ की जरूरत है जिसे हम सामाजिक संवेदना के नाम से जानते हैं अन्यथा गल्तियाँ होना अवश्य सम्भावी हैं। मार्क्सवादी आलोचक को केवल उन्हीं कृतियों पर ध्यान नहीं देना चाहिए जो समकालीन समस्याओं से जुड़ी हैं या उन पर प्रमुख रूप से ध्यान देती है। समकालीन समस्याओं के महत्व से बिना इन्कार किये हुए यह पूरी तरह असम्भव है कि उनके जवरदस्त परिणाम की उपेक्षा कर दी जाय जो पहले तो वहुत मामूली और साधारण दिखाई देती हैं किन्तु सूक्ष्मता से निरीक्षण करने पर सामाजिक जीवन पर प्रभाव डालने वाली होती हैं। यहाँ अलोचना की कार्य-प्रक्रिया वही है जो विज्ञान की है। यह कहना या समझना कि विज्ञान पूरी तरह व्यावहारिक जीवन के प्रति सर्मपित होता है—वहुत वड़ी चूक है। यह काफी जानी बूझी वात है कि अधिकांश अमूर्त वैज्ञानिक प्रमेय जब सिद्ध कर लिए जाते हैं—वहुत ही लाभदायक होते हैं।

फिर भी, यह महत्वपूर्ण है कि कोई कवि या लेखक यदि वह सर्वहारा लेखक है—साधारण समस्याओं के समाधान का प्रयास सर्वहारा संस्कृति के मूलाधारों के पुनर्मूल्यांकन के दृष्टिकोण से करता है तो एक आलोचक सहज ही भ्रम में पड़ सकता है। पहली वात तो यह है कि इस तरह के मामलों में अभी तक हमारे पास कोई निश्चित मापदण्ड नहीं है और दूसरे परिकल्पनाओं में—सब से साहसिक परिकल्पना जिससे न केवल अन्तिम समाधान के रूप में हम सम्वन्धित हैं बल्कि समस्याओं की चर्चा व विश्लेषण हेतु भी जुड़े हैं—का एक मूल्य यहाँ हो सकता है। एक निश्चित सीमा तक यह सव कुछ सामाजिक रुचि व उसी प्रकार के साहित्य के बारे में है। एक लेखक जो हमारे कार्यक्रमों के बारे में जिनका सर्वाङ्गीण विकास हो चुका है, अपनी कृति में वर्णन करता है, घटिया लेखक है। लेखक तभी महत्वपूर्ण हो सकता है जब वह कुंवारी धरती को जोतता है, जब वह अपनी अन्तः प्रज्ञा द्वारा एक ऐसे क्षेत्र में प्रवेश करता है जहाँ तर्क और

आदर्शों का प्रश्न निहित है। इसका निर्णय करना कि एक लेखक क्या सही है, क्या उसने समाजवाद के मूल उत्साह और सत्व को सही रूप में अपनाया है—बहुत कठिन काम है। यहाँ भी शायद सही निर्णय आलोचक और पाठक के दृष्टिकोणों के संघर्ष के परिणाम स्वरूप ही प्राप्त किया जा सकता है—किन्तु इन सबसे किसी भी तरह आलोचक के कार्य का महत्व कम नहीं होता। साहित्यिक कृतियों के मार्क्सवादी विचार वस्तु के मूल्यांकन में एक बहुत महत्वपूर्ण तथ्य उस कृति पर अन्तिम निर्णय है जो प्रारम्भिक विश्लेषण की प्रक्रिया में निहित होता है और कभी-कभी हमारे लिए बहुत ही नुकसान देह होता है। निश्चय ही यह बहुत जरूरी है कि हम अपने दुश्मन की प्रकृति और विचार के बारे में जानें और अपने वातावरण से भिन्न, आने वाले चश्मदीद गवाह के बयान को सुनें। बहुधा यह हमें मूल्यवान और गम्भीर निर्णयों तक पहुँचने में मदद करते हैं और हर तरह से जीवन प्रक्रिया के हमारे ज्ञानकोष को समृद्ध और धनी बनाते हैं। एक मार्क्सवादी आलोचक जो यह बतलाता है कि कोई लेखक अथवा कृति किस प्रकार की है, मान लीजिए निम्न पूंजीवादी विचार धारा की है—इससे उसे अपने दृष्टिकोण के हिसाब से उस कृति अथवा लेखक को महत्व हीन या बेकार नहीं मान लेना चाहिये। लाभ का एक बहुत बड़ा अंश इसमें से लिया जा सकता है। इसी कारण, किसी कृति के न केवल बुनियादी विचारधारात्मक दृष्टिकोण से, वरन् हमारे रचनात्मक प्रयासों में इसके शक्तिशाली इस्तेमाल के दृष्टिकोण से भी, अन्तिम मूल्यांकन एक मार्क्सवादी आलोचक का सीधा कार्य है।

मैं इसकी विशेषता बताना चाहूँगा। साहित्य के क्षेत्र में विदेशी और शत्रुतापूर्ण तत्त्व यद्यपि उपरोक्त अर्थ में हमारे लिए कुछ लाभदायक हैं किन्तु वे निश्चय ही बहुत अनिष्टकर प्रतिक्रान्तिकारी और जहर भरे प्रचार से भी प्रेरित हो सकते हैं। यह कहना जरूरी है कि यह केवल मार्क्सवादी आलोचना की मर्यादा की ओर ही नहीं बल्कि मार्क्सवादी सेंसरशिप की ओर भी एक संकेत है।

नौ

मार्क्सवादी आलोचक का कार्य तब और भी जटिल हो जाता है जब वह वस्तु के मूल्यांकन से रूप के मूल्यांकन की ओर आता है। यह नितान्त महत्वपूर्ण कार्य है और प्लेखानोव ने इसकी आवश्यकता पर बड़ा बल दिया है। तो मूल्यांकन का सामान्य मापदण्ड यहाँ क्या हो? रूप—कथ्य को अधिकतम अभिव्यक्तिशील और पाठकों-जिनके लिए कृति लिखी गयी है पर जबरदस्त प्रभाव डालने योग्य—वस्तु के जितना निकट सम्भव हो सकता है उतना अनुरूप होता है।

सबसे पहले और सबसे महत्वपूर्ण तात्त्विक प्रतिमान जिसकी प्लेखानोव ने हमेशा वकालत की, की चर्चा यहाँ करनी चाहिए—वह यह कि साहित्य बिम्बों की कला है और शुद्ध विचारों या प्रचार का प्रत्येक आक्रमण कृति के लिए हानिकारक सिद्ध होता है। यह साफ जाहिर है कि प्लेखानोव का यह मापदण्ड सार्वभौम नहीं है। उदाहरण के लिए, साल्तिकोव, शेद्रिन, उस्पेन्स्की और चर्नीशेव्स्की का साहित्य इस मापदण्ड के विरुद्ध घोषित पाप है और इसका मत-

लव यह हुआ कि इस प्रकार का साहित्य ललित साहित्य और पत्रकारिता के समागम से पैदा हुआ वर्ण संकर और दोगला साहित्य है। हर सम्भव तरीके से इस बात की उपेक्षा करनी चाहिये। यह सही है कि पत्रकारिता जो प्रचार की एक शानदार और कलापूर्ण शैली है और साहित्य अपने शाब्दिक अर्थ में इसके ठीक उलटा। शुद्ध पत्रकारिता के तत्वों से भरा हुआ कलात्मक ललित साहित्य चाहे वह कितना ही अपने तर्क में सौष्ठव पूर्ण हो पाठकों पर एक निष्क्रिय प्रभाव छोड़ेगा। इस अर्थ में यदि विषय वस्तु चमकते हुए पिघले लोटे की तरह धारा विम्बमाला में प्रवाहित होती हो और इस धारा से विशाल ठंडे पिण्ड न बनते हों तो मार्क्सवादी आलोचक को पूरा अधिकार है कि वह रचनाकार द्वारा विषय वस्तु को साहित्यिकता प्रदान करने की असमर्थता के बारे में बतलाये।

दूसरा खास मापदंड जो उपरोक्त वर्णित मापदण्ड से आगे काम करता है रूप की मौलिकता से सम्बन्ध रखता है। यह मौलिकता कहाँ होती? महत्व कृति के तात्विक ढाँचे—जो विचार और विषय वस्तु से मिलकर अभेद्य होता है : का है। एक सच्ची कलाकृति निश्चय ही अपने वर्ण विषय में नयी होती है। यदि वर्ण विषय नया नहीं है तो उसका महत्त्व कुछ भी न होगा—एकदम साफ है। एक कलाकार को कुछ ऐसा अभिव्यस्त करना होता है जो उसके पहले नहीं कहा गया है। पुर्नअनुकृति कला नहीं है (कुछ चित्रकार इस बात को समझने में कठि-नाई अनुभव करते हैं) बल्कि सिर्फ दस्तकारी है यद्यपि बाज वक्त यह बहुत सुन्दर होती हैं। इस दृष्टि से प्रत्येक नयी रचना का नया विषय वस्तु नये रूप की माँग करता है।

रूप की इस वास्तविक मौलिकता का विभेद हम किस प्रकार कर सकते हैं? प्रथम तो रूप की रूढ़िवद्ध धारणा होती है जो कृति में नये विचार को वास्तविकता के साथ समाहित होने से रोकती है। एक लेखक पूर्व प्रयुक्त रूपों पर आसक्त हो सकता है तद्यपि उसकी विषय वस्तु नयी हो—यह पुराने शराब के प्याले में डूबना होगा। इस प्रकार की अपर्याप्तताओं पर ध्यान देने में चूक नहीं होनी चाहिये। दूसरे, रूप सहज ही कमजोर हो सकता है। याने नयी रोचक विषय वस्तु की अभिप्रेरणा होने पर भी लेखक भाषिक संवेदना के तात्विक स्त्रोतों को न पा सका हो अर्थात् शब्दावली, मुहावरा, सम्पूर्ण कहानी, अध्याय निर्माण उपन्यास नाटक की सम्पदा से और लय के अर्थ में काव्य व अन्य काव्य रूपों से अपरिचित हो। यह सब कुछ मार्क्सवादी आलोचक द्वारा दिखाया जाना चाहिये। एक सच्चे मार्क्सवादी आलोचक या इसी तरह के समग्र रूप में आलो-चक को आमतौर पर सबके लिए और खास तौर पर नये व शुरुवात करने वाले लेखकों का शिक्षक होना चाहिये।

रूप की मौलिकता के खास नियम के विरुद्ध तीसरा प्रमुख दोष रूप की अति मौलिकता है। जहाँ विषय वस्तु के खोखलेपन को शुद्ध खोजों और अलं-करण के द्वारा छिपाया जाता है। पूंजीवादी पतन काल के विशिष्ट प्रतिनिधियों रूपवादियों के छूत का मारा हुआ लेखक सचेतन तरीके से अपने सच्चे और वजन-दार कथ्य को सजाने-संवारने के विभिन्न चक्कर में पूरी कृति को चौपट कर देता है। एक आलोचक को सावधानी के साथ तात्विक प्रकृति के एक प्रतिभान—कृति की सार्वभौमिकता को भी परखने का प्रयास करना चाहिये। तालस्ताय ने इस बारे में जोर दे कर कहा है—हम जो एक ऐसे साहित्य के निर्माण के इच्छुक

है जो सर्वहारा जीवन के उद्भासित सिद्धान्त के जनक के रूप में हो—सार्वभौमिकता के प्रति भी रुचि रखती है। मौन, अलगाव, एक विशेष वर्ग का सौन्दर्य, रहस्यात्मिकता और अन्तर्मुखता—कला के इन सभी रूपों को एक मार्क्सवादी आलोचक द्वारा निरस्त कर दिया जाना चाहिये। अतीत और वर्तमान की ऐसी कृतियों के गुणों की ओर संकेत आवश्यक है और यह बताते समय ही उस कलाकार की मानसिक बनावट की निन्दा भी करनी पड़ेगी जो अपने आप को सारी सच्चाई से इस प्रकार के कला-रूपों द्वारा काटकर अलग कर लेता है।

पर जैसा कि ऊपर कहा गया है, सार्वभौमिकता के प्रतिमान का बहुत सावधानी के साथ इस्तेमाल करना चाहिए। हम अपने प्रेस और प्रचार साहित्य में ऐसी सरल कृतियों, जर्नल्स, शोध पत्रों का उपयोग कर रहे हैं जो पाठक की विशेष शिक्षा की माँग अत्यन्त प्राथमिक लोक-रुचि के स्तर पर करती हैं किन्तु साथ ही हम अपने समस्त साहित्य को अभी तक असुसंस्कृत किसान मजदूरों के स्तर तक नहीं ला सकते। ऐसा करना भारी भूल होगी।

वह लेखक महान् होता है जो एक जटिल समस्या और एक मूल्यवान सामाजिक विचारधारा को इस जबरदस्त कलात्मक सरलता के साथ अभिव्यक्त कर देता है कि वह करोड़ों जनता के दिलों में जगह बना लेती है। वह लेखक भी महान है जो अपेक्षाकृत सरल और प्रारम्भिक विषयवस्तु द्वारा दस करोड़ों जनता तक पहुँचता है। मार्क्सवादी आलोचक को इन्हें ऊँचा सम्मान देना चाहिए। यहाँ उसके विशेष ध्यान और विवेकपूर्ण सहायता की जरूरत है। किन्तु इसी के साथ निश्चय ही उन कृतियों के महत्व से इन्कार नहीं किया जा सकता जो हर साक्षर व्यक्ति के लिए ग्राह्य नहीं हैं, जो सर्वहारा संस्कृति के उच्च स्तर तक पहुँचे हुए लोगों, बुद्धिजीवियों या पार्टी के अभिजात्य सदस्यों मात्र तक ही सम्प्रेषणीय हैं। जनसंख्या के इस भाग के जीवन की ज्वलंत समस्यायें, जो समाजवाद के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं: सहज ही एक कलात्मक उत्तर के बिना इसलिए नहीं छोड़ी जा सकतीं कि उनका सामना अभी तक विशाल जनसमूह से नहीं हुआ है या उन्हें सार्वभौम स्तर पर नहीं लिया जा सकता। इस ओर ध्यान नहीं दिया जाना चाहिए कि जब हम एक निश्चित पथ पर बहुत दूर चले आए हैं हमारे लेखक पाठकों के एक सुसंस्कृत वर्ग के लिए लिखने पर स्वयं को एक ऐसे समय में केन्द्रित कर रहे हैं जब कि मैं बलपूर्वक दुहराता हूँ कि किसानों और मजदूरों की भलाई के लिए प्रतिभाशाली और सफल साहित्य के विशेष मूल्यांकन की आवश्यकता है।

दस

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मार्क्सवादी आलोचक एक महत्वपूर्ण सीमा तक शिक्षक भी होता है। हमारी 'आलोचना' तब तक महत्वहीन है जब तक कि वह कुछ अच्छे और प्रगतिशील कार्य न करके दिखाये। और यह प्रगतिशील कार्य क्या होने चाहिए? पहली बात यह है कि मार्क्सवादी आलोचक का शिक्षण एक लेखक के शिक्षक के रूप में होना चाहिए। यह बहुत सम्भव है कि

इस बात पर लोग गुस्से में भर कर चीखें कि कोई आलोचक को लेखक से ऊँचा होने या खुद को समझने का अधिकार नहीं दे सकता किन्तु जब बात का सही विश्लेषण किया जायगा तो इस तरह के सारे आरोप रद्द हो जाएँगे। प्रधानतया यह कहने से कि मार्क्सवादी आलोचक को लेखक का शिक्षक होना चाहिए यह मतलब होता है कि उसे निश्चित दृढ़ और अटल मार्क्सवादी तथा बहुश्रुत, पांडित्य पूर्ण व निर्दोष रूचि का व्यक्ति होना चाहिए। यह कहा जाता है कि हमारे पास इस तरह के आलोचक नहीं है या एकाध हैं। इस कथन के पहले अंश में हमारे विरोधी गलत हैं और दूसरे अंश में सच्चाई के नजदीक हैं। पर इससे केवल यही नतीजा निकाला जा सकता है कि हमारे लिए सीखना निहायत जरूरी है। हमारे देश में दृढ़ता व प्रतिभा की कोई कमी नहीं है लेकिन अभी हमें बहुत मेहनत के साथ सीखना है। दूसरी बात यह है कि आलोचक खुद को लेखक से ऊँचा मानकर कभी लेखक का शिक्षक नहीं हो सकता बल्कि लेखक से एक जरूरी हिस्से तक सीख कर ही हो सकता है। श्रेष्ठ आलोचक वही है जो लेखक का बिना किसी उत्साह या प्रशंसा के निरीक्षण कर सकता है और जो हर तरह से अपने आप में पूर्ण है। एक मार्क्सवादी आलोचक लेखक का शिक्षक दो प्रकार से हो सकता है और उसे होना चाहिए—एक तो, खास तौर पर नये लेखकों और आम तौर पर सभी लेखकों को उनकी कृतियों की तात्विक भूलें दिखा सकने में सक्षम होकर। प्रायः यह कहा जाता है कि अब हमें किसी बेलिस्की की जरूरत नहीं है, हमारे लेखकों को किसी भी प्रकार के पथ प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं है। यह कहना क्रांति के पहले सही हो सकता था पर क्रांति के बाद जब हमारी जनता के बीच से सैकड़ों हजारों नए लेखक आ रहे हैं—यह कहना हास्यास्पद है। एक दृढ़, पथ प्रदर्शक, चरित्र बल में बेलिस्की की तरह, सर्वहारा चेतना से पूर्ण, साहित्यिक प्रवृत्तियों का ज्ञात रखने वाली आलोचना पूरी तरह जरूरी है।

दूसरे, मार्क्सवादी आलोचक को सामाजिक संदर्भों में भी लेखक का शिक्षक होना चाहिए। न केवल एक पूँजीवादी लेखक बहुधा अपनी सामाजिक विचार-धारा की पैदावार होने के कारण सामाजिक जीवन के नियमों की ऐतिहासिकता व युग के मूलाधारों को समझाने में असफलता के कारण अशिष्ट गलतियाँ कर बैठता है बल्कि एक मार्क्सवादी सर्वहारा लेखक के साथ भी अक्सर यह घटित होता है। हालांकि नहीं के बराबर। यह कहना लेखक का अपमान नहीं, एक भिन्न अर्थ में सम्मान ही है।

लेखक एक संवेदनशील और वास्तविक प्रभावों को तुरन्त ग्रहण करने वाला प्राणी होता है। अधिकांशतः लेखक के पास अमूर्त वैज्ञानिक चिंतन के प्रति न तो विशेष रूचि होती है और न प्रतिभा ही। निश्चय ही इस कारण प्रायः वह बहुत बेसब्री से प्रत्कारिता—आलोचना से मदद लेने के किसी प्रस्ताव को ठुकरा देते हैं। हालांकि यह तभी होता है जब प्रस्ताव बहुत ही दंभ के साथ किए जाते हैं। फिर भी यह देखा जा सकता है कि महत्वपूर्ण लेखकों और प्रतिभावान आलोचकों के आपसी सहयोग से महान साहित्य का जन्म हुआ है और अब भी हो रहा है।

ग्यारह

सार्थक तरीके से लेखक को शिक्षित करने की कोशिश के साथ ही साथ

मार्क्सवादी आलोचक को पाठक को भी शिक्षित करने की कोशिश करनी चाहिए। नये पाठकों को पढ़ना सिखाया जाना चाहिए। आलोचक एक ऐसा पथ प्रदर्शक है जो भाववाद, मिठाई में मिले जहर के प्रति सचेतक, कड़ी सीपी को तोड़कर मोती निकालने वाले, गुमनामी में छिपी संपदा को बाहर निकालने वाले व्यक्ति का काम करता है, जो समस्त वादों का निषेध कर कलात्मक सौंदर्य तत्वों के आधार पर साधारणीकरण प्रस्तुत करता है और इसीलिए ऐसे समय में जब बहुत बड़ी तादाद में नौसिखुए मगर अनुभव हीन पाठकों की जमात पैदा हो गयी है—वह महत्वपूर्ण हो उठा है।

रूस के अतीत के साहित्य व विश्व साहित्य से पाठकों का रिश्ता और समकालीन साहित्य से सम्बन्ध जोड़ने का काम आलोचक का है। मैं एक बार फिर उस अत्यन्त जरूरी मांग पर विशेष बल देता हूँ जो मार्क्सवादी आलोचक से युग की पुकार है। मैं इस विषय से किसी को डराना नहीं चाहता हूँ। मार्क्सवादी आलोचक निर्भीक भाव से यहाँ तक कि गलतियाँ करते हुए भी प्रारम्भ कर सकता है। लेकिन उसे हमेशा यह याद रखना चाहिए कि उसे बहुत ऊँचाई तक चढ़ना है तथा पहाड़ के शिखर तक सीढ़ी दर सीढ़ी तल्लीनता के साथ चढ़ते हुए अपने को प्रशिक्षार्थी ही समझना है। हालांकि यह नामुमकिन है फिर भी हो सकता है कि वह विशाल संस्कृति की उठती हुई विराट् लहरों को न गिन सके और प्रतिभाशील साहित्य के बड़े झरने की हर बूंद, जो सब जगह चौतरफ फैल रही है को न पहचान सके। यह विश्वास करना असम्भव नहीं है कि वर्तमान मार्क्सवादी आलोचना की स्थिति जो पूरी तरह संतोषजनक न हो—जल्दी ही गुजर जायगी।

बारह

मैं प्रबन्ध के उपसंहार के रूप में दो प्रश्नों पर और विचार करना चाहूँगा। मार्क्सवादी आलोचना पर प्रायः यह आरोप लगाया जाता है कि वह मात्र जानकारी देने का काम करती है। वास्तव में एक लेखक के बारे में अब यह कहना कि वह 'अचेतन' 'अर्धचेतन' या प्रतिक्रांतिकारी विचार का है पूरे तौर पर खतरनाक होगा। और उन मामलों में जब एक लेखक पूंजीवादी निम्नवृत्ति वाला या दक्षिण पंथी या उनका सहयोगी अथवा विदेशी तत्व समझा जाता है या जब एक लेखक पर इस या उस क्षेत्र में विचलन का आरोप लगाया जाता है तब समूची स्थिति संदिग्ध प्रतीत होने लगती है। क्या सचमुच जनता ने आलोचक से लेखक की राजनीतिक संदिग्धता, अस्थिरता या असफलता के बारे में बताने का काम सौंपा है? हमें ऐसे प्रत्याख्यानों का जोरदार तरीके से खण्डन करना चाहिए। ऐसा आलोचक जो इस प्रकार के तरीकों का उपयोग अपनी व्यक्तिगत दुश्मनी निभाने के लिए अथवा स्वच्छंदता पूर्वक किसी की निन्दा करने के लिए करता है नीच है और उसकी यह नीचता जल्दी या देर में हमेशा प्रकाश में आ जाती है। एक आलोचक जो बिना विचार किये या वस्तु को देखे ऐसे आरोप लगाता है लापरवाह और सतही है। किन्तु वह आलोचक जो अपने वस्तुनिष्ठ सामाजिक विश्लेषण के परिणामों को बलपूर्वक घोषित करने से

डर कर मार्क्सवादी आलोचना के मूलतत्वों में तोड़-फोड़ करता है—लापरवाह और राजनैतिक रूप से निष्क्रिय घोषित किया जाना चाहिए।

इसका अर्थ यह नहीं है कि मार्क्सवादी आलोचक को 'सावधान रहो' की गुहार लगानी चाहिए। यह शासन निकायों से कोई अपील नहीं है। यह एक कृति का हमारे निर्माण में वस्तुनिष्ठ मूल्य निर्धारण है। यह खुद लेखक के द्वारा अपनी कतार ठीक करने के लिए निष्कर्ष निकालना है। हम विचारों के संघर्ष के क्षेत्र में हैं। समकालीन साहित्य व उसके मूल्यांकन के सवाल पर एक भी ईमानदार वर्ग चेतन कम्यूनिस्ट संघर्ष की इस प्रकृति से इन्कार नहीं कर सकता।

और आखीर में यह सवाल : क्या तेज और धारदार वाद-विवाद साहित्य में स्वीकार्य होना चाहिए ?

साधारण तौर पर तीखे विवाद लाभदायक होते हैं क्यों कि वह पाठकों की रुचि को बनाए रखते हैं। विवादास्पद लेख-खास तौर पर जहाँ दोनों ही पक्ष गलत हों—अन्य सब तत्व समान होने पर जनता पर अत्यधिक प्रभाव डालते हैं और जल्दी ग्राह्य होते हैं। इसके अलावा मार्क्सवादी आलोचक सदैव अपने विचारों के तेजी के साथ अभिव्यक्त करने के लिए—ऐसे मौकों पर एक क्रांतिकारी वीरता के साथ आगे आता है किन्तु इसी के साथ यह भी देखा जाना चाहिए कि विवाद कला की दक्षता में अपने तर्कों की कमजोरी को छुपाना आलोचक का बहुत बड़ा अपराध है। सामान्यतया जब तर्क जाल न हो बल्कि उसके स्थान पर कटु टिप्पणियों का ढेर, तुलनाएँ, व्यर्थ की चीख पुकार और चालाक प्रश्न हों—तब विचार विनोदी तो हो सकता है किन्तु गम्भीर कतई नहीं। आलोचना खुद आलोचना पर भी लागू होनी चाहिए और मार्क्सवादी आलोचना पर तो अवश्य ही जो एक साथ विज्ञान और कला दोनों है। आलोचना में गुस्सा अच्छा पथ प्रदर्शक नहीं है और बहुधा इसका अर्थ होता है कि आलोचक गलत है।

स्वीकार्यतया, कभी-कभी काट खाने वाले ताने और उत्तेजक टिप्पणियाँ आलोचक के हृदय से स्वतः फूट पड़ती हैं पर दूसरे आलोचक, पाठक और विशेष रूप से लेखक की विवेकपूर्ण कुशाग्र आँखे हमेशा वास्तविक गुस्से और छद्म द्वेष के बीच अन्तर कर लेती हैं। हमारे रचनात्मक काम में द्वेष की मात्रा जितनी कम हो सके उतना ही अच्छा है। इसे वर्गीय घृणा के साथ मिलाना नहीं चाहिए। वर्गीय घृणा सोद्देश्य पूर्ण तरीके से आक्रमण करती है और धरती पर छाये बादल की तरह व्यक्तिगत राग द्वेष से ऊपर होती है। व्यापक रूप से मार्क्सवादी आलोचक को किसी भयानक मोह में पड़े बिना जो उसकी ओर से गम्भीर भूल होगी—परोपकारी होना चाहिए। उसका चरम आनन्द सच्चाई को खोज निकालने और उसे पूरी भव्यता के साथ पाठक तक पहुँचाने में होना चाहिए। सहायता करना उसके उद्देश्य में है और उचित माध्यमों से उसे सचेत करना भी चाहिए लेकिन शायद ही कभी उसके लिए यह जरूरी हो कि वह किसी दुष्टता को खोलने की कोशिश में मजाक के वेधक तीर चलाए या तिरस्कार करे या अभिभूत करने वाली प्रभावशाली आलोचना के द्वारा किसी छुट भैय्ये की आकाश कुसुम लाने वाली महत्वहीन कृति को ध्वस्त करे। [अनुवाद—अनिल कुमार श्रीवास्तव]



लू शुन
क्रान्तिकारी साहित्यकार

—चंचल चौहान

रूसी कथा-साहित्य में जो स्थान गोर्की का है वही स्थान चीनी कथा-साहित्य में लू शुन का है। लू शुन का असली नाम चाऊ शू-जेन था। पत्रिकाओं में लिखने के लिए उन्होंने अनेक उपनाम रख छोड़े थे, मसलन जू-शू, सो शी, लिखते हैं, शुन लिंग। 'नवयुवा' के संपादक की पसंदगी के कारण लू शुन उपनाम का जन्म 'शुन लिंग' नाम से हुआ था। आज विश्व भर में उन्हें लू शुन नाम से ही जाना जाता है।

इससे पहले कि हम उनके कथा-साहित्य को लें; संक्षेप में, उनके जीवन का परिचय भी कर लें। लू शुन का जन्म २५ सितम्बर, १८८१ को चेक्यांग प्रान्त के शाओ सिंग में हुआ था। लू शुन का परिवार उनके बचपन में ही ग़रीबी का शिकार हो गया था। लू शुन एक मेधावी लड़के के रूप में अपने सभी नाते-रिश्तेदारों में मशहूर थे। छः वर्ष की उम्र में वे स्कूल में दाखिल हुए। बचपन में ही उन्होंने चीन के प्राचीन साहित्य का अध्ययन कर लिया था। सत्रह वर्ष की उम्र तक वे अपने देश के परम्परागत साहित्य में पारंगत हो चुके थे। अठारह वर्ष की उम्र में वे नौ सेना की एकेडमी में दाखिल हुए, मगर वहाँ उन्हें संतोष नहीं मिला। बाद में, वे रेलवे व खानों के स्कूल में चले गए। संतोष उन्हें वहाँ भी नहीं था। फिर भी एक फायदा हुआ, वह यह कि वहाँ उन्हें बुर्जुआ सुधारवाद के विचारों को पढ़ने का अच्छा मौक़ा मिला। विदेशी साहित्य के अनुवाद भी काफ़ी मात्रा में पढ़े। १९०१ में वे ग्रेजुएट हो गए। इसके बाद उन्हें जापान जाने के लिए छात्रवृत्ति मिली। जापान में उन्होंने पाश्चात्य दर्शनों व साहित्यों का गहन अध्ययन किया। शुरू में उन्होंने सेन्डाइ में मेडिकल कोर्स पढ़ना शुरू किया। सोचा था कि वे उससे अपने देश के क्रान्तिकारी आन्दोलनों में ज्यादा मदद कर पाएँगे; लेकिन एक न्यूज़ रील में शासक वर्ग के अत्याचार के प्रति चीनी आदमियों की उदासीनता के दृश्य ने उन्हें बदल

दिया। उन्होंने सोचा कि एक पिछड़े और गरीव देश के लोगों को जागरूक बनाने के लिए साहित्य ही एकमात्र साधन हो सकता है। अतः १९०६ में अपने देश के शोषित वर्ग को जाग्रत करने के उद्देश्य से वे साहित्य में उतरे। १९०८ में, उन्होंने मांचू विरोधी क्रान्तिकारी पार्टी (कुशांग फू हुइ) की सदस्यता ग्रहण कर ली।

लू शुन सन् १९०९ ई० में चीन लौटे। उन्होंने चेक्यांग नार्मल स्कूल में पढ़ाना शुरू किया। सन् १९११ ई० की क्रान्ति का दौर आया तो उन्होंने अपने विद्यार्थियों को भी उसमें शामिल करा दिया। सन् १९१२ ई० में, जब अस्थायी सरकार बनी तो वे शिक्षा मंत्री बना दिए गए। सन् १९११ ई० की क्रान्ति महत्वपूर्ण होते हुए भी अपने ऐतिहासिक लक्ष्य तक नहीं पहुँची थी। उससे चिंग सामन्तशाही ही खत्म हुई थी जबकि साम्राज्यवाद और सामन्तवाद की जड़ें चीन में बरकरार थीं। राज्य का शासनतंत्र उन्हीं प्रतिक्रियावादी ताकतों के चंगुल में था। विचारों में भी पश्चगामी प्रवृत्तियों का बोलबाला था। लू शुन के लिए छः साल का यह समय बहुत ही मानसिक वेदना का था। जब ४ मई सन् १९१८ ई० का आन्दोलन शुरू हुआ तब उनको प्रकाशमिला। अपने शिक्षा मंत्रित्व काल में उन्होंने चीनी संस्कृति का अध्ययन किया। प्राचीन कृतियों को संपादित किया। भारत के बौद्ध ग्रंथों के तीसरी सदी के चीनी अनुवादों को भी पढ़ा।

इसी बीच रूस की महान् अक्टूबर क्रान्ति ने चीन में एक क्रान्तिकारी लहर दौड़ा दी। पूरे देश में साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष के लिए मानसिकता तैयार हुई।

अप्रैल सन् १९१८ ई० में, लू शुन नाम से 'नव-युवा' में उनकी पहली कहानी 'एक पागल की डायरी' प्रकाशित हुई। 'नव-युवा' पत्रिका उस समय एक क्रान्तिकारी भूमिका अदा कर रही थी। वह देश में अक्टूबर क्रान्ति के विचार व मार्क्सवाद-लेनिन वाद की विचारधारा को शोषित वर्ग के बीच पहुँचा रही थी। लू शुन ने कहानियाँ तो लिखीं ही, साथ ही देश की सामाजिक व साहित्यिक समस्याओं पर भी अपनी कलम चलाई। सन् १९२३ ई० में उनका कहानी संग्रह 'शस्त्रों का आह्वान' प्रकाशित हुआ। इसी में संकलित 'मेरा पुराना घर' तथा 'आ: क्यू की सच्ची कहानी' रचनाओं ने लू शुन को नए चीनी साहित्य का जनक बना दिया।

सन् १९२० ई० में वे पेकिंग यूनिवर्सिटी में लेक्चरार बने। वहाँ वे नवोदित साहित्यकारों को अपना प्यार व दिग्दर्शन देकर साथी बनाने लगे। कहा जाता है कि लू शुन पेकिंग में युवा साहित्यकारों के बीच सर्वाधिक लोकप्रिय लेखक थे।

अगस्त सन् १९२६ ई० में दक्षिण चीन में क्रान्ति का दौर जोरों पर था, अतः प्रतिक्रियावादी बदमाशों ने उन्हें पेकिंग छोड़ने को मजबूर कर दिया। इसी वर्ष उन्होंने अपनी कहानियों का दूसरा संकलन 'यायावर' प्रकाशित किया। सन् १९१८ ई० से सन् १९२६ ई० तक का उनका समय लेखन की दृष्टि से बहुत अच्छा रहा। पेकिंग छोड़ने के समय तक वे कहानियों के अलावा निबंधों के चार संकलन, गद्य-कविताओं का एक संकलन, 'जंगली घास' और 'चीनी कथा साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' लिख चुके थे। इसके अलावा उन्होंने

औद्योगिक विकास में भी ज्यादा अनुवाद किए। चीनी जनता को सोवियत संघ के क्रान्तिकारी सिद्धान्तों तथा ब्लॉक के 'बारह' का परिचय कराया।

इसके बाद उन्होंने अमोय यूनिवर्सिटी में काम किया। कुछ ही दिन बाद वे जनवरी सन् १९२७ ई० में कैण्टन की सनयात सेन यूनिवर्सिटी में चले गए। अप्रैल में च्यांग काई शेक ने क्रान्ति के साथ गद्दारी की तथा कम्यूनिस्टों व क्रान्तिकारियों की गिरफ्तारी व हत्या शुरू कर दी। लू शुन के बहुत सारे विद्यार्थी पकड़े गए व मारे गए। उन्होंने विरोध स्वरूप वहाँ से इस्तीफा दे दिया। उनकी जिन्दगी खतरे से खाली नहीं थी। अतः वे अक्टूबर में शंघाई चले गए और मरण पर्यन्त वहीं रहे। वहाँ उन्होंने पूरी तरह साहित्यिक जीवन को स्वीकार किया।

सन् १९२८ ई० में उन्होंने 'धारा' नामक पत्रिका निकाली। उन्होंने मार्क्सवाद—लेनिनवाद का अध्ययन किया और मार्क्सवादी साहित्यिक सिद्धान्तों को अनूदित किया। वे चीन की कम्यूनिस्ट पार्टी के नजदीक आए। सन् १९३० ई० में वे 'चीनी स्वातंत्र्य लीग' के संस्थापक बने। मार्च सन् १९३० ई० में जब 'चीनी वामपंथी लेखक लीग' की स्थापना हुई, तो लू शुन उसके संस्थापकों में से एक थे। वे सन् १९३६ ई० तक उसके नेता बने रहे। जनवरी सन् १९३३ ई० 'नागरिक अधिकारों की लीग' (चाइना लीग फार सिविल राइट्स) बनी तो वे उसके भी सदस्य बने।

अपने जीवन के अन्तिम दस वर्षों में लू शुन ने निबन्धों के नौ संकलन लिखे। ऐतिहासिक विषयों पर लिखी गयी कहानियों का एक संकलन भी पूरा किया और पहले से भी ज्यादा अनुवाद किये। प्लेखानोव के कला सिद्धान्त, लूनाचार्स्की का साहित्य और उनके समीक्षा सिद्धान्त अनूदित किये। फेदेयेव के उपन्यास 'उन्नीस' याकोवलेव के उपन्यास 'अक्टूबर', फरमानोव तथा अन्य कथाकारों की कहानियों की दो पुस्तकें, गोर्की की 'रूसी परी कथाओं' व गोगोल की 'मृत आत्माओं' के अनुवाद विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। लू शुन ने सेराफिमोविच की 'लौहधार,' ग्लादकोव की 'सीमेन्ट', शोलोखोव की 'धीरे बहे दोन रे' तथा इवानोव की 'बख्तरबन्द गाड़ी' का परिचय भी चीनी जनता को कराया। वे रूस तथा जर्मनी की प्रसिद्ध कला की कृतियों को चीनी जनता के बीच लाए।

इससे अधिक मेहनत लू शुन ने उस दौर में की जब प्रतिक्रियावादी कुमिन्तांग की गुंडावाहिनी ने दमन और बर्बर अत्याचार से प्रगतिशील ताकतों को खत्म करने की ठान ली थी। लू शुन मुश्किल से एक या दो कामरेडों से गुप्त रूप से मिल पाते थे। उन्हें हर वक्त कत्ल या गिरफ्तारी का खटका लगा रहता था। इस सारे आतंक के बावजूद उन्होंने अपना ईमान नहीं जाने दिया। वे प्रगतिशील लेखकों के मोर्चे की अगुआई बराबर करते रहे। कुमिन्तांग की घिनौनी कारंवाइयों तथा उसके द्वारा खरीदे गये लेखकों के द्वारा वामपंथी लेखकों को मौन कराने की चालों को भी लू शुन ने बराबर ध्वस्त किया।

जीवन के आखिरी दिनों में, जब वे बीमार रहते थे, लिखे गये लेखों में उन्होंने चीन के मार्क्सवादी लेखकों की अच्छी धुनाई की थी। यद्यपि वे टी० बी० के मरीज थे, फिर भी उन्होंने मरते दम तक प्रतिबद्ध—लेखन का नेतृत्व किया। उनकी मृत्यु १९ अक्टूबर, सन् १९३६ ई० को हुई।

लू शुन का लेखन कहानियों और निवन्धों की विधाओं में अधिक हुआ है। वे चीन की शोषित जनता के पक्षधर साहित्यकार थे। उनकी पक्षधरता उनकी पहली कहानी—'एक पागल की डायरी' में ही दिखाई पड़ जाती है। यद्यपि इस कहानी की प्रेरणा उन्हें गोगोल से मिली, किन्तु इसका कथ्य मूलतः लू शुन के अपने समाज का है। समाज में चल रहे ऐन्टीथीसिस के संघर्ष में एक विन्दु का प्रतीक है—'पागल'। उसके भीतर इस संघर्ष की छाया है जो उसे पागल बना देती है। शोषण और दमन के खूनी पंजों में कराहती मानवता का प्रतीक 'पागल' संत्रस्त है। उसका ऐन्टीथीसिस है चाओ जो शोषक वर्ग का प्रतीक है। पागल को विश्वास है कि रक्तपायी वर्ग से नाभिना लवद्ध लोग उसे खा लाएँगे। इसीलिए वह चाओ के कुत्तों से भी डरता है, यहाँ तक कि वह अपने बड़े भाई को भी उसी वर्ग के साथ जुड़ा हुआ पाता है। वे सब नरभक्षी हैं। लू शुन ने बोधगम्य शैली में उच्चतम प्रतिवद्ध कला का परिचय अपनी इसी कहानी में दे दिया था। इस कहानी में विम्ब भी हैं, प्रतीक भी। फॉर्म के स्तर पर भी ऐन्टी-थीसिस का पैटर्न है लेकिन फिर भी कहीं कोई उलझाव नहीं है। सांकेतिकता के लिए वातावरण रचा गया है। एक अंश देखिए :—

"घुप्प अंधेरा। मुझे नहीं मालूम, दिन है या रात? चाओ परिवार का कुत्ता फिर भोंकने लगा है।

"शेर का खूँखारपन, खरगोश की कायरता, लोमड़ी की चालाकी....।"

पागल को ग्लानि है कि बचपन में उसे भी धोखे से मनुष्य का मांस खिलाया गया है। उसे लगता है कि उसे अपनी बहिन का मांस खिलाया गया था, वह सोचता है कि अब उसकी वारी है। कहानी का अन्त निषेध का निषेध करने का संकेत देता है :

"मुझ जैसा आदमी—चार हजार साल के मानव भक्षी इतिहास के वाद, गो कि इसके वारे में मैं पहले नहीं जानता था—सच्चे आदमी को देखने की कैसे आशा रखे? शायद कुछ वच्चे ऐसे होंगे जिन्होंने आदमियों [के मांस] को नहीं खाया होगा।

वच्चों को वचाओ........" 'वच्चों को वचाओ' की यह चीख विश्व के सारे शोषित वर्ग के लिए रणभेरी की तरह है।

लू शुन की एक अन्य वहुचर्चित कहानी है—"आः क्यू की सच्ची कहानी।" यह लम्बी कहानी "प्रभात समाचार" के साप्ताहिक परिशिष्ट के 'व्यंग्य विनोद' कालम के लिए लिखी गई थी। लू शुन ने अपना छद्म नाम 'पाजेन' रखा था। दो महीने तक यह कहानी धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुई। बाद में 'शस्त्रों का आह्वान' संकलन में भी इसे शामिल कर लिया गया। इस संकलन की समीक्षा को लेकर लू शुन ने इस कहानी के विषय में एक लम्बा लेख भी लिखा था। इस कहानी का नायक 'आः क्यू' शोषित है किन्तु पुरानी सामंती विचारधारा का दास है। शासक वर्ग शोषित वर्ग के दिमाग पर भी प्रभुत्व रखने का प्रयत्न करता है और वह वहुत समय तक प्रभुत्व रखता भी है। इसीलिए सामाजिक-राजनैतिक क्रान्ति के वाद सांस्कृतिक क्रान्ति आवश्यक होती है। 'आः क्यू' वार-वार पिटता है किन्तु किसी पुरानी मान्यता के सहारे विजय का मनमोदक खाकर संतुष्ट हो लेता है। लू शुन ने स्वयं इस पात्र के विषय में कहा था कि "वे उस मानव का चित्र खींचना चाहते थे जो

[illegible] उगा; किन्तु बड़ी चट्टान के नीचे दबकर [illegible] गया, [illegible] गया।" उनकी विचार प्रक्रिया में 'घास' और 'चट्टान' के [illegible] 'आः क्यू' में तथा उसके समाज में उन्होंने चित्रित किया। [illegible] का कहना है कि "यहीं पर लू शुन एक यथार्थवादी [illegible]।" आः क्यू [illegible] दमित होता है; किन्तु सारे [illegible] है। और जब विद्रोह करता है तो हारता है। जब [illegible] और कुछ मालमत्ता लेकर वापस लौटता है तो लोग उसका आदर करते हैं। उसकी आर्थिक हालत उसके संबंधों में परिवर्तन कर देती है। अन्त में, आः क्यू को जमींदार द्वारा झूठे चोरी के इल्जाम में फँसा दिया जाता है। [illegible] में गरीबों पर ढाये गये शारीरिक व मानसिक जुल्मों की सटीक [illegible] इन रचनाओं में की गई है।

लू शुन की एक अन्य महत्त्वपूर्ण रचना 'नववर्ष का बलिदान' अत्यन्त करुण है। सामन्ती नौकरशाही के पारिवारिक बन्धनों में जकड़ी स्त्री जाति का और उसमें भी विधवाओं की स्थिति का कैसा बुरा हाल होता है, उसका मार्मिक चित्रण इस कहानी में हुआ है। 'शियांग लिन की घरवाली' के बलिदान की यह कहानी [illegible] मानवता के बलिदान की कहानी है। इस मानवता को अपनी मेहनत के बल पर कुछ कमा खा कर भी जिंदा रहने का हक नहीं दिया जाता। एन्टीथीसिस [illegible] ही इस कहानी को सशक्त बनाता है। शोषक वर्ग की नौकरशाही के बन्धनों में जकड़ी बहादुर नारी अपनी पहचान, अपना निजी अस्तित्व खोकर भी जिन्दा नहीं रह पाती। उसकी शादी जबरन कम उम्र के एक लड़के से कर दी जाती है। वह मर जाता है तो वह विधवा हो जाती है। उसे [illegible] शोषण के लिए उसके ससुराल वाले घिनौनी चालें चलते हैं। वह विधवा होने पर 'लू चेन' नामक कस्बे में एक संभ्रान्त परिवार में नौकरानी हो जाती है मगर उसके ससुराल वाले उसे जबरन खींचकर उठा ले जाते हैं और उसकी शादी दूसरे छोटे भाई से कर देते हैं। वह पति भी मर जाता है। एक दिन उसका बच्चा भेड़िया उठा ले जाता है तब उसके दुःख का पारावार नहीं रहता। वह फिर लू चेन के उसी परिवार में जाती है। वह अपने बच्चे के [illegible] का दास्तान हर किसी को सुनाती है। पहले तो लोग सहानुभूति दिखाते हैं, मगर बार-बार दोहराने पर लोग ऊबने लगते हैं, उसे पागल समझते हैं। चेखव की कहानी 'शोक संताप' का नायक तो अपने बच्चे की मौत की कहानी घोड़े को सुनाकर सान्त्वना पा लेता है; मगर 'शियांग लिन की घरवाली' [illegible] नौकरशाही का शिकार होकर अपनी बलि एक देवता के मन्दिर की देहरी पर चढ़ा देती है। सारी कहानी में कथ्य और रूप के स्तर पर द्वन्द्वात्मकता का निर्वाह हुआ है, दोनों स्तरों पर एन्टीथीसिस का संघर्ष, निषेध का निषेध और [illegible] घटित हुई है।

उनकी अन्य कहानियों में 'मेरा पुराना घर', 'सुखी परिवार', 'दवाई', '[illegible]', 'गाँव का ओपेरा', 'मयखाने में' 'अतीत का पछतावा', '[illegible]' आदि काफी मशहूर हैं। लू शुन की कहानियाँ टूटते, पिसते व दबते [illegible] की कहानियाँ हैं। ये लोग दुःख सहते-सहते दुःख के प्रति उदासीन हैं। उनकी दुःख सहने की शक्ति असीम है। सामन्त-शोषक वर्ग उनकी [illegible] का पूरा लाभ उठाता है।

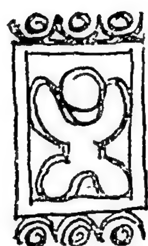
लू शुन की रचनाओं में उनकी गद्य कविताएँ, संस्मरण तथा निवन्धों का भी बहुत महत्व माना जाता है। बुर्जुआ-सामंती विचारों से संघर्ष करने के लिए उन्होंने निवन्धों को लिखना वहुत जरूरी माना था। इसीलिए चीन में विदेशी (खासकर अमेरिकी व ब्रिटिश) प्रतिक्रियावादी विचारों से प्रभावित डा० हू शी के पिछलगू आधुनिकतावादी बुद्धिजीवियों से संघर्ष करने के लिए लू शुन ने पहल की। लू शुन की आसान व तर्कसंगत शैली प्रतिक्रियावादी बुद्धिजीवियों को ध्वस्त करने में सफल हुई। इस लड़ाई के लिए ही लू शुन ने वहुत सारे लेख लिखे।

उनके संस्मरण भी कलात्मक रचनाएँ हैं। उनमें कहानियों की कथन-भंगिमा है। उनमें कहीं व्यंग्य है, तो कहीं शोषित मानव के लिए अपार दर्द। कुमारी ल्यू हो चेन की यदगार में लिखे संस्मरणों में इस दर्द की तस्वीर देखी जा सकती है। त्वान ची-ज्वी की सरकार के विरुद्ध १८ मार्च सन् १९२६ ई० को चीनी जनता ने प्रदर्शन किया। उस पर सरकार ने गोली चलवा दी। करीव चालीस लोग मारे गए। लू शुन की दो शिष्याएँ ल्यू और याँग भी मारी गईं। लू शुन ने दुःख में डूबकर लिखा, "मैं महसूस करने लगा हूँ कि हम इन्सानों की दुनिया में नहीं रह रहे हैं।" शोषित जनता के अभिन्न अंग ये लोग शोषक सरकार की गोलियों के शिकार हो गये, मगर वाकी लोग चुप साधकर बैठ गये। लू शुन इससे बहुत दुःखी हुए। उन्होंने कहा कि "मैं हमेशा इस व्यवस्था में अपने देशवासियों की बुरी से बुरी हालत की पूर्व कल्पना कर सकता था, मगर हमारे देशवासी इस नृशंस पाशविकता पर उतर आएँगे, इसका मुझे अहसास नहीं था। उन्होंने उन लड़कियों की वहादुरी, हिम्मत और जिन्दादिली पर एक क्रान्तिकारी लेखक की तरह शोक प्रकट किया। त्वान सरकार के जंगली हिंसक कारनामों की उन्होंने कटु निन्दा की तथा चीनी जनता को उस व्यवस्था को खत्म करने के लिए प्रेरित किया तथा अपने साथियों की आलोचना भी की। उन्होंने कहा कि कुछ लोग वर्तमान व्यवस्था में ही लीपापोती करके प्रदर्शनों द्वारा सुधार लाना चाहते हैं, ऐसी हालत में अस्त्र-शस्त्रों से लैस व्यवस्था तो जनता का वेधड़क खून खरावा करेगी ही, प्रदर्शनों से तो सुधार भी नहीं होगा। उन्होंने प्रगतिशील ताकतों को राय दी कि "खून को पैसे की तरह इस्तेमाल करना चाहिए, जहाँ कंजूस होना ठीक नहीं, वहाँ वेमतलव खून बहाना भी अक्लमन्दी नहीं।" कहना न होगा कि यह वह व्यवहारिक सलाह थी जिसे वाद में चीन से लेकर वियतनाम तक की कम्यूनिस्ट पार्टियों ने अमली तौर पर अपनाया। जहाँ दो अतिवादों में से एक भी हुआ वहाँ शोषितवर्ग को भयंकर चोटें आयीं। इतिहास इसका गवाह है।

लू शुन ने साहित्य सम्वन्धी मार्क्सवादी सिद्धान्तों तथा सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताओं के अनुवाद तो किए हैं किन्तु स्वयं अधिक नहीं लिखा है, जो लिखा भी है वह विदेशी भाषाओं में उपलब्ध नहीं है। अंग्रेजी में अनूदित चुनी हुई रचनाओं (द्वितीय खण्ड) में साहित्यिक मसलों को लेकर दो तीन लेख हैं। एक लघु लेख "मैं समीक्षकों से पूछता हूँ" में समीक्षकों को उन्होंने सलाह दी कि नए रचनाकारों को वे रचनाओं के लिए उत्साहित करें। "प्रतिभा का इंतजार" नामक लेख में भी इसी वात को उन्होंने कहा। 'क्रांतियुग का साहित्य' शीर्षक लेख में क्रान्ति और साहित्य के अन्तःसम्वन्ध को सीधे व सरल ढंग से स्पष्ट किया। 'साहित्य और पसीना' शीर्षक लघु लेख में साहित्य की वदलती दिशाओं

[illegible], साहित्य की शाश्वतता का सवाल व शाश्वत मानव मूल्यों वाले [illegible] का परीक्षण बड़े ही सटीक ढंग से प्रस्तुत हुआ है। उन्होंने शंघाई के [illegible] कौरियर की उस टिप्पणी पर यह अनुलेख लिखा कि "साहित्य को शाश्वत मानव मूल्यों को अभिव्यक्त करना चाहिए अन्यथा वह कालग्रस्त हो जायगा।" (हमारे यहाँ भी इस तरह के वक्तव्य धर्मवीर भारती एण्ड कम्पनी देती रही है) लू शुन ने उस 'भाई' को आड़े हाथों लिया और पूछा कि क्या मानव मूल्य बदलते नहीं हैं?" यदि जीवन्त मनुष्य का दिनों दिन विकास हुआ है, तो उसके गुण, उसके मूल्य शाश्वत कैसे हुए?" मजाक में उन्होंने 'पसीना आना' मनुष्य का सार्वभौम शाश्वत मूल्य माना और कहा कि चलो मान लेते हैं कि पसीना आना मनुष्य का शाश्वत गुण है। मगर किसी के लिए रईस घरों की नाजुक बालाओं के पसीने में एक खुशबू होती है, मजदूरों के पसीने में मैलखोरी गन्ध। अब सवाल यह है कि कौन से पसीने पर साहित्य लिखा जाय जो जिन्दा बना रहे। शाश्वत दोनों ही पसीने हैं।" सांकेतिक रूप में उन्होंने साहित्य में पक्षधरता का सवाल उठा दिया है। सही भी है, 'पसीना आना' भी अवर्गीय तो नहीं है।

निष्कर्ष रूप में समकालीन चीनी समीक्षक फेंग ख्वे-फेंग के शब्दों में कहा जा सकता है कि "विश्व साहित्य की एक महान् प्रतिभा के रूप में 'लू शुन चीन की मेहनतकश जनता से प्रतिबद्ध तथा अपने लेखन में गहन चीनी [सांस्कृतिक] विशिष्टताओं से जुड़े लेखक के रूप में अलग से पहचाने जाते हैं।"



कॉडवॅल समकालीन संदर्भों में

—कर्णसिंह चौहान

"मैं कम्यूनिस्ट हूँ क्योंकि मैं स्वतंत्रता में विश्वास करता हूँ। मैं रसेल, वैल्स और ई० एम० फार्स्टर की आलोचना करता हूँ क्योंकि मेरा विश्वास है कि वे वास्तविक स्वतंत्रता के विरोधी हैं।" जिन्दगी भर विचार, कार्य और नैतिकता की स्वतंत्रता की वकालत करने वाले ये विचारक असल में वास्तविक स्वतंत्रता के विरोधी हैं, यह बात कॉडवॅल जैसा कम्यूनिस्ट ही कह सकता था जो बुर्जुआ भ्रम से आगे जाकर स्वतंत्रता को स्वीकार करता है। इस कथन के पीछे जो गहरा आत्मविश्वास है वह पूंजीवादी समाज की अवश्यंभावी मृत्यु और समाजवादी समाज के भविष्य में अटूट आस्था से उत्पन्न हुआ था।

जिस काल में कॉडवॅल ने अपने साहित्य की रचना की उस समय पूंजीवाद अपनी मृत्यु के भय से ग्रस्त था। समस्त पूँजीवादी दुनिया में गहरा आर्थिक संकट छाया हुआ था। ये व्यवस्थाएँ किसी भी पल ध्वस्त हो सकती थीं। इंग्लैंड की स्थिति इलियट के 'वेस्टलैंड' से मिलती-जुलती थी। अमरीका में बेरोजगारी और गरीबी के आँकड़े आसमान छू रहे थे। यह व्यवस्था अपनी सभी संभावनाओं से हीन, रुग्ण और पतित थी। यही रुग्णता और पतन बुद्धिजीवियों और विचारधारा के स्तर पर भी घटित हुआ। पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति की रुग्णता की धड़कन हर जगह सुनाई पड़ रही थी। कॉडवॅल ने सवाल उठाया कि जिस पूँजीवाद ने इतने वैज्ञानिक अन्वेषण किये, मानव मन की अदृश्य गहराइयों में झांका, इतना तकनीकी विकास किया, फिर भी वह रोगग्रस्त क्यों है, निराशाजनक क्यों है? सामन्ती समाज को तोड़ने में जो वैचारिक नेतृत्व इसके बुद्धिजीवियों ने प्रदान किया उनकी प्रतिभा इतनी बंजर और अकाल ग्रस्त क्यों है? इसका कारण है कि पूँजीवाद अपनी स्वस्थ भूमिका समाप्त कर रोगग्रस्त और जर्जर है और बीमार अपना इलाज नहीं कर सकता। यही कारण है कि ये विचारक इस रोग से जूझने के बावजूद कोई निदान खोजने में असमर्थ हैं।

उसके लिए सोवियत समाजवादी व्यवस्था के उत्पादन के आँकड़े आकर्षक जनक था। मानवीय मूल्यों के रक्षार्थ उसने फॉसिज्म के विरुद्ध जनवादी शक्तियों को एकजुट कर खड़ा किया था। उसमें एक नये मनुष्य और नये हीरो का जन्म हो गया था। तत्कालीन सोवियत साहित्य अभूतपूर्व आत्मविश्वास और शक्ति से भरपूर था।

इसी संदर्भ में कॉडवेल ने समस्त पूँजीवादी व्यवस्था पर बड़े ही सधे प्रहार किए और इसके लिए संस्कृति का क्षेत्र चुना। और जब सीधी कार्यवाही की जरूरत हुई तो उसने कलम को रखकर बन्दूक संभाली तथा स्पेन के संघर्ष में शामिल हो गया।

अतः कहना चाहिए कि कॉडवेल का व्यक्तित्व और साहित्य सीधी कार्यवाही का जीवन्त दस्तावेज है। उसमें अच्छे और बुरे, शत्रु और मित्र, वर्तमान और भविष्य की स्पष्ट पहचान है, क्योंकि चीजें बहुत साफ थीं। लेकिन इस बीच नदियों में काफी पानी गुजर चुका है। विश्व राजनीति में काफी उतार-चढ़ाव आये हैं। दूसरे महायुद्ध में सोवियत संघ की विजय और शांति-आन्दोलन की भूमिका के बाद शीत युद्ध की राजनीति ने नये-नये गुल खिलाए। 'लेखकीय स्वतंत्रता' के नाम पर यह धारणा बद्धमूल करने की कोशिश की गई कि लेखन की अपनी स्वतंत्रता की गारन्टी तो पूँजीवादी व्यवस्थाओं के तथाकथित 'स्वतंत्र समाजों' में ही है, समाजवादी व्यवस्थाएँ उसकी दुश्मन हैं। सोवियत संघ में लेखकों पर हो रही ज्यादतियों की अनगिनत कहानियाँ दुनिया भर में फैलाई गईं। उसे सच्चे जनतंत्र का विरोधी कहकर पूँजीवादी जनतंत्र को ही सच्चे जनतंत्र का पर्याय ठहराया गया। इसी शीतयुद्धीय राजनीति का परिणाम है कि आज दुनिया के अधिकांश बुद्धिजीवियों में यह धारणा घर कर गई है कि कम्युनिस्ट स्वतंत्रता और जनतंत्र के भयंकर दुश्मन हैं। अंतर्राष्ट्रीय ब्रिगेड में शामिल होने से पूर्व कॉडवेल ने सन् १९३६ ई० में कहा था—"आप जानते हैं सांस्कृतिक स्वतंत्रता के मसले पर मैं क्या अनुभव करता हूँ। स्पेन की जन-सेना की सफलता तो बेहद जरूरी है; अगर वे अपने संघर्ष में असफल हुए तो उसका परिणाम हमें भी भुगतना होगा। इसलिए यह हमारा संघर्ष है, और मैं बहुत अच्छी तरह जानता हूँ कि इसमें मेरा कर्तव्य क्या है।" जनतंत्र और स्वतंत्रता के मसला पर यह एक कम्युनिस्ट का सीधा जवाब था। इन्हीं मान्यताओं के लिए १२ फरवरी सन् १९३७ ई० को वह स्पेन में जरामा नदी के ऊपर पहाड़ी पर युद्ध में मारा गया। आज भी दुनिया में ऐसे उदाहरण कम नहीं हैं जब दुनिया में हर जगह मानव मुक्ति और जनतंत्र के लिए कम्युनिस्टों ने हजारों की जान दे दिए हों। पूँजीवादी बुद्धिजीवियों की स्वतंत्रता व जनतंत्र की ढालें ऐसे ही नारों के विरुद्ध मे रोजमर्रा की मिसालें हैं।

लेकिन इसके बावजूद शीतयुद्ध की राजनीति का असर एक तथ्य है। स्वयं हिन्दी में पिछले दो दशकों में इन मान्यताओं का जोर रहा। इसका दुखद पहलू यह है, जहाँ स्वयं समाजवादी व्यवस्थाओं ने इन आरोपों को सच प्रमाणित किया। बीसवीं पार्टी कांग्रेस में ख्रुश्चेव ने स्तालिन और उस दौर की सोवियत व्यवस्था पर ऐसे आरोप लगाये जिन्होंने समस्त पूँजीवादी प्रचार को भी मात दे दी। उससे अच्छे-अच्छे प्रतिबद्ध मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों तक का आत्मविश्वास हिल गया। श्री मैनेजर पांडेय ने डॉ० रामविलास शर्मा

को जिन पंक्तियों को सैद्धांतिक बहस का मुद्दा बनाया, उन्हें इसी संदर्भ में देखा-परखा जाना चाहिए। इसी गुस्से में उन्होंने जून सन् १९६५ ई० की 'आलोचना' में 'लेखक और व्यक्ति-स्वातंत्र्य' नामक लेख में लिखा—"स्तालिन की मूर्तियाँ ढहा दी गईं, ख्रुश्चेव जिस दिन मंच से उतारे गए, उनकी शक्ल नहीं दिखाई देती, किन्तु गोर्की और शोलोखोव, चेखव और फादयेव, तुर्गनेव और एलिया एहरून वगैं जहाँ पहले थे, वहीं आज भी हैं, उनका मान-सम्मान बढ़ा ही है, घटा नहीं। इसलिए राजनीतिज्ञों को अपनी हैसियत समझकर बात करनी चाहिए।" समाजवादी व्यवस्थाओं के बीच आए-दिन होने वाली उठा-पटक के विरुद्ध यह एक साहित्यकार का सात्विक गुस्सा है। इसे भटकाव कहिए, सिद्धान्तहीनता कहिए या कुछ और। राजनीतिज्ञों के विरुद्ध यह बात साहित्य और राजनीति के सम्बन्धों को अनिवार्य मानने वाले रामविलास ही कह सकते हैं, देखना यह भी चाहिए कि साहित्य में राजनीति और राजनीतिज्ञों को हर वाक्य में लतियाने वाले श्रीकांत वर्मा सरीखे लेखक व्यक्तिगत जीवन में उसकी क्षुद्र परिणतियों के पंक में कंठ तक डूबे हैं। जिनके जीवन में राजनीतिज्ञ ही सिरमौर हैं, लेखन में उसे ही दुश्मन किस तर्क से बताया जाता है—यह भी एक रहस्यवाद है।

जो भी हो, समाजवादी व्यवस्थाओं में आये-दिन विश्लेषण की फेर-बदल से मार्क्सवादी लेखकों में होने वाली परेशानी एक वास्तविकता है। रामविलास शर्मा तो फिर भी गनीमत है कि अपनी मार्क्सवादी आस्था को बचाये रख सके, ऐसे लेखकों की भी कमी नहीं जो मार्क्सवाद-विरोधी हो गये, शीतयुद्ध की राजनीति ने जिनका इस्तेमाल किया। इसमें शीतयुद्धीय राजनीति की भूमिका जो भी रही, स्वयं समाजवादी व्यवस्थाओं की भी कम नहीं रही। इसी संदर्भ में कॉडवेल की पुस्तक 'स्टडीज इन ए डाइंग कल्चर' की भूमिका में श्री सोल यूरिक ने कहा—'कॉडवेल बहुत भाग्यशाली था कि वह यह सब देखने के लिए जिन्दा नहीं रहा। अन्यथा उसके आत्म-विश्वास और आस्था का क्या हश्र हुआ होता, यह सोचने की बात है।'

भूमिका लेखक सोल यूरिक ने निष्कर्षों को बहुत दूर तक खींचा है। और किसी के बारे में संभव है यह सच हो, कॉडवेल से संबंधित जितने भी तथ्य उपलब्ध हैं, उनकी रोशनी में यह बात उनके बारे में सच नहीं है। समाजवादी व्यवस्थाओं की फेर-बदल से उन विचारकों की आस्था डगमगाई जिन्होंने उससे बहुत-बहुत चाहा था, करिश्मों की अपेक्षा की थी। वे इसे मानव-समाज में एक नया अनुभव और विकास नहीं; दैवी विभूति मानकर चले थे। किंग कैन डू नो रोंग' की तरह उन्होंने माना कि इसमें गलतियाँ होंगी ही नहीं। अतः जहाँ गलतियाँ हुईं उनकी आस्था टूट गयी, मानों वे प्रतीक्षा में हों बैठे हों कि आस्था से मुक्ति पा जाय। अन्यथा मार्क्सवादी सिद्धान्तों की सत्यता और मानव-मुक्ति के लिए छिड़े सर्वव्यापी संघर्षों में वैसे कोई कारण मौजूद नहीं थे। कॉडवेल अगर जिन्दा होते तो उनका मानव-संघर्ष व भविष्य में आत्म-विश्वास बढ़ा ही होता। इसके लिए कॉडवेल से संत संबंधि संक्षिप्त विवरण दिया जा सकता है।

घोषित कम्यूनिस्ट और मार्क्सवादी आलोचक होने के बावजूद कॉडवेल बुद्धिजीवियों से अलग ही साहित्य-साधना में रत रहे। यहाँ तक कि वामपंथी

का कारण ही यही है कि वे बुर्जुआ दायरे को तोड़कर बाहर नहीं निकल पाते ।' अपनी ओर से तो वे एक महत्वपूर्ण समस्या उठाते हैं, उसका गंभीर विश्लेषण करते हैं किन्तु बात बनती नहीं। चाहे वह रसेल हो, वैल्स हो, शॉ हो, फ्रॉयड हो। उनके पैरों में पड़ी बुर्जुआ विचार की जंजीरें उन्हें एक हद से आगे बढ़ने नहीं देतीं। वे बात स्वतंत्रता पर करें या जनतंत्र पर, सौंदर्य पर या प्यार पर, कल्पना या यथार्थ पर—हर कहीं विचारों की यह एकांगिता दिखाई पड़ती है। अन्ततः उनकी स्वतंत्रता, जनतंत्र, सौंदर्य, प्रेम, यथार्थ सम्बन्धी धारणाएँ पूंजीवादी सम्बन्धों के इर्द-गिर्द चक्कर लगाती हैं। यही कारण है कि वे वास्तविकता से आँख मिलाने का साहस नहीं करते।

काडवेॅल के साहित्य का केन्द्रीय मुद्दा है—स्वतंत्रता। उसने लिखा—'न्याय, सौन्दर्य, सत्य जैसी चीजों में स्वतंत्रता को मैं सबसे महत्वपूर्ण और प्राथमिक मानता हूँ।' लेकिन उसके लिए इससे भी बड़ा सवाल था कि 'स्वतंत्रता से आप क्या अर्थ लेते हैं ? आज दुनिया में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जो स्वतंत्रता का विरोध करे। बर्ट्रेंड रसल ने अपने कितने ही लेखों में स्वतंत्रता को मनुष्य का महत्वपूर्ण लक्ष्य माना। फिशर ने यूरोप के तीन शताब्दियों के इतिहास को स्वतंत्रता का संघर्ष कहा। लेकिन कॉडवेॅल के शब्दों में यह भी अजीब विडम्बना है कि ये विचारक कहीं भी स्वतन्त्रता का अर्थ स्पष्ट नहीं करते, वे मानकर चलते हैं कि स्वतंत्रता का अर्थ जो उनके दिमाग में है, वही सबके लिए सही है, उसे अलग से बताने की जरूरत नहीं; जबकि तथ्य यह है कि दुनिया में इसी शब्द को लेकर जितने विवाद हुए हैं, अन्य किसी पर नहीं। कॉडवेॅल का कहना है कि वर्गसमाज में एक की स्वतंत्रता का अर्थ दूसरे की स्वतंत्रता का हनन है। रोम के उच्च वर्गों की स्वतंत्रता दास-प्रथा पर निर्भर थी, लेकिन दासों के लिए स्वतंत्रता का अर्थ ही था दास-प्रथा का अंत। इसी तरह बुर्जुआ ने अपने झंडे पर जो 'स्वतन्त्रता' भ्रातृत्व और समानता' का नारा लिखा था, बाद में सिद्ध हुआ कि उनकी स्वतन्त्रता का अर्थ भी बाजार में लूट की स्वतन्त्रता, मजदूरी, भुखमरी, बेरोजगारी की स्वतन्त्रता था। इसी सन्दर्भ में लेनिन ने लिखा था कि 'स्वतन्त्रता के नाम पर न जाने कितने अत्याचार किये गये, कितने युद्ध लड़े गये, कितनी लूट मचाई गयी।' अतः बुर्जुआ की स्वतन्त्रता मजदूर-वर्ग की परतन्त्रता है। ये ऐसी दो विरोधी दृष्टियाँ हैं जो आपस में मिल नहीं सकतीं, एक की विजय दूसरे के विनाश में ही सम्भव है। कॉडवेॅल ने कहा कि बुर्जुआ विचारक स्वतंत्रता का अर्थ इसलिए नहीं बताते क्योंकि उनके लिए उसका केवल एक ही अर्थ है—पूंजीवादी स्वतन्त्रता। यहीं कॉडवेॅल उनकी आलोचना करके वास्तविक स्वतन्त्रता का विकल्प प्रस्तुत करते हैं। एक मार्क्सवादी होने के नाते वे साम्यवादी व्यवस्था को पूर्ण स्वतन्त्रता का पर्याय मानते थे, जब वर्गों का अस्तित्व समाप्त हो जायगा और एक की स्वाधीनता दूसरे की पराधीनता नहीं होगी।

कॉडवेॅल बुर्जुआ विचारकों की इस धारणा के मूल में रूसो के उस कथन को मानते हैं जिसके अनुसार 'मनुष्य स्वतन्त्र जन्म लेता है लेकिन समाज में वह हर कहीं बन्धन में है।' इससे इन विचारकों ने अर्थ लिया कि मनुष्य प्रकृति से स्वतन्त्र है लेकिन सामाजिक संस्थाएँ उसे स्वतन्त्र होने नहीं देतीं। इसलिए इच्छाओं की निर्बाध गति ही स्वतन्त्रता है। यह स्वतन्त्रता की अत्यन्त स्वार्थी, व्यक्तिकेन्द्रित और अराजकतावादी धारणा थी। पश्चिम में अस्तित्ववाद और

हिन्दी में 'प्रयोगशीलता' में स्वतन्त्रता की जो विविध धारणाएँ पनपीं वे उसी के समर्थक थीं। कॉडवेल का सारा साहित्य इसी के ऊपर प्रहार है। उन्होंने बुर्जुआ विचार में इस धारणा को 'एक्सपोज' किया स्वतन्त्रता व्यक्ति में नहीं, समाज में है और उसे सामूहिक सक्रिय प्रयासों द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। वह कोई ऐसा सस्ता नुस्खा नहीं जिसे जो मर्जी बना ले, संघर्ष ही इसका रास्ता है। इसीलिए स्वतन्त्रता के सच्चे हिमायती, जिन्होंने बुर्जुआ व्यवस्था में रहकर भी उसके वास्तविक अर्थ को समझा है, अन्ततः साम्यवाद की ओर आते हैं। बुर्जुआ के लिए स्वतन्त्रता सोने के सिक्के पर बिकने वाली चीज है और वह सब होता है 'व्यक्ति स्वतन्त्रता' के नाम पर।

स्वतन्त्रता की इसी केन्द्रीभूत धारणा को कॉडवेल मानव का, समाज का, विज्ञान का, साहित्य का लक्ष्य घोषित करते हैं। मनुष्य का संघर्ष, समाज का विकास, विज्ञान की नई खोज, साहित्य की नई रचना—सभी इसी लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए कदम हैं। जो साहित्य ऐसा नहीं करता उसे साहित्य का दर्जा नहीं दिया जा सकता। कहने की आवश्यकता नहीं कि कॉडवेल के लिए स्वतन्त्रता ऐसा मूल्य है जो सर्वोपरि है। साहित्य को इसी सन्दर्भ में परिभाषित किया जाना चाहिए।

अपने 'इल्यूजन एंड रियलिटी' नामक ग्रंथ में इसी से जोड़कर विस्तार से 'साहित्य के कार्य' (Function of literature) की धारणा कॉडवेल ने प्रस्तुत की। यही मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र में कॉडवेल का योगदान है। इसके अन्तर्गत उसने जीवन और समाज के बीच साहित्य के कार्य की व्याख्या प्रस्तुत की। सामाजिक जीवन के समानान्तर साहित्य कोई स्थिर चीज नहीं, एक सतत् प्रक्रिया है जो समाज से प्रभावित भी होती है और उसे प्रभावित भी करती है। 'आर्ट एंड सोसायटी' नामक पुस्तक में प्लेखानोव ने पहले-पहल यह प्रयास किया था, कॉडवेल ने उन्हीं धारणाओं को समृद्ध किया। काव्य साहित्य का सबसे आदिम रूप है अतः साहित्य और समाज के आवयविक सम्बन्धों का कोई भी विश्लेषण काव्य के उद्गम की ओर ले जायगा। जिस आदिम समाज में काव्य का जन्म हुआ, वहाँ काव्य का कार्य एकदम स्पष्ट था। अतः कॉडवेल ने वहीं से 'इल्यूजन एंड रियलिटी' में साहित्य के कार्य की पहचान शुरू की। आदिम समाज में व्यक्ति अपने सामूहिक कार्यों का अनुकरण नृत्य आदि में करते थे और पुनः शिकार के सामूहिक कृत्य के लिए स्वयं को तैयार करते थे। अतः साहित्य का यह आदिम रूप सामाजिक कर्म के निकट था। बुर्जुआ समाज तक आते-आते सामाजिक कार्य और साहित्य के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध जटिल होता गया है। अतः उसका विश्लेषण भी उतना सुगम नहीं। किन्तु इसके बावजूद कॉडवेल वर्तमान समाज में साहित्य के कार्य की व्याख्या करते हैं और इससे भी आगे जाकर साम्यवादी समाज में उसके कार्य की रूपरेखा अंतिम अध्याय में देते हैं।

'साहित्य अमर है', 'साहित्य महत्त्वपूर्ण है यह तो सभी मानते हैं—लेकिन प्रश्न उठता है कि यह महत्त्वपूर्ण क्यों है? साहित्य के सामने जब भी प्रश्न चिह्न लगाया गया है तो अधिकांश साहित्यकार उसके लिए रोमांटिक, भाववादी या रहस्यवादी तर्क देते रहे हैं। शैली ने 'डिफेंस ऑफ पोयट्री' में यदि रोमांटिक कारण दिए तो दूसरे समीक्षकों ने विज्ञान से अलगाव की नकारात्मक व्याख्या। लेकिन कॉडवेल ने 'साहित्य के कार्य' की धारणा से स्थापित किया कि साहित्य

इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि वह एक सामाजिक कार्य संपादित करता है और यह कार्य अन्य ज्ञान-विज्ञान से किसी भी अर्थ में घटकर नहीं। इसीलिए साहित्य आज तक जिन्दा रहा है और रहेगा। जो साहित्यकार इस कार्य से उसे अलगाते हैं वस्तुतः वे साहित्य की भूमिका को नकार कर उसे अपदस्थ करते हैं। व्यक्ति-केन्द्रित बुर्जुआ साहित्य कॉडवेल की नजरों में ऐसा ही साहित्य है जो असल में साहित्य-मात्र का ही विरोधी है।

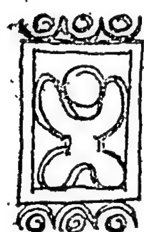
इधर 'साहित्य के भीतर ही साहित्य का मूल्यांकन' का नारा बुलन्द हुआ है। लेकिन एक मार्क्सवादी समीक्षक के रूप में कॉडवेल की मान्यता है कि आलोचक का काम केवल रचना में सीमित हो जाना नहीं है, वह साहित्य की आन्तरिक और वाह्य दोनों वास्तविकताओं के बीच सक्रिय है। इसी अर्थ में उसमें समाजशास्त्र के तत्वों की सहायता आवश्यक है। साहित्य के इस विश्लेषण का आधार है—ऐतिहासिक भौतिकवाद। लेखक और आलोचक में यही मूलभूत फर्क है। लेखक के लिए सामाजिक अनुभव और उसे अभिव्यक्ति देने वाली तकनीकों का यदि अधिक महत्व है तो आलोचक उसी अनुभव को अन्तर्ग्रथित सामाजिक संदर्भों में रखकर जाँच-पड़ताल करता है।

कुछ समीक्षकों ने कॉडवेल पर आरोप लगाया कि उसमें किसी संगठन का अभाव है, दूसरों का कहना है कि उसने किसी साहित्यिक रचना को केन्द्र में रखकर बात नहीं की। लेकिन कॉडवेल के जीवन से परिचित कोई भी व्यक्ति जान सकता है कि इतने अल्प समय में उसके साहित्य से उतनी बड़ी अपेक्षाएँ करना असंगत है। जो भी गम्भीर साहित्य प्रकाश में आया है उसकी रचना केवल दो वर्ष के बीच हुई। सत्ताईस वर्ष की आयु में काडवैल मार्क्सवादी सिद्धांत और राजनीति के निकट संपर्क में आए। इसी बीच पार्टी के दैनंदिन के कार्य, नुक्कड़ सभाएँ, अखबार की बिक्री आदि कामों के दौरान ही उन्होंने वह सब लिखा। उन्तीस वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हो गई। इन दो वर्षों में जितना साहित्य काडवैल ने रचा, वह साधारण प्रतिभा के वस की बात नहीं। उस समय का ऐसा कोई महत्वपूर्ण विचारक या ज्ञान-शाखा नहीं जिस पर कॉडवेल ने नहीं लिखा, कोई ऐसा महत्वपूर्ण मुद्दा नहीं जो उसके लेखन में न उभरा हो। शायद किसी विशिष्ट कृति का विश्लेषण कॉडवेल का लक्ष्य भी नहीं रहा। उसने संस्कृति के व्यापक क्षेत्र को चुना था और संपूर्ण संदर्भों में मार्क्सवादी दृष्टि से उस पर विचार किया। जहाँ तक संगठन की बात है, वह संगठन उस साहित्य में आद्यंत है। एक मार्क्सवादी होने के नाते कॉडवेल विभिन्न ज्ञानों के अलगाव या विशेषज्ञीकरण के विरुद्ध थे। उनके मत से यह अलगाव पूंजीवाद के 'श्रम विभाजन' के सिद्धान्त ने पैदा किया है। जरूरत इन सभी ज्ञानों के अन्तर्संबन्धों को उद्घाटित करने की है। यही कारण है कि शॉ, वैल्स, रसल, लारैंस, फ्रॉयड आदि के बहाने समाजशास्त्र, विज्ञान, साहित्य, दर्शन, राजनीति, मनोविज्ञान आदि पर उसने जो विचार प्रस्तुत किए वे अंततः उनके अन्तर्संबंधों को उद्घाटित करते हुए एक ही निष्कर्ष की ओर ले जाते हैं। अतः ऊपर-ऊपर से देखने में जो असंगठन और बिखराव उसके साहित्य में नजर आता है, वस्तुतः वैसा है नहीं। सामाजिक कार्य की पूर्ति में ये अलग-अलग शाखाएँ क्या भूमिका अदा करती हैं, मुख्य प्रश्न यह है।

कहना न होगा कि कॉडवेल का उद्देश्य था मार्क्सवादी दृष्टि से संस्कृति की

करना। यह पड़ताल किसी भी सिरे से या मुद्दे से शुरू हो—वे उस विचार तक पहुँचने के विभिन्न रास्ते हैं, जिनसे गुजरकर कॉडवेल ने अपनी मान्यताओं की सत्यता प्रमाणित की। पूँजीवाद की सांस्कृतिक दृष्टि रुग्ण है, मरणशील है अतः वह किसी मुद्दे पर सही बहस कर ही नहीं सकती। लेखक इसे भी विभिन्न दृष्टियों से प्रमाणित कर एक सही और स्वस्थ दृष्टि का विकास करना चाहता है। और यह विचार उसके लिए मार्क्सवादी है, और व्यवस्था—साम्यवादी।

इसलिए प्रश्न उठता है कि वे कौन-से सौन्दर्यशास्त्रीय मान हैं जिनकी कॉडवेल ने स्थापना की? इसका सहज उत्तर है कि मार्क्सवादी सिद्धान्तों के आधार पर साहित्य के विवेचन का प्रयास ही कॉडवेल में अधिक दिखाई पड़ता है, मान-मूल्यों के निर्माण का नहीं। कॉडवेल के समय में यह एक महत्वपूर्ण दायित्व भी था। और क्योंकि उसका व्यक्तित्व और साहित्य एक सतत संघर्ष था इसलिए मार्क्सवाद के मान्य सिद्धान्तों का उपयोग ही उसमें अधिक है। उसने एक रूपरेखा प्रस्तुत की है, आगे के मार्क्सवादी विचारकों के विचारार्थ महत्वपूर्ण प्रश्न उठाये हैं, भरने के लिए बहुत सारे रिक्त-स्थान छोड़े हैं। संघर्ष की शर्तों और माँगों के कारण कॉडवेल में कहीं-कहीं अतिरिक्त कट्टरता और सपाट निष्कर्षों तक दौड़ लगाने की जल्दबाजी दिखाई पड़ती है, बहुत सैद्धांतिकता भी उसमें है। लेकिन उसके व्यापक फलक और गहरी सूझबूझ से शायद ही उसके विरोधी भी इन्कार कर सकें। मार्क्सवादी आलोचना के विकास में कॉडवेल के साहित्य से आज भी सहायता ली जा सकती है। आज जो मुद्दे मार्क्सवादियों के बीच भी उलझ गए हैं, बहुत पहले कॉडवेल ने उन्हें हल कर दिया था। साहित्य और समाज का सम्बन्ध, साहित्यकार का सामाजिक दायित्व, विभिन्न ज्ञान-विज्ञानों के बीच आवयविक सम्बन्ध। रघुवीर सहाय ने अपने काव्य-संग्रह की भूमिका में लिखा कि लेखक किसी भी मोर्चे पर लड़े लेकिन लड़े साहित्यिक मोर्चे पर ही। कॉडवेल ने बहुत पहले इस तरह के बेबुनियाद सवालों का उत्तर दे दिया था। ज़ाहिर है, यह कॉडवेल का संक्षिप्त परिचय ही है, और इतने व्यापक पैमाने पर सक्रिय लेखक का यह परिचय भी अधूरा ही होगा।



एलिक वेस्ट की सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताएँ

—रमेश उपाध्याय

ब्रिटेन के मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तकों के बीच एलिक वेस्ट एक महत्वपूर्ण नाम है। यद्यपि एलिक वेस्ट के प्रिय छात्र क्रिस्टोफर कॉडवॅल को लोग अधिक जानते हैं, फिर भी एलिक वेस्ट ब्रिटेन के मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तकों तथा आलोचकों की परम्परा के सबसे प्रतिभावान पुरस्कर्ताओं में से एक हैं। सन् १९३० ई० के आसपास ब्रिटिश कम्युनिस्ट आन्दोलन में शामिल होने वाले मार्क्सवादी साहित्यकारों में एलिक वेस्ट, क्रिस्टोफर कॉडवॅल, एजेल रिकवर्ड, डगलस गार्मन, सेसिल डे लीविस, एडवर्ड अपवार्ड, राल्फ फॉक्स, रॉय पास्कल, जैक लिंड्से, जार्ज थाम्पसन प्रमुख थे, जिन्हें आर्नल्ड केटल ने ब्रिटेन में मार्क्सवादी साहित्य-समीक्षा के अग्रदूत कहा है।

एलिक वेस्ट का जन्म ईसाई मत में गहरी आस्था रखने वाले एक मध्यवर्गीय परिवार में हुआ था, अतः ईसाइयत की मानवतावादी और नैतिक दृष्टि वेस्ट को संस्कार रूप प्राप्त हुई थी। लेकिन यथार्थ के प्रति सचेत रहने के कारण एलिक वेस्ट ने देख लिया कि ईसाई नैतिकता का आधार—मनुष्य-मनुष्य के बीच सच्ची भ्रातृ-भावना—समाज को तब तक प्राप्त नहीं हो सकता जब तक समाज की आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था को बदल न दिया जाये। इसी चेतना के कारण वेस्ट ईसाई मत को त्याग कर मार्क्सवाद की ओर आये।

वेस्ट ने एक प्रतिभावान युवक के रूप में जिस समय अपना जीवन आरम्भ किया, प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ गया और पूरे युद्ध काल में वेस्ट को एक असैनिक बन्दी के रूप में जर्मनी में जेल की यातना सहनी पड़ी। वहाँ से छूटकर ब्रिटेन लौटने पर उन्होंने ट्रिनिटी कालेज में आधुनिक भाषाओं का अध्ययन किया और रंगमंच पर अभिनय का काम भी। डिग्री प्राप्त करने के बाद वेस्ट ने कई वर्षों तक घुमंतू जीवन जिया और मिस्र, जर्मनी तथा स्विट्ज़रलैण्ड में अध्यापन और लेखन-कार्य करते हुए अपने अध्ययन और चिन्तन को आगे बढ़ाते रहे। इस काल में इब्सन, नीत्शे और फ्रायड ने उन्हें काफी प्रभावित किया।

तो सर्जनात्मक कारक के रूप में व्यक्तित्व या चरित्र का त्याग; दूसरी ओर मार्क्सवाद का या तो पूरी तरह, या इस आरोप के साथ अस्वीकार कि वह सौन्दर्यशास्त्र की उपेक्षा करता है।"

उक्त लेखकों के व्यक्तिवादी और मार्क्सवाद-विरोधी बुर्जुआ विचारों की आलोचना करते हुए एलिक वेस्ट ने इलियट की कविता 'वेस्ट लैंड' में प्रयुक्त 'मैं' और 'हम' शब्दों के सन्दर्भ में लिखा - "जब तक मैं यह नहीं जानता कि वे 'हम' कौन हैं जिनमें मेरा सम्बन्ध है, तब तक मैं यह भी नहीं जानता कि 'मैं' कौन हूँ।" और उनके मार्क्सवाद-विरोध को स्पष्ट करते हुए कहा कि इन लोगों के द्वारा मार्क्सवाद के विरुद्ध यह कह कर आपत्ति की जाती है कि मार्क्स-वाद साहित्य के केवल आर्थिक कार्य-कारण की व्याख्या करता है, इसलिए आर्थिक क्षेत्र में सही होते हुए भी यह सौन्दर्यानुभव की उपेक्षा करता है और उसकी व्याख्या नहीं कर सकता।

इस आपत्ति का उत्तर देते हुए एलिक वेस्ट ने लिखा—"वास्तविकता यह है कि मार्क्सवाद सौन्दर्यशास्त्र की उपेक्षा नहीं करता। वह सौन्दर्यानुभव का रूपांतरण करता है। जिस प्रकार सामाजिक परिवर्तन के साथ प्रत्येक गतिविधि बदलती है, उसी प्रकार सौन्दर्यात्मक गतिविधि भी बदलती है। मार्क्सवाद पर आक्षेप करने वाले इस तथ्य को भूल जाते हैं और पुरानी सौन्दर्यात्मक धारणाओं के अनुसार सोचते और अनुभव करते रहते है।"

अपने समय के बुर्जुआ आलोचकों की बौद्धिक बेईमानी को बेनकाब करते हुए एलिक वेस्ट ने रोमैंटिक कवियों पर विस्तार से विचार किया है और उनके सृजन एवं चिन्तन में निहित स्वस्थ सामाजिक दृष्टि को उद्घाटन करते हुए उस दृष्टि की सीमाओं को भी स्पष्ट किया है। वेस्ट ने लिखा है—"रोमैंटिसिज्म के बाद से बुर्जुआ चिन्तन बेईमान रहा है। विशेष रूप से आलोचना जिसने रोमैंटिसिज्म से साक्षात्कार करने से ही इनकार कर दिया। रोमैंटिसिज्म ने यह बताया था कि साहित्य का सामाजिक चरित्र होता है, कि साहित्य के लिए कुछ विशेष परिस्थितियाँ अनुकूल होती हैं, और उन परिस्थितियों के निर्माण के लिए किये जाने वाले प्रयत्नों में सहयोग देना साहित्य का कर्तव्य होता है। फिर चार्टिज्म के साथ रोमैंटिसिज्म कर्म-क्षेत्र में उतरा और इंग्लैंड के लोग उस न्याय और मुक्ति के लिए लड़े जिसे शेली ने आदर्शीकृत किया था। (इसलिए) बुर्जुआ आलोचना ने फौरन रोमैंटिसिज्म को त्याग दिया।"

आधुनिकतावादी बुर्जुआ आलोचकों द्वारा की गयी रोमैंटिसिज्म की गलत व्याख्याओं तथा निंदापरक आलोचनाओं का पर्दाफाश करते हुए एलिक वेस्ट ने रोमैंटिसिज्म की कमियों की ओर भी संकेत किया और कहा—"रोमैंटिक आलोचना के विचारों में भी परिवर्तन की आवश्यकता है, ताकि साहित्य को कुछ गिने-चुने सामाजिक सम्बन्धों की अवधारणा से जोड़ने के बजाय यथार्थ में बदलते हुए सामाजिक संघटन से जोड़ा जा सके। चूँकि साहित्य किसी शाश्वत और अपरिवर्तनीय विचार की अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि बदलते हुए सामाजिक संघटन की वास्तविक विकास-प्रक्रिया का अंग है, इसलिए सौन्दर्यशास्त्र स्थिर रहने के बजाय गतिशील होता है।"

मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के विषय में एलिक वेस्ट के विचारों को इसी क्रम में प्रस्तुत किया जा सकता है। उन्होंने लिखा है—"यह बात कि साहित्य

नहीं) तथा भाषा के वस्तुतत्त्व का सम्बन्ध उस विशिष्ट कार्य से होता है जिसे अब किया जाना है। रूप और वस्तुतत्त्व का जो सम्बन्ध आपस में एक-दूसरे से और उनके मूल्य का जो सम्बन्ध सामाजिक उद्गम से जिस प्रकार सामान्य भाषा में होता है, मोटे तौर पर वही साहित्य की विशेषीकृत भाषा में होता है। उसका भी उद्देश्य किसी विशिष्ट कार्य के लिए सामाजिक ऊर्जा को संघटित करना है। इस प्रकार "साहित्य का मूल्य सदा ही किसी विशिष्ट कार्य के लिए सामाजिक ऊर्जा को संघटित करने में होता है।"

एलिक वेस्ट के अनुसार समाज की दो आधारभूत गतिविधियाँ हैं : उत्पादन और उपभोग। इन दोनों के बीच कोई निश्चित विभाजक-रेखा नहीं खींची जा सकती, क्योंकि उत्पादन में श्रम-शक्ति का उपभोग होता है और उपभोग से वह उत्पन्न होती है। फिर भी उत्पादन उपभोग की गतिविधि से श्रेष्ठतर गतिविधि है, क्योंकि उत्पादन के लिए उपभोग की अपेक्षा उच्चतर संघटन और उसमें अपेक्षाकृत अधिक तत्परता के साथ मनुष्य की हिस्सेदारी की आवश्यकता होती है। आहार को उदरस्थ करने की अपेक्षा आहार को उत्पन्न करने के लिए अधिक ऊर्जा अपेक्षित होती है। दूसरे, प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में स्वयं को उत्पन्न करने के अलावा और कोई उत्पादन किये विना केवल उपभोग करता है, इसलिए उसमें तत्काल अनावश्यक वस्तुओं का उत्पादन करते जाने की अपेक्षा तत्काल उपलब्ध वस्तुओं के उपभोग की तत्परता अधिक होती है। उत्पादन और उपभोग के प्रति मनुष्य के आम रुख में इसी प्रकार का अन्तर होता है। लेकिन इस आम रुख में परिवर्तन ही मनुष्य को मनुष्य बनाता है। अर्थात् उत्पादन-क्रिया से जुड़ कर ही मनुष्य पशु-स्तर से ऊपर उठ कर मनुष्य बनता है।

उत्पादन के लिए आवश्यक है कि उसके इच्छुक मानव-समुदाय को ध्यान में रखा जाये जिसे उत्पादन करना है; उस लक्ष्य को ध्यान में रखा जाये जिस तक पहुँचना है; और साथ ही उन भौतिक साधनों को उनके यथार्थ रूप में देखा जाये जिनसे उत्पादन-क्रिया सम्पन्न होनी है। दुनिया अपने प्राकृतिक या यथावत् रूप में मनुष्य के लिए अर्थहीन है, सार्थक वह तभी होती है जब मनुष्य उत्पादन प्रक्रिया में उसे मानवीय बनाता है, अर्थात् अपने लिए उसका रूपांतरण करता है। इस प्रक्रिया में दुनिया को उसके वास्तविक रूप में और साथ ही उसे मानवीय बनाने के अपने लक्ष्य की दृष्टि से देखना होता है।

एलिक वेस्ट के अनुसार उत्पादन की इस गतिविधि से लेखक का सम्बन्ध ही साहित्य के मूल्य का आधार है। उत्पादन की गतिविधि से जुड़े लेखक के लिए समाज और दुनिया यथार्थ होने के साथ-साथ मनुष्य द्वारा निरन्तर वदली जाने वाली चीजें हैं, जबकि इसके ठीक विपरीत उपभोग की गतिविधि से जुड़े लेखक के लिए ये चीजें यथावत, अपरिवर्तनीय, और इसीलिए अवास्तविक होती हैं। उन्होंने लिखा है।

"अच्छा लेखक समाज की उत्पादक ऊर्जा को सक्रिय रूप से अनुभव करता और उससे अपना तादात्म्य स्थापित करता है। वह जान लेता है, और यह आवश्यक नहीं कि सचेत रूप से ही जाने, वल्कि शायद वह ऊर्जा और क्लांति के प्रत्यावर्तनों से जानता है, कि यह जगत् और इसमें हमारा जीवन महज तथ्य नहीं हैं। ये ऐसे तथ्य हैं जिनके गीत बना कर गाये जा सकते हैं...लेखक इन

सकते हैं जीवन्त रूप का अनुभव करता है कि समाज हमारे अस्तित्व का आधार है। केवल समाज ही नहीं, बल्कि सामाजिक ऊर्जा द्वारा हमारे लिए उपलब्ध करायी गयी प्रत्येक वस्तु का चमत्कार है—अविरल सृजन का चमत्कार।"

इसी चमत्कार को एर्निस्ट फिशर साहित्य-सृजन की प्रेरणा मानते हैं तथा कहते हैं कि इसी प्रेरणा से जीवन्त और श्रेष्ठ साहित्य का सृजन होता है। इसके विपरीत मात्र उपभोग की क्रिया से सम्बन्ध रखने वाले लेखक के लिए यह कोई चमत्कार नहीं। उसके लिए तो प्राकृतिक और सामाजिक जगत् का अस्तित्व मात्र एक तथ्य है। उसमें ऐसा क्या है, जिसके गीत गाये जायें ? जगत् को स्थिर और अपरिवर्तनीय मानने वाला यह दृष्टिकोण उसे आत्मनिष्ठ और सामाजिक जगत् के प्रति उदासीन बना देता है। यदि वह सामाजिक परिवर्तनों को स्वीकार करता भी है—क्योंकि वे उसे स्वीकार तो करने ही पड़ते हैं—तो समाज उसके लिए केवल अपना ही उत्थान या पतन होता है, और वैयक्तिक उत्थान या पतन के विचार से उत्पन्न होने वाला संतोष या असंतोष सामाजिक परिवर्तन को उसके लिए ऐसी आवर्ती घटना बना देता है जो सदा एक ही रूप में और एक ही प्रकार से घटित होती रहती है। ऐसा लेखक कभी अच्छा लेखक नहीं हो सकता।

एर्निस्ट फिशर के अनुसार समाज की विकास-प्रक्रिया साहित्य की प्रेरणा तभी बनती है जब लेखक सक्रिय रूप से उसे महसूस करता है। और यह तभी होता है जब वह अपनी गतिविधि में नयी उत्पादक शक्तियों और पुराने उत्पादन-संबंधों के तनावों को अनुभव करता है। ये तनाव उसकी विचार तथा रचना-प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। अतीत से प्राप्त चिंतन के पुराने रूपों तथा वर्तमान से उत्पन्न चिंतन के नये रूपों के बीच एक द्वन्द्व उपस्थित हो जाता है, क्योंकि लेखक यदि सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया से जुड़ा होता है तो नयी उत्पादक शक्तियों को व्यक्त करने वाला उसका नया दृष्टिकोण मौजूदा उत्पादन-सम्बन्धों के शासक वर्गीय दृष्टिकोण से टकराने लगता है। ऐसी स्थिति में लेखक या कलाकार मनुष्य और उसके संसार को उत्पन्न करने वाली सामाजिक ऊर्जा को ही नहीं, उसके संगठन के रूप में होते हुए परिवर्तन को भी महसूस करता है। और यही कारण है कि साहित्य हमें केवल सामाजिक संगठन की ही नहीं, बल्कि बदलते हुए सामाजिक संगठन की समझ प्रदान करता है।

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि साहित्य समाज के एक अवस्था से दूसरी अवस्था में रूपांतरित होने के तथ्य अथवा उसकी वांछनीयता को प्रस्तुत करने मात्र का काम करता है—मानो शब्द कुछ पूर्वनिर्धारित वस्तुओं का वर्णन करने वाली कुछ पूर्वनिर्धारित वस्तुएँ हों—बल्कि साहित्य शब्दों के द्वारा उस जीवन को प्रकट करता है जिसने उन शब्दों का निर्माण किया है। परिवर्तन हो रहा है, यह मालूम होना एक बात है, लेकिन क्या परिवर्तन हो रहा है, यह दिखाना एकदम दूसरी बात है। साहित्य यही दिखाता है और परिवर्तन की प्रक्रिया की विभिन्न अवस्थाओं को सामने लाकर दिखाता है। अर्थात् साहित्य परिवर्तन का बाहरी और सामान्य सूचीकरण नहीं करता, बल्कि उस परिवर्तन को उपलब्ध करने की वास्तविक प्रक्रिया को प्रस्तुत करता है। यह प्रक्रिया साहित्य में उन विरोधाभासों के द्वारा व्यक्त होती है जो सामाजिक संघटन और विघटन के बीच,

ऊर्जा और जड़ता के बीच, तथा मानवीय और प्राकृतिक जगत् के बीच पायी जाती है। सामाजिक परिवर्तन की अभिव्यक्ति में साहित्य परिवर्तन और परिवर्तित होने वाली वस्तु के बीच के वैषम्य और विरोध को तथा पुराने के अंत और नये में उसके स्थायित्व को प्रस्तुत करता है। सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया के प्रति यह संवेधता समस्त महान साहित्य की विशेषता है।

साहित्य के रूप और वस्तुतत्व के विषय में विचार करते समय एलिक वेस्ट परिवर्तनशील उत्पादन-प्रक्रिया के लिए सामाजिक ऊर्जा के सङ्घटन पर जोर देते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार भाषा किसी मानव-समुदाय को मात्र संघटित ही नहीं करती, बल्कि उसकी ऊर्जा को किसी तात्कालिक गतिविधि की ओर प्रेरित भी करती है, उसी प्रकार साहित्य केवल अपने रूप से सामाजिक ऊर्जा को जागृत नहीं कर सकता। रूप और वस्तुतत्त्व दोनों एक साथ उस ऊर्जा को जगाते और प्रेरित करते हैं। साहित्य के रूप समाज के पिछले अनुभवों के आधार पर बनते हैं और उसका वस्तुतत्त्व किसी तात्कालिक कार्य का निर्देश करता है। सामाजिक ऊर्जा के जागृत होने के लिए पिछले अनुभवों और तात्कालिक उद्देश्य—दोनों का ही होना आवश्यक है। अतः साहित्य में रूप और वस्तुतत्त्व की एकता होनी चाहिए। परन्तु एकता का अर्थ यह नहीं है कि दोनों समान महत्वपूर्ण हैं। एलिक वेस्ट वस्तुतत्व को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। उन्होंने लिखा है :

"रूप और वस्तुतत्त्व की इस एकता में वस्तुतत्त्व का प्राथमिक महत्व इस बात में है कि उसमें सामाजिक विकास-प्रक्रिया के तनावों के प्रति लेखक की प्रतिक्रिया व्यक्त होती है, जो उसे एक विशिष्ट वस्तुतत्त्व के चयन को प्रेरित करती है और जिससे उसकी दृष्टि-क्षमता निर्धारित होती है। यदि उसकी प्रतिक्रिया ऐसी है कि वह स्वयं को अपने समय की सर्वाधिक सक्रिय शक्तियों से जोड़ता है तो वह जीवन को निर्मित होते हुए देख और महसूस कर सकता है; और साहित्य के कलात्मक रूप के लिए यह एक आवश्यक शर्त है। यदि वह उन शक्तियों के शत्रुओं में जा मिलता है तो या तो वह उनकी सृजनात्मक ऊर्जा पर ध्यान ही नहीं देता, या अमूर्त सिद्धान्तों के नाम पर उसकी भर्त्सना करता है। दोनों ही स्थितियों में उसकी दृष्टि-क्षमता और अभिव्यक्ति निर्जीव हो जाती है।"

एलिक वेस्ट के अनुसार प्रत्येक लेखक को यह सामाजिक निर्णय लेना ही पड़ता है कि वह किस पक्ष में जाये। उसका यह निर्णय उसकी रचना के वस्तु-तत्त्व में व्यक्त होता है और उसके सामान्य सामाजिक रुख का पता देता हुआ रचना के रूप की समृद्धि अथवा दरिद्रता में परिणत होता है। इसी अर्थ में नया वस्तुतत्त्व पुराने रूप को बदलता है।

एलिक वेस्ट अच्छे, बुरे और किसी भी प्रकार के साहित्य के सम्बन्ध में यह मानते हैं कि उसके रूप और वस्तुतत्त्व का निर्धारण सामाजिक और आर्थिक विकास के आधार पर होता है, लेकिन उनके अनुसार यह आधार कोई स्वचालित यंत्र नहीं, बल्कि जीते-जागते स्त्री-पुरुष हैं जिनकी ऊर्जा को संघटित किया जाना है। अच्छा साहित्य उसके संघटन और परिवर्तन में सहायता करता है और बुरा साहित्य उसके उत्पादों का उपभोग करता और उन्हें भ्रष्ट करता है।

इस प्रकार एलिक वेस्ट साहित्य के सौन्दर्यात्मक मूल्य और रचना में उस मूल्य के होने की प्रक्रिया को पूरी तरह स्पष्ट कर देते हैं। मार्क्सवादी आलोचना पर किये जाने वाले इस आक्षेप का, कि वह सौन्दर्यशास्त्र की उपेक्षा करती है,

[illegible] प्रचारात्मक चीजों को भी रचना का दर्जा देती है, निराकरण करते हुए वे [illegible] के दृष्टिकोण की सही मार्क्सवादी समझ को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं :

"हो सकता है, कोई कृति क्रांति की बात करे, किन्तु यदि वह क्रांति को [illegible] की मूर्तता [illegible] विकास-प्रक्रिया के द्वारा नहीं दिखाती, तो वह साहित्य के तौर पर अपना कार्य नहीं करती, और इसके परिणामस्वरूप कविता या उपन्यास [illegible] की बात करने वाली उस कृति में प्रस्तुतीकरण की जो अमूर्तता होगी, वह [illegible] में विमुख करेगी जिसके लिए उसकी रचना की गयी थी। अथवा कोई [illegible] प्रतिक्रिया की बात कर सकती है, किन्तु यदि वह जिस सामाजिक विकास-प्रक्रिया की भर्त्सना करती है, उसको समझ प्रदान कर देती है तो घोषित रूप से प्रतिक्रियावादी यह कृति घोषित रूप से क्रांतिकारी उक्त कृति से अधिक मूल्यवान होगी।"

कृति का मूल्य एलिक वेस्ट के अनुसार इस बात में निहित होता है कि वह सामाजिक ऊर्जा के संचरण को जारी रखती है और उसे परिवर्तित करती रहती है। उसका मूल्य हमें इस बात में दिखायी देता है कि वह उसी प्रकार की ऊर्जा हममें जागृत करती है। लेखक जितना ही जीवन को अधिक स्पष्टता के साथ देखता है, और जितना ही अधिक वह अपने समय के सर्वाधिक सक्रिय मानव-समुदाय से तादात्म्य अनुभव करता है, अपनी परिस्थितियों में तादात्म्य की वही [illegible] उतना ही हमारे आनन्द और आलोचना-क्षमता को घनीभूत कर देती है। यदि हम अपने जीवन में यह अनुभव करते हैं कि हमें समाज के निर्माण में योग देना है, तो हमें वह साहित्य अच्छा लगेगा जो सृजन को मूर्त रूप में प्रस्तुत करता है। यदि हम समाज का शोषण करके ही संतुष्ट हैं तो साहित्य में हमारी रुचि होने की कोई संभावना ही नहीं रह जाती; हम साहित्य के बजाय उस मुद्रित सामग्री को तरजीह देने लगते हैं जो हमारी ही तरह भाषा और जीवन का इस्तेमाल मात्र [illegible] तथ्यों के रूप में करती है। तब यदि हम श्रेष्ठ साहित्य पढ़ते भी हैं तो उसे बुरा बना देते हैं।

एलिक वेस्ट आलोचना और सौन्दर्यशास्त्र का अभिन्न सम्बन्ध स्वीकार करते हैं और इनके द्वारा किये जाने वाले कृति के मूल्यांकन को जीवन से जोड़ते हैं। वे यह चेतावनी देना नहीं भूलते कि "सामाजिक ऊर्जा का उत्कर्ष जिस वस्तु के माध्यम से होता है, उसका अध्ययन करने से पहले उस ऊर्जा की अनुभूति आवश्यक है। विश्लेषण से पहले और उसकी आवश्यक शर्त है संवेदनात्मक प्रभाव। उसके बाद ही आलोचना हमें यह निश्चय करने में सहायता दे सकती है कि हम अपनी उत्पादक ऊर्जा के जागृत होने से प्रभावित हुए हैं या उपभोक्ता की भूख मिट जाने पर होने वाली संतुष्टि से। लेकिन आलोचना यह निश्चय नहीं करती कि हम प्रभावित हुए हैं। यह निश्चय हमारा जीवन ही करता है। और यदि हमारा जीवन ऐसा है कि हम बुरी चीजों से प्रभावित होते हैं, तो किसी भी सिद्धान्त को तोड़-मरोड़ कर अपना औचित्य सिद्ध कर सकते हैं।"

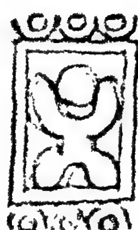
इसी आधार पर वे आगे कहते हैं कि हमारे समय में सामाजिक संघटन की सर्वाधिक मूर्त्तात्मक विकास-प्रक्रिया समाजवाद है। 'सामाजिक संघटन' से वेस्ट का आशय किसी विशिष्ट समाज से न होकर समग्र मानवता से है। वे कहते हैं—"मानवता के अलावा ऐसी कोई सामाजिक इकाई नहीं है जिसके संदर्भ में किसी सामाजिक गतिविधि को पूरी तरह समझा जा सके। पूंजीवाद ने एक

विश्व-बाजार उत्पन्न कर दिया है, और आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक अंतर्क्रियाएँ परस्पर इतनी सम्बद्ध हो गयी हैं कि एक देश में जो कुछ होता है उसे तभी समझा जा सकता है जब यह देखा जाये कि पूरे विश्व में क्या हो रहा है।"

भारतीय साहित्य और राजनीति में भारतीयता की बात करने वालों के लिये एलिक वेस्ट का वह उत्तर प्रासंगिक हो सकता है जो उन्होंने टी० एस० इलियट को दिया था। उन्होंने कहा था—"मिस्टर इलियट की तरह यह कहना है कि हमें ब्रिटिश अथवा यूरोपीय मनीषा का अंग बन कर ही सोचना और लिखना चाहिए, उन आर्थिक एवं सामाजिक तथ्यों पर परदा डालने की एक कोशिश मात्र है, जो संपूर्ण मानवता के सदस्यों के रूप में सोचने और कार्य करने की जरूरत को सामने लाते हैं।"

वेस्ट के अनुसार आज सम्पूर्ण मानवता एक समाज बन चुकी है और ऐसी स्थिति में जातीय, राष्ट्रीय अथवा महाद्वीपीय संस्कृतियों की बाड़ेबंदी करके सौन्दर्यशास्त्र को संकुचित करने की चेष्टा पूँजीवादी प्रचार के अलावा और कुछ नहीं है। आज वह समय आ चुका है कि हम उन देशों के उन कालों के साहित्य को भी समझ और सराह सकें, जिनका अस्तित्व भी उन कालों में हमारे लिये अज्ञात था। उन्हीं के शब्दों में :

"साहित्य को जिस सामाजिक संघटन से जोड़ कर देखा जाना चाहिये, वह मानवता है जो समाजवाद की ओर बढ़ रही है। आलोचना का कार्य साहित्य को, उसके रूप और वस्तुतत्व दोनों की दृष्टि से, इस आन्दोलन के अंग के रूप में परखना है। आलोचना इस कार्य को तभी कर सकती है जब स्वयं भी दुनिया भर के मेहनतकशों के पक्ष में होकर इस आन्दोलन का अंग बने। और इस अर्थ में उसका सौन्दर्यशास्त्र स्थिर न होकर गतिशील होगा।"



मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र
जार्जलूकॉच की दृष्टि

—डॉ० मलय

एक मार्क्सवादी साहित्य चिंतक के रूप में लूकाच का महत्व असंदिग्ध है। यह बात अलग है कि उन्होंने अपने प्रारम्भिक लेखन में, गम्भीर कला-दर्शन के क्षेत्र में, जिन समाज-शास्त्रीय एवं दार्शनिक प्रभावों की अभिव्यक्ति दी उसके कारण वे न केवल [illegible] समझे गये बल्कि मार्क्सवाद के प्रति गहरी संसक्ति के प्रश्न को लेकर उन पर सन्देह भी किया गया। वे अपनी बहु प्रचारित पुस्तक 'इतिहास और वर्गचेतना' (तथा कुछ अन्य पुस्तकों में भी) जिस' नितान्त गलत रूप में' सामने आये थे, अपने 'उस सम्बन्ध' में, बाद में लूकाच ने मार्क्सवाद के प्रति अपनी गहरी संगति के साथ कहा अब तो हमें ६० की दार्शनिक समस्याओं को [illegible] करनी चाहिये। मैं इस समय 'सामाजिक अस्तित्व की सत्ता मीमांसा' नामक रचना को पूरा करने में लगा हूँ और मेरा विश्वास है कि इस रचना के माध्यम से मैं उस समस्या को ठीक ढंग से सुलझा सकूंगा जो कि नितान्त गलत रूप में मेरी प्रारम्भिक रचना 'इतिहास और वर्गचेतना' में प्रकट हुई थी।[1] जैसा कि कहा और समझा जा सकता है लूकाच का यह प्रारम्भिक लेखन 'अपनी स्थापना और पद्धति के अन्तर्विरोधों से ग्रसित रहा है' और इस प्रकार इसीलिए मानते हैं कि लूकाच जैसे-जैसे अपने गन्तव्य की ओर अग्रसर होते जाते हैं वैसे-वैसे उनकी यथार्थ आस्था पुख्ता होती जाती है।[2] वास्तव में लूकाच के प्रमुख लेखन की ओर उनके द्वारा प्रतिपादित मार्क्सवादी-सौन्दर्य-शास्त्रीय धारणाओं की गम्भीर और महत्वपूर्ण जानकारी इसी बुद्धि-विश्वास के साथ कर पाना अधिक सरल हो सकता है।

इस सन्दर्भ में एक और कठिनाई यह है जो भी, जितना थोड़ा भी, उनका (अनुवादों) साहित्य उपलब्ध है वह पूरा नहीं है लेकिन उसके आधार पर लूकाच के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण विचार क्रम उपलब्ध हो जाते हैं। इस क्रम में उनके प्रारंभिक काल के प्रकाशित 'योरोपीय यथार्थवाद का अध्ययन' का नाम पहला

माना जा सकता है। वैसे यह एक समीक्षात्मक ग्रन्थ है और इसमें लूकाच ने वालज़ाक, ज़ोला, तालस्ताय और गोर्की के उपन्यासों का अध्ययन करते हुए यथार्थवाद सम्बन्धी धारणाओं को स्पष्ट किया है।

मार्क्सवाद : एक समग्र दर्शन

इस पुस्तक की भूमिका में ही लूकाच मार्क्सवाद को उसकी क्षमताओं के साथ, एक समग्र जीवन दर्शन के रूप में स्वीकार करते हुये कहते हैं मार्क्सवाद न केवल प्रत्येक तथ्य अथवा घटना के मूलाधारों की खोज करता है, उन्हें उनकी ऐतिहासिक सम्बद्धता तथा गतिशीलता में भी देखता है, इस गतिशीलता के नियमों का पता लगाकर वह उनके समूचे विकासक्रम को प्रदर्शित करता है, तथा अपने इस प्रयास में तथ्य एवं घटना के ऊपर जमी धुंध को साफ कर उसे इस रूप में प्रस्तुत करता है कि उसे भलीभाँति समझा और जाना जा सके।[३] लूकाच अपनी इसी उद्देश्यपूर्ण प्रक्रिया में यह निश्चित कर पाने में सफल होते हैं कि निराशावादी दर्शन आज जहाँ संस्कृति के विनाश तथा संसार के विघटन पर आँसू बहा रहा है वहाँ मार्क्सवाद उस सारे विघटन तथा विनाश के बीच एक नई दुनिया के उदभव को देख रहा है।[४] जिन्हें आधुनिक उपन्यास कहते हैं वे कैसे और महत्वपूर्ण क्यों माने जाएंगे ? क्या आधुनिक उपन्यास का चरम उत्कर्ष जीद पुस्त या ज्वाइस आदि का कृतित्व सूचित करता है अथवा उपन्यास इनके काफी पहले अपनी महानता के शिखर वालज़ाक, तालस्ताय की कृतियों में उपलब्ध कर चुका था ?[५] लूकाच इन दो विपरीत सौंदर्य-शास्त्रीय धारणाओं के आधार पर समूचे साहित्य के विकास को देखने परखने की वात को आवश्यक मानते हुये साहित्य में क्रियाशील मिथ्याधारणाओं को और उनके छद्म को जाहिर करते हुये यथार्थवाद के वास्तविक चरित्र का उद्घाटन करते हैं।

यथार्थवाद

यथार्थवाद मिथ्या वस्तुपरकता तथा मिथ्या व्यक्तिपरकता के बीच का कोई मध्यम मार्ग नहीं है, वरन् इसके विपरीत वह हमारे समय की भूलभुलैया में विना किसी नक्शे के भटकने वाले लोगों के द्वारा गलत रूप से प्रस्तुत किये गये प्रश्नों के फलस्वरूप उत्पन्न समस्त प्रकार के झूठे असमंजसों के विरुद्ध एक सत्य तथा सही समाधानों तक पहुँचने वाला तीसरा रास्ता है।[६] इस तरह लूकाच सम्पूर्ण मानवीय व्यक्तित्व के समुचित प्रस्तुतीकरण को यथार्थवाद की केन्द्रीय समस्या निरूपित करते हैं।

लेकिन यथार्थवाद का विशद् विवेचन लूकाच अपनी पुस्तक 'समकालीन-यथार्थवाद का अर्थ' में प्रस्तुत करते हैं, जहाँ वे सामाजिक तथा ऐतिहासिक यथार्थवाद की सही सौन्दर्य शास्त्रीय समझ, यथार्थवाद की अनिवार्य पूर्व शर्त है,[७] मानते हैं।

आलोचनात्मक यथार्थवाद और सामाजिक यथार्थवाद

अपनी इस समझ के आधार पर लूकाच आलोचनात्मक यथार्थवाद के साथ समाजवादी यथार्थवाद का विश्लेषण करते हुये कहते हैं कि समाजवादी यथार्थ-वाद का परिप्रेक्ष्य निश्चित रूप से समाजवाद के लिये संघर्ष है अतः समाजवादी यथार्थवाद आलोचनात्मक यथार्थवाद से महज इस कारण ही भिन्न नहीं है कि वह एक ठोस समाजवादी परिप्रेक्ष्य पर आधारित है वरन् इस कारण भी भिन्न

है कि एक समाजवादी समाज में भी संस्कारगत शक्तियों का नियमन करने के लिये इस परिवेश का उपभोग एक भीतरी शक्ति के रूप में भीतर से करता है। उनके लिये समाजवादी समाज, पूंजीवादी समाज से जुड़ा न रहकर, अपने में एक स्वतन्त्र नया समाज है, पर आलोचनात्मक यथार्थवादियों की भांति, पूंजीवादी समाज में मुक्ति पाने का मार्ग-दर्शन न होकर, उसके अपने जीवन का [illegible] है।[9] लूकाच ने समाजवादी यथार्थवाद के साथ आलोचनात्मक यथार्थवाद को जिस रूप में और जिस तरह देखा उसकी कटु आलोचना भी हुई किन्तु पूंजीवादी समाज से समाजवादी समाज के रूपान्तरण काल में बुर्जुआ आलोचनात्मक यथार्थवाद के अस्तित्व को एकदम नकारना कहाँ तक सम्भव है? [illegible] की इस स्थिति तक गुंजाइश भी नहीं है कि आलोचनात्मक यथार्थवाद का [illegible] यदि समाजवाद का चित्रण करता भी है तो एक बाहरी व्यक्ति के रूप में। लेकिन जब लूकाच कहते हैं कि नये समाजवादी समाज में आलोचनात्मक यथार्थवाद के लिये पर्याप्त समय तक गुंजाइश रहेगी।[10] तो सवाल किया जा सकता है कि इस 'पर्याप्त समय' की क्या सीमा है? और इसकी भी और दूसरे तरह की नहीं तो साहित्य सम्बन्धी परिस्थितियाँ क्या हो सकती हैं? यह विचारणीय अवश्य है। लेकिन लूकाच के लेखन की जटिलता और विरोधी प्रवृत्ति के विरोध के बावजूद उनके "आलोचनात्मक यथार्थवाद" के सम्बन्ध में एस० ए० डुर्नेन ने प्रतिक्रियावाद, साम्राज्यवाद तथा बुर्जुआदर्शन के विरुद्ध संघर्ष में उनके महत्त्व और जिम्मेदारी को स्वीकार किया है।

बुर्जुआ आधुनिकतावाद

लेकिन यह एकदम सही है कि उन्होंने बुर्जुआ आधुनिकतावाद पर आक्रमण करते हुए उसे यथार्थ-विरोधी घोषित किया है। वे मानते हैं कि आधुनिकतावाद [illegible] की समृद्धि नहीं उसका अस्वीकार है और इतिहास शून्य निरीह मानव ही इस आधुनिकतावाद के केन्द्र में स्थित है।[11] इस तरह जार्ज लूकाच मार्क्सवादी सौन्दर्य-शास्त्र के केन्द्र में स्थित, यथार्थवाद का विश्लेषण करने में सफल होते हैं। किन्तु बुर्जुआ सौन्दर्यशास्त्र के अधूरेपन और अंध प्रत्ययवादी मान्यताओं के [illegible] को, गहराई के साथ सामने लाने और इसके विरुद्ध मार्क्सवादी सौन्दर्य-शास्त्र की [illegible] समस्याओं को उजागर करते हुए उसके प्रतिपादन का कार्य उनकी आगामी कृतियों में सम्पन्न हुआ। जहाँ वे वास्तविक रूप से मार्क्सवादी लेनिनवादी ज्ञानमीमांसा के आधार पर मार्क्सवादी सौन्दर्य-शास्त्र की रचना में प्रवृत्त दिखते हैं।

संज्ञान और यथार्थ के प्रतिबिम्ब का सिद्धांत

जार्ज लूकाच एक मार्क्सवादी की तरह यह स्वीकार करते हैं कि प्राकृतिक या सामाजिक यथार्थ के किसी भी सही ज्ञान का आधार बाह्य जगत की वस्तु-परक [illegible] उसके मानव-चेतना-निरपेक्ष अस्तित्व की मान्यता है। बाह्य जगत का कोई भी बोध, चेतना-निरपेक्ष जगत के अस्तित्व के चेतना में प्रति-बिम्ब के अतिरिक्त कुछ नहीं है। चेतना के सत्व के सम्बन्ध का यह बुनियादी तथ्य, यथार्थ के कलात्मक प्रतिबिम्ब के बारे में भी सही है।[12] और इस तरह [illegible] कर सकते हैं कि प्रतिबिम्ब का सिद्धान्त चेतना के माध्यम से यथार्थ के सैद्धांतिक और व्यावहारिक ज्ञान के सभी रूपों का सर्वनिष्ठ आधार है इस प्रकार यह यथार्थ के, कलात्मक प्रतिबिम्ब के सिद्धान्त का भी आधार है।[13] हम

देखेंगे कि लूकाच आगे जाकर इस कलात्मक प्रतिबिम्ब का, उसके विशिष्ट पहलुओं का विश्लेषण करने में समर्थ होते हैं। लेकिन यह आवश्यक है कि यह जान लिया जाय कि यथार्थ के प्रतिबिम्ब का व्यापक सिद्धान्त क्या है? और वह किस तरह अस्तित्व में आया। लूकाच कहते हैं कि प्रतिबिम्ब का प्रामाणिक व्यापक सिद्धान्त मार्क्स, एंगिल्स और लेनिन की रचनाओं में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के साथ उदित हुआ है। इसीलिए बुर्जुआ मानस के लिए वस्तुपरकता तथा चेतना-निरपेक्ष यथार्थ के चेतना में प्रतिबिम्ब के सही सिद्धांत एक भौतिकवादी द्वन्द्वात्मक सिद्धांत की कल्पना असंभव है।[१४]

बुर्जुआ चिन्तन की सीमाएँ और अक्षमता

लूकाच मानते हैं कि व्यवहार में अवश्य ही बुर्जुआ विज्ञान और कला में, यथार्थ के परिशुद्ध प्रतिबिम्ब के अगणित उदाहरण मिलते हैं और प्रश्न के सही सैद्धांतिक निरूपण और समाधान के अनेक प्रयत्न हुए हैं, किन्तु जैसे ही इस प्रश्न को ज्ञान-मीमांसा का प्रश्न बनाया जाता है, बुर्जुआ विचारक या तो यान्त्रिक भौतिकवाद के फेर में पड़ जाते हैं या दार्शनिक प्रत्ययवाद में डूब जाते हैं। लेनिन ने बूर्ज्वा चिन्तन की दोनों दिशाओं को सीमाओं के, लक्षणों का वर्णन और उद्घाटन अद्वितीय स्पष्टता के साथ किया है। यान्त्रिक भौतिकवाद के सम्बन्ध में उसने कहा—"इसकी प्रधान असफलता बिम्बों के सिद्धान्त पर ज्ञान के विकास तथा इसकी प्रक्रिया पर द्वन्द्वात्मकता को लागू करने की इसकी अक्षमता में निहित हैं।" उन्होंने दार्शनिक प्रत्तयवाद के लक्षणों का इस प्रकार वर्णन किया है—"इसके विपरीत द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की दृष्टि में दार्शनिक प्रत्ययवाद ज्ञान के एक पहलू एक पक्ष, एक सीमान्त का एक पक्षीय अत्युक्तिपूर्ण अमर्यादित····विकास आडम्बर पूर्ण स्फीति है। जिसमें इसको प्रकृति भूत से च्युत पवित्रीकृत निरपेक्ष का स्थान दे दिया गया है।····एकायामिता, एक पक्षीयता, फलहीनता, आत्मपरकता और आत्मपरक अन्धता प्रत्ययवाद के, ज्ञान मीमांसात्मक मूल हैं।" इस तरह बुर्जुआ ज्ञानमीमांसा की द्विपक्षीय अपर्याप्तता, चेतना के माध्यम से यथार्थ के प्रतिबिम्ब की सभी समस्याओं और सभी क्षेत्रों में प्रगट होती हैं।[१५] आज बुर्जुआ ज्ञानमीमांसा की सीमाओं और अक्षमताओं का पता पाना मार्क्सवादी लेनिनवादी ज्ञानमीमांसा द्वारा अधिक सहज हो जाता है।

वस्तुपरकता की समस्या और यथार्थ का प्रतिबिम्ब

लूकाच मार्क्सवाद लेनिनवाद ज्ञानमीमांसा में वस्तुपरकता की समस्या और यथार्थ के कलात्मक प्रतिबिम्ब की समस्या पर प्रस्थान करने के पूर्व यह समझते हैं कि पहली विवेचनीय समस्या वाह्य जगत के अव्यवहित प्रतिबिम्बों की है, समग्र ज्ञान उन्हीं पर आश्रित है, वे समग्र ज्ञान के आधार, प्रारम्भ विन्दु हैं। लेकिन वे केवल प्रारम्भ विन्दु ही हैं। ज्ञान की प्रक्रिया की समस्त वातें, उनमें समाविष्ट नहीं है।[१६] यहाँ पर लूकाच इसे पूर्ण स्पष्ट करने के लिए, मार्क्स को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि मार्क्स ने इस प्रश्न पर निर्भ्रान्त स्पष्टता से कहा था 'पदार्थों के आभास और सत में यदि तात्कालिक अनुरूपता होती तो विज्ञान अनावश्यक हो जाता।' लेनिन ने हेगेलीय न्यायशास्त्र के अपने अध्ययन में इस प्रश्न का विश्लेषण किया है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे—"सत्य प्रारम्भ में नहीं वल्कि अन्त में और विशेषकर प्रक्रिया के अन्दर ही उपलब्ध होगा। सत्य

वास्तविक सिद्ध नहीं है।"...लेनिन ने यथार्थ के सम्पूर्ण मानवीय बोध में अमूर्त रूप, सामान्यता के, नियमों आदि के प्रत्यय की परिभाषा करने और प्रतिबिम्ब के व्यापक सिद्धान्त और यथार्थ के वस्तुपरक ज्ञान के सिद्धान्त में उनके स्थान को परिभाषित करने का प्रयत्न किया है—'जिस प्रकार मूल्य के सीधे-सादे अवस्था-पन्न में, वस्तुओं के विनिमय की मात्र एक क्रिया में सूक्ष्म रूप में, गर्भ रूप में, पूँजीवाद के सारे प्रधान अन्तर्विरोध निहित होते हैं, उसी तरह सरलतम, सामान्यीकरण, अवधारणाओं (निर्णय निष्कर्षों) के प्रारम्भिक और सरलतम निरूपणों में [illegible] विस्तीर्ण हो रहे वस्तुपरक ब्रह्माण्ड का बोध निहित है।"[17] आगे इसी बोध के द्वन्द्वात्मक आधार को अधिक स्पष्ट करते हुए लूकाच लेनिन को फिर स्मरण करते हुए लिखते हैं—लेनिन ने ज्ञान मीमांसा में विविध अमूर्तनों के स्वभाव का विश्लेषण करते हुए उनमें निहित द्वन्द्वात्मक विभाजन को अत्यधिक सूक्ष्मता से रेखांकित किया है–उन्होंने कहा–"सामान्य की सार्थकता विरोधपूर्ण है वह जड़, अपूर्ण अधूरा आदि है। किन्तु वह भी मूर्त के ज्ञान की मात्र एक अवस्था ही है, क्योंकि हमें कभी भी मूर्त का पूर्ण बोध नहीं हो पाता, सामान्य अवधारणाओं नियमों आदि का अनन्त योग ही मूर्त को पूर्ण रूप में प्रस्तुत करता है।" यह विभाजन ही आभास और सत् के द्वन्द्व को स्पष्ट करता है।[18] लूकाच का यह मानना सही है कि लेनिन ज्ञान-प्रक्रिया को इस द्वन्द्वात्मक अन्तक्रिया की ओर अधिक स्पष्टता से व्यक्त कर देते हैं, लेनिन ने कहा—"क्या इन्द्रियपरक बिम्ब विचार की अपेक्षा यथार्थ से अधिक सन्निकट है ? हाँ भी, और नहीं भी। इन्द्रियपरक बिम्ब में गति का समग्र बोध नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए उसमें तीन लाख किलोमीटर प्रतिसेकिण्ड के वेग का, बोध नहीं हो सकता पर विचार में ऐसा हो सकता है और ऐसा होना चाहिए, इस प्रकार प्रत्यक्ष से उद्भूत विचार में यथार्थ का अनुदर्शन होगा।" और इस तरह द्वन्द्वात्मक पद्धति के माध्यम से, ज्ञान के निम्न स्तरों के प्रत्ययवादी अवमूल्यन का, पार पाया जा सकता है।[19] आगे अपने विशद् विश्लेषण में लूकाच द्वन्द्वात्मकता के आधार की श्रेष्ठता को निरूपित करते हुए लिखते हैं कि केवल द्वन्द्वात्मकता के माध्यम से ही किसी एक पक्षीय अवधारणा की अपूर्णता, स्थिरता, और फलहीनता पर, पार पाना सम्भव होता है। केवल द्वन्द्वात्मकता के सही और सच्चे प्रयोग के जरिये ही, हम ज्ञान की अनन्त प्रक्रिया की अपूर्णता को दूर कर सकते हैं। और अपनी अवधारणा को वस्तुपरक यथार्थ के गतिमय आनन्त्य के सन्निकट ला
[illegible] है।[20]

बुर्जुआ सौन्दर्य शास्त्र की असफलताएँ

लूकाच मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताओं का प्रतिपादन करने के पूर्व, बुर्जुआ सौन्दर्य-शास्त्र में, प्रतिबिम्ब के सिद्धान्त की असफलताओं का विवेचन करने के लिए आगे आते हैं। वे कहते हैं कि जब हम मार्क्सवादी लेनिनवादी दृष्टि से, सौन्दर्यशास्त्र के इतिहास की छानबीन करते हैं, तब हमें लेनिन द्वारा अंकित द्वन्द्वात्मक विरोधित, दोनों प्रवृत्तियों की एकांगिता दीख पड़ती है। एक ओर तो यांत्रिक भौतिकवाद की 'बिम्बों के सिद्धान्त' पर द्वन्द्वात्मकता को लागू करने की असमर्थता है दूसरी ओर प्रत्ययवाद में निहित बुनियादी त्रुटि है जिसने 'सामान्य (अवधारणा प्रत्यय) को ही स्वयं में विशिष्ट सत्ता' प्रदान कर दी गई है। स्वाभाविक ही, सौन्दर्यशास्त्र के इतिहास में, दोनों प्रवृत्तियाँ

अपने चरम रूप में यदा कदा ही मिलती हैं।[२१] यहाँ पर लूकाच यान्त्रिक भौतिकवाद की बुनियादी त्रुटि पर जोर देते हुए कहते हैं कि यान्त्रिक भौतिकवाद की शक्ति, इसमें निहित है कि वह वस्तुपरक यथार्थ के प्रतिबिम्ब की अवधारणा पर, जोर देता है और सौन्दर्यशास्त्र में, इस मान्यता को बनाये रखता है। किन्तु जैसा इसे ऐंगिल्स ने इतने विश्वसनीय रूप में दिखलाया, यह गति इतिहास आदि का बोध करने में अक्षम होने के कारण, प्रत्ययवाद में रूपांतरित हो जाता है।[२२] इस सन्दर्भ में लूकॉच अरस्तू, हेगेल आदि वस्तुपरक प्रत्ययवादियों की वीरतापूर्ण कोशिशों का उल्लेख करते हुए निर्णय देते हैं कि वे भी, अन्त में प्रत्ययवादी एक पक्षीयता का शिकार हो जाते हैं।[२३] लूकाच इस यांत्रिक भौतिकवाद और प्रत्ययवाद की अन्तर्विरोध पूर्ण, एक पक्षीयता का सोदाहरण उद्घाटन करते हैं। यान्त्रिक भौतिकवाद के संबंध में वे लिखते हैं, प्रकृति की प्रत्यक्ष अनुकृति के यान्त्रिक सिद्धान्त के अग्रणी, दीदरो के उपन्यास 'जिज्ञासु-मणियाँ से' उसके दृष्टिकोण की प्रवक्ता नायिका, फ्रांसीसी क्लासिकवाद की आलोचना करती हुई उसी के विचारों को सामने रखती है 'किन्तु मैं जानती हूँ, केवल सत्य ही सुख देता है और विचलित करता है। इसके अलावा,मैं जानती हूँ कि नाटक की पूर्णता किसी कार्य की ऐसी ठीक-ठीक अनुकृति में निहित है कि दर्शक मूलकार्य ही देख रहे हैं, इस विश्वास से 'धोखे' में पड़ जाएँ'। दीदरो की इस (बात) में कोई सन्देह न रह जाय कि इस 'धोखे' से उसका मतलब यथार्थ की हूबहू अनुकृति है, उसने अपनी नायिका से यह कल्पना करवाई है—वह इस वास्तविक घटना का, आगे का भाग दिखाने के लिए, नाट्यशाला में जाती है—'मैं उसे नाट्य-शाला में, एक जाली के पीछे उसके स्थान पर ले जाती हूँ, वहाँ से वह रंगमंच को देखता है, लेकिन उसे लगता है कि वह सुल्तान का महल देख रहा है। लेकिन क्या आपको यकीन है कि यदि मैं गम्भीर मुद्रा में हो जाऊँ तो यह आदमी, एकक्षण के लिए भी अपने को धोखे में रहने देगा ? बात इसके विपरीत होगी।' (और लूकाच का यह कथन सत्य है कि) दीदरो के लिए यह टिप्पणी इस नाटक के बारे में, सत्यनाशी सौन्दर्यशास्त्र का निर्णय है।[२४] जहाँ सारा सौदर्न्यशास्त्र एक 'धोखा' है।

इसके बाद लूकॉच शिलर के सौदर्य-शास्त्र पर विचार करते हैं जो 'सत्य के आभास से तुष्ट न होकर सत्य के ही आधार पर रचना की निर्मिति' का आकांक्षी है। लूकॉच कहते हैं कि शिलर पक्का प्रत्ययवादी होने के कारण सत्य को मात्र आभास द्वारा प्रदत्त यथार्थ की तुलना में, वस्तुपरक यथार्थ का अपेक्षाकृत अधिक निगूढ़ और व्यापक प्रतिबिम्ब नहीं मानता। इसके बजाय वह सत्य को भौतिक यथार्थ से वियुक्त करके, उसे स्वायत्त सत्ता प्रदान कर देता है और मात्र यथार्थ से भौड़े ढंग से विरोध दिखलाता है। उसने कहा 'प्रकृति, स्वयं में,आत्मा का प्रत्यय मात्र है, जिसे इन्द्रियाँ कभी भी ग्रहण नहीं कर सकती हैं। इसी कारण शिलर की दृष्टि में कलात्मक स्वैर कल्पना से उद्भूत रचना 'यथार्थ की अपेक्षा अधिक सत्य और अनुभव की अपेक्षा अधिक वास्तविक होती है।'[२५] और लूकाच अपने गम्भीर निष्कर्षो में सही है कि स्वाभाविक और तात्कालिक अनुभव से परे का यह प्रत्ययवादी तनुकरण और अश्मीकरण शिलर की सभी सही और निगूढ़ सूझों के महत्व को समाप्त कर देता है।[२६] लेकिन लूकाच उसकी सही सूझों को सही होने की सीमा तक सराहते भी हैं—वे कहते है–उसके इस कथन में सिद्धांत



कलात्मक वस्तुपरकता होने का सनकपूर्ण दावा, साम्राज्यवादी काल के सिद्धान्तों की विशेषता है। वे कभी खुलकर सामने नहीं आते, उनके उद्देश्य हमेशा ढंके रहते हैं। ...अमूर्तन का सिद्धान्त सौन्दर्यशास्त्र के समस्त अन्तर्वस्तु के आत्मपरकतावादी निरसन की पराकाष्ठा प्रस्तुत करता है। इसी ने बाद में अभिव्यंजनावाद को सैद्धान्तिक आधार प्रदान किया।[३०] और इसीलिए लूकाच यह निर्णय देते कि यह पूंजीवादी ह्रासकाल में कला-रूपों में आत्मपरक अस्माकरण और क्षय शायी का सिद्धान्त है।[३१] और इस तरह लूकाच वुर्जुआ सौन्दर्यशास्त्र को धरा-करते हुए मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र का प्रतिपादन करने के लिए प्रस्तुत होते हैं।

यथार्थ का कलात्मक प्रतिविम्ब

यथार्थ के कलात्मक प्रतिविम्व के सम्वन्ध में लूकाच मानते हैं कि यह उसी के अन्तर्विरोधों पर आश्रित है जिस तरह के अन्तर्विरोधों पर यथार्थ के अन्य प्रतिविम्ब आश्रित हैं। यह इन अन्तर्विरोधों के विज्ञान की अपेक्षा दूसरे प्रकार के समाधान ढूंढ़ता है।[३२] और यहीं से प्रस्थान करते हुए लूकाच कहते हैं कि हम यथार्थवाद के कलात्मक प्रतिविम्व के विशिष्ट स्वभाव की परिभाषा कर सकते हैं। समस्त महान कला का लक्ष्य, यथार्थ की ऐसी छवि प्रदान करता है जिसमें आभास और सत् और विशेष, सामान्य अव्यवहित और अवधारणात्मक आदि के वीच के अन्तर्विरोधों को इस प्रकार सुलझा दिया गया हो ताकि दोनों, कलाकृति की प्रत्यक्ष छवि में स्वतः—स्फूर्त अखण्डता में सामाहित हो जायें और एक अभिन्न अखण्डता का भाव प्रस्तुत करें। सामान्य, व्यक्ति और विशेष की विशेषता के रूप में प्रगट होता है, यथार्थ प्रतिफलित होकर आभास के भीतर अनुभूत हो जाता है, सारघटक, विशेषकर चित्रित हो रहे विशिष्ट मामले के विशेष प्रेरक कारण के रूप में, सामने आता है।[३३] और इसीलिए लूकाच का यह मानना सही है कि हर कलाकृति को, एक परिसीमित स्वतःपूर्ण और पूरा सन्दर्भ अपने अव्यवहित रूप के अन्दर ही स्वतः प्रत्यक्ष गति और संघटन के साथ प्रस्तुत करना चाहिए।....एक साहित्यिक कलाकृति में, चित्रित जगत के अभिप्रेरक कारक, एक कलात्मक क्रम में, और क्रमोत्कर्ष की प्रक्रिया में प्रगट होते हैं किन्तु यह क्रमोत्कर्ष विल्कुल आरम्भ से ही वर्तमान आभास और सत् की प्रत्यक्ष एकता में उपलब्ध होना चाहिए, दोनों पहलुओं (आभास और सत्) के तीव्र होते मूर्तन में इसे उनको एकता को, और भी अधिक अखण्ड और स्वतः प्रत्यक्ष बनाना चाहिए।[३४] जो कि रचना की पूर्णता का लक्षण है।

कलाकृति का संसार और पाठक

रचना में आभास और सत् की यह स्वतःतीव्र पूर्णता और क्रमोत्कर्ष, पाठक का प्रत्यक्ष रचनानुभव कव कैसे वनता है? इसका उत्तर शायद लूकाच के पास यह है कि यदि पाठक विकास या परिवर्तन के प्रत्येक प्रमुख पक्ष को, उनके समस्त प्राथमिक निर्धारक कारकों के साथ, अनुभव करे यदि निष्कर्ष उसे केवल वतलाया ही नहीं जाता वलिक उसे वहाँ तक ले जाया जाता है और वह (पाठक) निष्कर्ष तक पहुँचने की प्रक्रिया का प्रत्यक्ष अनुभव करता है।[३५] तभी बुनियादी रूप से रचना, रचना होती है और पाठक, पाठक।

लूकाच कला में यथार्थ के कलात्मक प्रतिविम्व के रूप में रचना यथार्थ और यथार्थ के प्रतिविम्व के भेद को स्पष्ट करते हुए कहते हैं। हर कलाकृति 'अपने संसार' की रचना करती है। हर एक के पात्रों, परिस्थितियों, घटनाओं की एक

अद्वितीय विशेषता होती है, जैसी किसी अन्य कलाकृति में नहीं होती। और वह दैनन्दिन यथार्थ की किसी भी चीज से बिल्कुल अलग होती है। कला के इस आकार से रचना में, यथार्थ के प्रतिबिम्ब के विशेष स्वभाव, उसकी विशेष प्रकार की पुष्टि होती है। कलाकृति के प्रकटतया परिसीमित संसार और उसकी यथार्थ से असमनुरूपता, यथार्थ के कलात्मक प्रतिबिम्ब के विशेष स्वभाव पर आधारित है। क्योंकि यह असमनुरूपता, भ्रम मात्र है। यद्यपि यह एक आवश्यक भ्रम है, और कला के लिये अनिवार्य तथा निजी है।[36] लूकाच कला की इस असमनुरूपता को कला के लिए अनिवार्य मानते हुए भी यह मानते हैं कि वह यथार्थ की अपेक्षाकृत, अधिक सत्य, अधिक पूर्ण और अधिक सुस्पष्ट और अधिक गतिमान प्रतिबिम्ब प्रदान करती है।[37] इसीलिए वे यह मानते हैं कि ग्राहक का, कलाकृति की क्रिया में डूबना और कलाकृति के विशेष संसार में 'उसका पूर्ण प्रवेश' इसका प्रमाण है, 'जो उसे अन्यथा उपलब्ध नहीं होता।'[38]

लूकाच मानते हैं कि पाठक कलाकृति की किसी वियुक्त घटना से किसी एक अनुभव की संगत होकर तुलना नहीं करता, बल्कि अपने स्वयं के एकत्रित सामान्य अनुभव के आधार पर, अपने को, कलाकृति के सामान्य प्रभाव के प्रति समर्पित कर देता है, जब तक पाठक कृति में डूबा रहता है अर्थात् जब तक के यथार्थ के उसके अनुभव, कला-कृति के कलित के द्वारा, व्यापक और गूढ़ होते रहते हैं, तब तक यथार्थ के दोनों प्रतिबिम्बों की तुलना अवचेतन में ही होती है।[39] इसीलिए लूकाच कहते हैं कि कलाकृति के स्वतः पूर्णता गतिमान जीवन की प्रक्रिया का और मूर्त गतिमान सम्बन्ध में; प्रतिबिम्ब है।[40] जो कलाकृति के स्वभाव से उभरकर आता है।

इसी सन्दर्भ में लूकाच आगे यथार्थ के वैज्ञानिक और कलात्मक प्रतिबिम्बों में अन्तर करते हुए कहते हैं कि किसी भी परिशुद्ध वैज्ञानिक का संज्ञान वस्तुपरक यथार्थ का सही प्रतिबिम्ब होता है, इसी सीमा तक यह संज्ञान निरपेक्ष है किन्तु यथार्थ, किसी भी नियम की तुलना में सदैव ही अधिक विपुल अधिक बहुपक्षीय होता है, इसलिए ज्ञान का स्वभाव ही ऐसा है कि उसका विस्तार, निखार, समृद्धि होती रहना चाहिए, निरपेक्ष हमेशा सापेक्ष और सन्निकट के रूप में प्रकट होता है। और इसीलिए कलात्मक पूर्णता भी निरपेक्ष और सापेक्ष की एकता है, किन्तु यह ऐसी एकता है जो कलाकृति के चौखटे से बाहर नहीं जा सकती।[41] लेकिन कला का महत्व इसमें भी है कि ऐतिहासिक प्रक्रिया में, वस्तुपरक प्रगति, और इस प्रक्रिया की हमारी जानकारी में, और भी अधिक विकास, कलात्मक मूल्य का अपने समय की सही-सही और गूढ़ रूप में चित्रित करने वाली कलाकृतियों की प्रामाणिकता और प्रभाव का निरसन नहीं होता।[42] यथार्थ के वैज्ञानिक और कलात्मक प्रतिबिम्बों के बीच दूसरा अन्तर यह है कि सारे वैज्ञानिक संज्ञान (नियम आदि) एक दूसरे से स्वतंत्र नहीं होते, बल्कि एक समाकलन प्रणाली के अंग होते हैं जबकि प्रत्येक कला-कृति को स्वतः पूर्ण होना चाहिए। कला में भी विकास अवश्य होता है और यह विकास एक वस्तुपरक प्रक्रिया के अनुसार होता है, जिसके नियमों का विश्लेषण किया जा सकता है, किन्तु कला के विकास का यह वस्तुपरक प्रक्रिया, सामान्य सामाजिक विकास का अंग है।[43] इसीलिए लूकाच मानते हैं कि कलाकृति को, उसमें निहित सौन्दर्य की वस्तुपरकता पूर्णतः निर्धारित करने वाले सारे प्रमुख

कारकों को सही-सही तथा उपयुक्त मात्रा में प्रतिबिम्बित करना चाहिए, उसे इस रूप में प्रतिबिम्बित करना चाहिए कि वह जीवन क्षेत्र अन्दर से और बाहर से बोधगम्य हो जाए, पुनः अनुभवगम्य बन जाये, जीवन की समग्रता के रूप में प्रगट हो।[४४] इस तरह लूकाच कलाकृत्ति की रचना-प्रवृत्ति से लेकर रचना-प्रयोजन तक एक साथ पहुँचते हैं।

कलाकृति की असमापनीयता और प्रयोजनशीलता

यह सवाल कि कलाकृत्ति की प्रयोजनशीलता क्या है? का उत्तर शायद लूकाँच के पास इस तरह है—कलाकृति का लक्ष्य जीवन की उस सूक्ष्मता, समृद्धि और असमापनीयता को चित्रित करना है और इसे गतिमान तथा सुस्पष्ट रूप में प्राणवत्ता प्रदान करना है। कलाकृति का उद्देश्य समग्र समाज का चित्रण हो या कृत्रिम तौर पर वियुक्त केवल एक घटना का, उसका लक्ष्य हमेशा ही विषय की सघन असमापनीयता को चित्रित करना रहेगा। इसका अर्थ है कि उसे अपनी कथा में, उन सारे प्रमुख कारकों को सृजनात्मक रूप में समाविष्ट करने का लक्ष्य लेकर चलना होगा जो वस्तुपरक यथार्थ में किसी विशिष्ट घटना या घटना-संश्लिष्ट का आधार होते हैं। और कलात्मक समावेश से अभिप्राय यह है कि ये सारे कारक, क्रिया में व्यक्तियों के निजी सहज गुणों, चित्रित स्थितियों आदि के विशिष्ट गुणों के रूप में प्रकट होंगे, ताकि विशिष्ट और सामान्य की एकता प्रत्यक्ष रूप में दृष्टिगोचर हो।[४५]

वास्तव में साधारण, जीवन-अनुभव की अपेक्षा, अधिक विपुल और कठोरता से संघटित एवं व्यवस्थित यह जीवन चित्रण, सक्रिय सामाजिक प्रकार्य, प्रामाणिक कलाकृति के प्रचारात्मक परिणाम से घनिष्टता से सम्बन्धित होता है।[४६] और इस तरह की पक्षधरता को स्पष्ट करने के लिए लूकाच, लेनिन को उद्धृत करते हैं—लेनिन ने हमें बतलाया है कि यह पक्षधरता, वाह्यजगत में व्यक्ति के द्वारा मनमाने तौर पर नहीं लाई जाती, बल्कि यह यथार्थ में अन्तर्निहित प्रेरक बल है, जो यथार्थ के सही द्वन्द्वात्मक चित्रण के जरिये सचेतन बनता है और काय में आता है। इसीलिए वस्तुपरकता की यह पक्षधरता कलाकृति में सघन सुस्पष्टता और विशेषता के रूप में, सघन तौर पर उपलब्ध होनी चाहिए।[४७] और इसीलिए लूकाच कलाकार से वस्तुपरकता में 'सघनता' की माँग करते हैं। लूकाँच ऐंगिल्स और लेनिन का स्मरण करते हुए यह मानते हैं कि जब भी वे साहित्य की प्रयोजनशीलता का अनुमोदन करते हैं तो उनका अभिप्राय हमेशा 'वस्तुपरकता की पक्षधरता' से होता है और वे किसी भी ऊपर से लादी हुई, आत्मपरकतावादी प्रयोजनशीलता को बलपूर्वक नामंजूर करते हैं। "किन्तु मेरा तात्पर्य यह है कि यह प्रयोजनशीलता खुले रूप में, प्रगट हुए बिना ही, स्थिति और क्रिया से प्रसूत होनी चाहिए।"[४८] इसको, और भी विशद रूप में विश्लेषित करते हुए लूकाच कहते हैं—कलाकृति की प्रयोजनशीलता, कृति में चित्रित संसार के वस्तुपरक सन्दर्भ में मुखर होती है। यह यथार्थ के कलात्मक प्रतिबिम्ब के माध्यम से, सम्प्रेषित कलाकृति की भाषा है। और इसीलिए वह स्वयं, यथार्थ की वाणी है, कोई निजी टिप्पणी या आत्मपरक तैयार निष्कर्ष के रूप में, छिपे या खुले रूप में, सुस्पष्ट हुई किसी लेखक की आत्मपरक राय नहीं है।[४९] और इस तरह कलाकृति का वस्तुपरक सन्दर्भ, प्रयोजनशीलता की सघनता से अपनी द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया में, यथार्थ से अन्तर

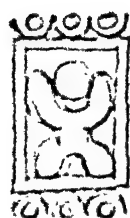
नियंत्रित करने वाले अतिशय अमूर्त नियमों को अभिव्यक्ति करती है, वही बात कला रूपों के विषय में भी है । प्रश्न केवल कला में उच्चतम स्तर के, इस अमूर्तन की सार्थकता को स्पष्ट करने का है ।....लेकिन मार्क्स का कहना है कि यान्त्रिक भौतिकवाद या प्रत्ययवादी सौन्दर्य-शास्त्र ने 'या तो मूर्त की एक मिथ्या अवधारणा या अमूर्त की उतनी ही मिथ्या अवधारणा को सौन्दर्य-शास्त्र की कुंजी बना दिया जाता है ।[५६] आगे लूकाच मार्क्स के हवाले से मूर्त की परिभाषा को सामने रखते हैं—"मूर्त अनेक निर्धारकों का सश्लेषण होने के, विविधता में एकता होने के कारण मूर्त है ।" "इस प्रकार हमारे चिन्तन में मूर्त संश्लेषण की प्रक्रिया के रूप में, प्रारम्भ बिन्दु नहीं बल्कि परिणाम के रूप में दृष्टिगोचर होता है, हालाकि यह वास्तव में प्रारम्भ बिन्दु होता है, और इस तरह वह प्रत्यक्ष ज्ञान और अवधारणा का भी प्रारम्भ बिन्दु होता है ।" लेनिन की मूर्त के बौद्धिक प्रतिबिम्ब की परिभाषा भी इसी बात को पुष्ट करती है और कला का कार्य भी इस मार्क्सवादी अर्थ में मूर्त को एक प्रत्यक्ष, दृश्यमूलक स्वतः साक्ष्य के रूप में पुनर्गठित करना है ।....कारकों की एकता मूर्त को मूर्त बनाती है, उन्हें मूर्त में ढूँढकर दृष्टिगम्य बनाना पड़ेगा । हम जानते हैं कि यथार्थ में हर घटना, साथ की और पूर्व की, अन्य सभी घटनाओं के साथ, एक विशाल, अनन्त संदर्भ में होती है (जबकि) अन्तर्वस्तु के सन्दर्भ में विचारित कलाकृति, केवल पदार्थ का छोटा या बड़ा टुकड़ा प्रस्तुत करती है । इसीलिए कला रूप पर, इस बात का दायित्व है कि यह टुकड़ा प्रभाव में टुकड़ा न लगे और उसे दिक् एवं काल के अतिरिक्त प्रवेश की अपेक्षा न हो । शायद कला रूप की अपनी अन्तर्वस्तु के रूप में परिवर्तित होने की समग्रता का यह टुकड़ा स्वतः पूर्ण समग्रता बन जाय और उसे किसी बाह्य विस्तार की अपेक्षा न हो ।[५७]

इस तरह जार्जलूकाच मार्क्सवादी लेनिनवादी ज्ञानमीमांसा के मूलाधारों से प्रारम्भ होकर, यथार्थ की धारणा का निरूपण करते हुए द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर बुर्ज्वा यांत्रिक भौतिकवाद, प्रत्ययवादी और समकालीन आत्म-परकतावादी बुर्ज्वा सौन्दर्यशास्त्र की अपर्याप्तता एवं अंधपूर्णता सिद्ध करते हुए और इस सन्दर्भ में पतनशील प्रवृत्तियों के खोखलेपन और मिथ्या परकता को उधेड़कर सामने रखते हुए—मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र की रचना में प्रवृत्त मिलते हैं । लेकिन उनके महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'सौन्दर्यशास्त्र' एवं 'सत्वमीमांसा' अभीतक अनुपलब्ध हैं । इसलिए उनकी सम्पूर्ण विचारणा मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्रीय धारणा के सम्बन्ध में अन्तिम रूप से कुछ भी कह पाना सम्भव नहीं है । फिर भी इस्त्वान इरोसी के शब्दों में लूकाच 'सौन्दर्यशास्त्र' लिखने में सक्षम हुए जो कला के क्षेत्र से आगे बढ़कर अपने भीतर सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब सिद्धान्त को समापिष्ट करता है ।[५८] अतः यह असंदिग्ध है कि जार्जलूकाच का नाम मार्क्स-वादी सौन्दर्यशास्त्र के इतिहास में अग्रगण्य रहेगा ।

सन्दर्भ

१. [illegible] के [illegible] अंग्रेज़ [illegible]।
   [illegible] १८ पृष्ठ ६२०।
२. [illegible] आलोचना नवांक १८ पृष्ठ।
३. [illegible] प्रवेश पृष्ठ १।
४. वही पृष्ठ ३,
५. ,, ,, ३,
६. ,, ,,
७. [illegible] का अर्थ पृष्ठ ६०,
८. वही पृष्ठ ६३,
९. ,, ,, ६४,
१०. ,, ,, १००,
११. ,, ,, १०२-१०३,
१२. [illegible] आलोचना नवांक १८ पृष्ठ २८।
१३. वही पृष्ठ २८
१४. ,, ,, ,,
१५. ,, ,, २९
१६. ,, ,, ,,
१७. ,, ,, ,,
१८. ,, ,, ,,
१९. ,, ,, ३०
२०. ,, ,, ३०
२१. ,, ,, ३१
२२. ,, ,, ३१
२३. ,, ,, ३१
२४. ,, ,, ३१
२५. ,, ,, ३२
२६. ,, ,, ३३
२७. ,, ,, ३३
२८. ,, ,, ,,
२९. ,, ,, ३३
३०. ,, ,, ,,
३१. ,, ,, ,,
३२. ,, ,, ,,
३३. ,, ,, ३४
३४. ,, ,, ,,
३५. ,, ,, ,,
३६. ,, ,, ,,
३७. ,, ,, ,,
३८. ,, ,, ,,
३९. ,, ,, ,,
४०. ,, ,, ,,
४१. ,, ,, ३५
४२. ,, ,, ,,
४३. ,, ,, ,,
४४. ,, ,, ,,
४५. ,, ,, ३६

४६ ,, ,, ३६
४७. ,, ,, ,,
४८. ,, ,, ,,
४९ ,, ,, ,,
५०. ,, ,, ,,
५१. ,, ,, ,,
५२. ,, ,, ,,
५३. ,, ,, ,,
५४. ,, ,, ,,
५५. ,, ,, ४०
५६. ,, ,, ४१
५७. ,, ,, ४१
५८. वही पृष्ठ १४ यथार्थ के परमआग्रही ज़ार्ज लूकाच
५९. फिलासार्फवज ट्रैंडीसन्स टुडे—एम० ए० हचक—पृष्ठ २२



हरबर्ट मारक्यूज
निषेधात्मक द्वंद्ववाद

—शाकिर अली

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की पश्चिमी दुनिया अपनी ध्वस्त एवं संकटग्रस्त आर्थिक हालात को जैसे ही ठीक कर पाती है वैसे ही वहाँ (विशेषकर अमेरिका में) समाज विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार के स्कूल पैदा हो गये, अनेक संस्थान बन गये। उनमें समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र तथा मानविकी के क्षेत्रों में अध्ययन प्रारम्भ हुये। उन संस्थानों में कुछ फासिस्ट यूरोप से भागकर गये बुद्धिजीवियों एवं प्राध्यापकों ने अपनी जड़ें जमा लीं। इन बुद्धिजीवियों ने एकाधिकारवादी, पूंजीवादी, फासिस्ट, तानाशाह शासन के जुल्म देखे थे, जो उनकी स्मृति में जमकर रह गये थे। अतः वे एकाधिकारी, पूंजीवादी वार-एकॉनामी के बिलकुल विरुद्ध थे। वे अमेरिका की तकनीकी प्रगति से आतंकित हुए। वे अमेरिकी साम्राज्यवाद की एकाधिकारवादी सर्वग्राही व्यवस्था के दबाव को तकनीकी प्रगति के दबाव के रूप में देखने लगे एवं उसका विरोध करने लगे। दूसरी ओर अमेरिकी साम्राज्यवाद, पूंजीवादी आम संकट के गहराते जाने से और अधिक संकटपूर्ण स्थिति से गुजरने लगा, जिसके अनिवार्य प्रभाव बेरोजगारी, मुद्रा स्फीति आदि के रूप में दिखाई देने लगे। एक आम असंतोष उभरने लगा, जो विरोध का रूप धारण करने लगा। इस विरोध को सामाजिक संदर्भ प्रदान करने में वियतनाम युद्ध में अनिवार्य नामबन्दी के प्रति युवा आक्रोश, काले लोगों का नागरिक अधिकार सम्बन्धी आन्दोलन, एवं हिप्पी आन्दोलन आदि ने विशेष भूमिका निभायी।

पश्चिम में छठे दशक का आरम्भ पूंजीवाद विरोधी संघर्ष एवं स्थापित सामाजिक एवं राजनैतिक संस्थाओं एवं उत्पादन सम्बन्धों के विरुद्ध बड़े पैमाने पर विरोध आन्दोलन के रूप में हुआ। यह संघर्ष अमेरिका, पश्चिम जर्मनी, ब्रिटेन, इटली, फ्रान्स व जापान आदि विकसित पूंजीवादी देशों में पूंजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध गैर-सर्वहारा वर्ग (पेटी-बुर्जुआ अथवा मध्य वर्ग) के प्रति-

निधियों के द्वारा प्रारम्भ हुआ जो इसके पूर्व सक्रिय राजनीति से दूर रहकर पूंजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध मजदूर वर्ग के आन्दोलन से असम्पृक्त रहा करते थे। यह आन्दोलन नववामपंथियों द्वारा प्रेरित था, जिनमें मानविकी के क्षेत्र में कार्यरत एवं अध्ययनरत छात्र-छात्राएँ तथा शिक्षण संस्थाएँ सम्मिलित थीं। इन नव-वामपंथियों ने एक सर्वशक्तिमान, सैन्य उद्योगों पर आधारित पूंजीवादी अर्थव्यवस्था को चुनौती दी। साथ ही साथ नववाम ने सर्वहारा वर्ग का वैचारिक एवं राजनैतिक नेतृत्व भी यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि ये 'अक्षम-क्रान्तिकारी' हैं। नववाम चिन्तन की जड़ें परम्परावादी पेटी-बुर्जुआ 'वाम' विचारधारा में देखी जा सकती हैं, जो 'अचेतन शक्तियों को मुक्त' करने (रिलीज आफ अनकांशस फोर्स) एवं 'नया मनुष्य' 'नयी सभ्यता' के निर्माण की बात करते हैं।

इन नववाम चिन्तकों का बहुत बड़ा हिस्सा संस्कृति के क्षेत्र में सूचनाओं के उत्पादन, संरक्षण एवं उनके संपेषण आदि के कार्य में संलग्न था, शिक्षण संस्थाओं, रेडियो, टेलीविजन, एवं प्रेस से सम्बन्धित था। इसका अर्थ है कि पूंजीवाद के प्रति दृष्टिकोण का निर्माण विकसित पूंजीवादी समाज की सांस्कृतिक गतिविधियों के चरित्र पर निर्भर था। उनकी पूरी चिन्तन प्रक्रिया परजीवी थी, उनकी स्वयं की सक्रिय गतिविधियों के अनुभव से प्राप्त नहीं थी। इस प्रकार ये नववामपंथी एक प्रकार की 'भीड़ संस्कृति' का ही प्रतिनिधित्व करते हैं, जो विभिन्न वर्गों के लोगों की 'ऊपरी एकता' द्वारा निर्मित होती है। वह एक प्रकार के अराजकतावाद को ही जन्म देती है, जो गैर-सर्वहारा वर्ग की जमीन पर ही पनपती है। इस नवअराजकतावाद ने स्थापित व्यवस्था के 'टोटल रिजेक्शन' की बात कही। अराजकतावाद नकारात्मक आलोचना पर ही वल देता है, जो क्रान्तिकारी प्रक्रिया का ध्वंसात्मक पहलू मात्र है।

इन नवमार्क्सवादी, नव अराजकतावादी, नव-वामचिन्तकों में हरवर्ट मारक्यूज का नाम प्रमुख है। मारक्यूज फ्रेंकफर्ट इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल रिसर्च से सम्बन्धित रहे हैं। आगे चलकर मारक्यूज 'फ्रेंकफर्ट स्कूल' के अन्य समाज दार्शनिकों की तरह मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से सामाजिक संथानों का विश्लेषण करने का प्रयत्न करते हैं। वे 'साइकिक इनर्जी' के स्वैच्छिक प्रकटीकरण पर ही सामाजिक विकास की गति को निर्भर मानते हैं। मारक्यूज समसामयिक पूंजीवादी समाज व्यवस्था के विरोधाभासों को व्यवस्थित व समन्वित करने में दूसरों से अधिक सफल होते हैं। मारक्यूज ने बुर्जुआ अभिजात्य वर्ग की अपनी समस्याओं के हल प्राप्त करने की अशांत, अस्थिर खोजों को ही अभिव्यक्ति दी है। यही कारण है कि पश्चिमी प्रेस, रेडियो टेलीविजन प्रारा 'मारक्यूज कल्ट' को ही वहु प्रसारित एवं वहुप्रचारित किया गया। मारक्यूज ने जो कहा, जो भी लिखा वह सव व्यापारिक दृष्टि से सर्वाधिक विकाऊ हो गया।

नववामपंथ की पूरी चिन्तना का स्वरूप अस्तित्ववादी चिन्तकों (सार्त्र, कामू आदि) के प्रभाव से ही निर्मित हुआ। मारक्यूज उन लोगों में सवसे आगे हैं जिन्हें अस्तित्ववादी विचारधारा की विशेष ट्रेनिंग एवं महारत हासिल है। वे एक समय में जर्मन अस्तित्ववादी चिन्तक मार्टिन हेडिगर के शिष्य एवं अनुयायी रहे हैं।

मारक्यूज 'वन डाइमेंशनल मैन' में पाठकों को विश्वास दिलाना चाहते हैं

इन आधुनिक विकसित पूँजीवादी देशों के सामाजिक सम्बन्धों के 'फ्रेमवर्क' में किसी भी प्रकार की विरोधी शक्तियों (एण्टागोनिस्टिक फोर्सेज) का कोई स्थान नहीं है। क्योंकि मारक्यूज की दृष्टि में बुर्जुआ एवं सर्वहारा वर्ग दोनों एक ही प्रकार [illegible] करते हैं एवं एक ही प्रकार की राजनैतिक विचारधारा का समर्थन करते हैं जिससे आगे चलकर दोनों की परिणति एक समान होती है। मारक्यूज का विश्वास दिखाया जाता है कि सर्वहारा वर्ग 'राज्य-एकाधिकारी' (स्टेट-मोनोपोलि कैपिटलिज्म) पूँजीवाद के रूप में 'एकम' हो गया है, समाहित हो गया है। अतः मारक्यूज पूँजीवादी देशों में सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में क्रान्तिकारी शक्ति के सम्बन्ध में निराश हो जाते हैं। यह 'निराशावाद' ही उन्हें 'नकारात्मक द्वन्द्ववाद' की ओर ले जाता है मारक्यूज एक 'एलियनेटेड' बुद्धिजीवी के उदाहरण के रूप में सामने आते हैं जो व्यक्तिगत निराशा को ही [illegible] निराशा के रूप में प्रकट करता है। वे फ्रायडवाद, बुर्जुआ और अस्तित्ववाद एवं [illegible] विचारधारा को ही संश्लेषित करते हैं।

मार्क्सवादी दर्शन में 'निषेध का निषेध' विकास की प्रक्रिया में एक उत्प्रेरक का कार्य करता है। यह किसी विशेष समय में विकास के विशेष स्तर पर उसकी प्रक्रिया एवं सकारात्मक परिणाम दोनों होता है। 'निषेध' एक वियोजित अंतर्विरोध है जो उसकी परिपक्वता को प्रकट करता है। 'निषेध' (राजनैतिक शब्दावली में जिसे 'हिंसा' कहें) स्वयं 'विपरीतों' के वियोजन में उत्प्रेरक का कार्य करने वाले के रूप में भी प्रकट हो सकता है किन्तु मारक्यूज आधुनिक तकनीकी समाज के सन्दर्भ में 'निषेध' को विकास का एक परम, निरपेक्ष, एकमात्र 'मार्ग' (प्रमाणमात्र) ही मानते हैं। वे विपरीतों या अंतर्विरोधों की कोई भूमिका नहीं मानते। इस प्रकार से मारक्यूज की यह 'परम निषेधात्मकता' उसे 'एनार्किज्म' एवं शून्यवाद के क्षेत्र में ले जाती है। मारक्यूज का 'निषेधात्मक द्वन्द्ववाद' राजनीति के क्षेत्र में अराजकतावाद, पलायनवाद एवं निराशावाद को भी जन्म देता है, जिसकी परिणति अराजक विद्रोह में होती है।

कला की दुनिया में यह 'नकारात्मक द्वन्द्ववाद' राजनीति की दुनिया के बनिस्बत अधिक सूक्ष्म रूप में है। मारक्यूज एवं उनके सहयात्री एडोर्नो हमेशा अपनी दृष्टि कला एवं साहित्य की उच्च भावभूमि वाली दुनिया में जमाये रखते हैं। उनके अनुसार इसी क्षेत्र में 'नकारात्मक द्वन्द्ववाद' अपने सही रूप में साकार एवं पूर्ण होता है, जिसकी सर्वप्रथम उपलब्धि 'अवांगार्द' कलाकारों द्वारा की गई थी, जिनमें वे मलार्मे, वाल्तेयर, ब्रेटेन, ब्रेख्त जैसे विभिन्न असमान स्तर के लेखकों को शामिल करते हैं। मारक्यूज की दृष्टि में इनकी रचनाओं में 'अ[illegible] की भाषा एवं कविता की भाषा दोनों एक ही जमीन पर मिलती हैं। इन सबमें, एक चीज की समानता है और वह है—'प्रामाणिक भाषा की खोज'—निषेध की भाषा की खोज, 'महान अस्वीकृति' (ग्रेट रिफ्यूजल)। चिन्हित वस्तु द्वारा मौजूद 'सेन्स' के नियमों को अस्वीकार करना।……कविता में ……………चीजों का निषेध करने की क्षमता होती है, वह शक्ति जो हीगल चाहता था। और तो यह कितना भी विरोधाभासी क्यों न लगे किन्तु प्रत्येक सामाजिक विचार में यह शक्ति होती है।—'वन डाइमेंशनल मैन'।

सैद्धान्तिक तौर पर 'नकारात्मक द्वन्द्ववाद' निरर्थक साबित होता है जब उसे कला एवं साहित्य की दुनिया में लागू किया जाता है। क्योंकि उसके अनु-

सार कला वास्तविकता से काफी दूर रहती है। इस तरह की कला 'विरोध' का प्रतीक अवश्य मानी जा सकती है, वह पाठक, दर्शक या श्रोता को इस प्रश्न का सामना करने को बाध्य करती है कि क्या वह एक अर्थपूर्ण जीवन बिता रहा है ? अथवा जिस कला रचना को सहगामी उपभोक्ता वर्ग की तरह ही 'कन्ज्यूम' करता है, क्या वह कोई कलात्मक अथवा सामाजिक मूल्य रखती है ? ऐसी कला पूर्ण निषेध के ऐसे सिद्धान्त पर आधारित होती है कि उपभोक्ता को उसके सामने आये प्रश्नों का उत्तर देने से बचा ले जाती है एवं उपभोक्ता को उसकी खोखली चेतना के साथ बिलकुल अकेला छोड़ देती है। वह आत्म-विश्वास खो देता है एव उसकी चेतना को लगने वाले धक्के पूर्व के मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन करने में असमर्थ रहते हैं।

'इरोज एंड सिविलाइजेशन' में मारक्यूज लिखते हैं—" वास्तविकता सिद्धान्त (रियलिटी प्रिंसपल) के अन्तर्गत मनुष्य ने विवेक शक्ति का विकास किया। उसने 'वास्तविकता' को पहचानना सीखा, अच्छे और बुरे में; सच एवं झूठ में, उपयोगी एवं हानिकारक में भेद करना सीखा। मनुष्य ने ध्यान (अटेंशन) स्मृति, एवं न्याय की धारणा का विकास किया। वह एक चेतन प्राणी बन गया, वैचारिक प्राणी बन गया, वह उस तार्किकता को वहन करने वाला प्राणी बन गया, जो बाहरी परिस्थितियों के दबाव से उसमें विकसित हुई। केवल वैचारिक प्रक्रिया का एक साधन मस्तिष्क के इस नये संगठन से बच रहा और 'वास्तविकता सिद्धान्त' से स्वतन्त्र रह सका, वह है—'फैटेंसी' जो कि तमाम सांस्कृतिक परिवर्तनों से अछूता रहा एवं 'सुख सिद्धान्त' (प्लेज़र प्रिंसपल) से ही संबंधित रहा।' पृष्ठ १३-१४

चूंकि मारक्यूज का यह तथाकथित 'वास्तविकता सिद्धान्त' यथास्थिति का ही प्रतिनिधित्व करता है अतः मारक्यूज की दृष्टि में कल्पना (इमेजिनेशन) एकमात्र उस बौद्धिक फकैल्टी के रूप में शेष रहती है जो आलोचनात्मक शक्ति रखते हुये वास्तविकता एवं सम्भावना के बीच पुल का निर्माण करती है, कला और राजनीति, एवं सम्प्रेषण तथा कार्य के बीच में सम्बन्ध निर्धारक के रूप में शेष रह जाती है। मारक्यूज इस बात पर अधिक बल देते हैं कि कल्पना के द्वारा प्राप्त यूटोपियन दुनिया ही 'वास्तविक दुनिया' है और कल्पना ही वह तत्व है जो 'वास्तविकता सिद्धान्त' (यथास्थिति) की दुनिया के विरुद्ध 'अस्वीकार' की मुद्रा में खड़ी हो सकती है।

वास्तव में 'यूटोपिया' एवं 'कल्पना' के बीच सम्बन्धों का पूर्व निर्धारण यूटोपिया के भीतरी प्रकृति के अनुरूप होता है, जो कि एक खास रूप में मानवीय 'स्वतन्त्रता' की योजना सी दिखाई देती है। और ऐसी स्थिति में 'यूटोपिया' विज्ञान एवं कला की सीमा रेखा पर खड़ी दिखाई देती है। जबकि श्रेणी एवं वर्गों में विभाजित विज्ञान का विकास तर्कसंगति के आधार पर होता है एवं सामाजिक विकास की वास्तविक धारा के तार्किक विश्लेषण पर आधारित होता है, वहीं कला का सम्बन्ध 'ऐस्थेटिक' (इंद्रियगत अनुभवों) से होता है। अतः आधुनिक सांस्कृतिक धरातल पर यूटोपिया का जन्म तार्किकता एवं सौंदर्यानुभव, तर्कसंगति एवं ऐन्द्रिकता के मिश्रण के रूप में हुआ है। 'यूटोपिया' एक ऐसी कोशिश है जो समाज के सदस्यों को उन समस्याओं के समाधान का आश्वासन देती है जिनका समाधान असम्भव दिखाई देता है या

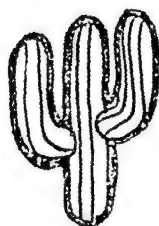
निकट भविष्य में होता नहीं दिखाई देता। यूटोपिया एक ऐसा प्रश्न है जो [illegible] व्यवस्था में और अतीत से नहीं उपजता, न ही वर्तमान सम्बन्धों के [illegible] आधार में निहित है।

मार्क्सवाद का मानना है कि ऐतिहासिक प्रक्रिया के अध्ययन के अंतर्गत वास्तविक सामाजिक सम्बन्धों एवं मूल्यों के सम्बन्ध में सीमाओं से आगे चिंतन किया जाता है एवं नयी सामाजिक संरचना तथा सांस्कृतिक रूपों का निर्माण भी किया जाता है। इस अध्ययन में ऐतिहासिक प्रक्रिया के साथ-साथ सामाजिक वर्गों की रचनात्मक क्रियाशीलता का भी योगदान रहता है, जिसके अंतर्गत कला के रूप में सौन्दर्यानुभव या ऐन्द्रिक आयामों का निर्माण होता है एवं सर्वहारा चेतना का भी निर्माण होता है। इस प्रकार 'ऐतिहासिक रचनात्मकता' (क्रांति के रूप में) एवं 'कल्पना' के बीच सम्बन्ध का स्वरूप इस तथ्य पर निर्भर है कि यह ऐतिहासिक रचनात्मकता एक 'सौन्दर्यानुभविक क्रियाशीलता' भी है जो ऐन्द्रिक-व्यावहारिक कार्यों एवं कलात्मक रचनाशीलता को एकत्व प्रदान करती है एवं सौन्दर्य रचना का नियमन भी करती है।

मारक्यूज एवं मार्क्स के द्वारा विवेचित 'कल्पना' वह 'कल्पना' नहीं है जो क्रांति का उपकरण है, औजार है, बल्कि यह एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक सुरक्षा की व्यवस्था है जो मनुष्य को इस दुनिया से और अपने आप से सुरक्षित रखने के लिये बनायी गयी है। इस प्रकार यह मनुष्य को स्वयं के संसार से सुरक्षित रखती है, 'संसार' अर्थात् 'सार्वजनिक संसार' जो कि व्यक्ति की चेतना पर लादता है। यह 'कल्पना' जो मनुष्य को स्थापित वास्तविक व्यवस्था के क्षेत्र से बाहर 'मान-बीइंग' के बहुत बड़े हवाई क्षेत्र में ले जाती है, ऐसी कल्पना 'निष्क्रिय' है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मारक्यूज के कला चिंतन में व्यक्तिवादी चिंतना का ही राजनैतिक-दार्शनिकीकरण हुआ है, जो कि मार्क्स-पूर्व की मृत: बुर्जुआ विचारधाराओं को ही ढोता है।

●



सौन्दर्यबोध की मार्क्सवादी अभिधारणायें

—प्रदीप सक्सेना

१९वीं शताब्दी के प्रारम्भिक तीन दशकों में कला के क्षेत्रों में नये मूल्यों आविर्भाव बड़ी द्रुत गति से हुआ। पुराने मूल्यों का ध्वंस और नवीन का गढ़न विभिन्न देशों में शुरू हो गया। ये देश क्रांतिकारी रूपान्तरण की अवस्था से गुज़र रहे थे। मार्क्सवाद ने विचारों से लेकर भौतिक-सामाजिक जगत में (परिवर्तनकारी) पूँजीवाद के विनाश और समाजवादी व्यवस्था की स्थापना हेतु वैज्ञानिक-भौतिकवादी आधारों को प्रस्तुत कर सशक्त उत्प्रेरण किया। उसने अन्वे, जन जीवन को रौंदने वाले दैत्य पूँजीवाद को झिझोड़ डाला और दूसरे दशक में रूस में उसे पटक दिया गया। यह काल खण्ड विश्व के इतिहास और मानव जाति की कहानी में महान मोड़ का रहा। रूस की अक्तूबर क्रांति ने राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों से शोषण के समस्त संघटक अंगों को छील कर फेंक दिया। चेतना के इस नये परिष्कार से ही मानव की जीवन दृष्टि परिवर्तित हुई जिसके परिणामस्वरूप उसको क्रियात्मक तकनीक और प्रकृति के विश्लेषण, उस पर अधिकार करने की क्षमता, जीवन यापन की प्रणाली और विकास की प्रक्रिया में आमूल चूल परिवर्तन हुआ। रूस में 'गोर्की' चीन में 'लुहसूं' भारत में 'प्रेमचन्द' की सृजनात्मकता इन्हीं नये मूल्यों से दूर तक प्रभावित हुई।

सौन्दर्य शास्त्र की जगह मैंने सौन्दर्यबोध शब्द का प्रयोग किया है, इसे मैं विवेचन और विश्लेषण के लिये 'शास्त्र' संज्ञा से कहीं अधिक सुविधाजनक, वैज्ञानिक और युक्तिसंगत मानता हूँ। हिन्दी में अब तो यह एक परम्परा सी पड़ गयी है, सत्य को छूने का साहस न करते हुये काफी घुमा-फिरा कर दूरगामी परिणाम सोचकर, श्रेय की आकांक्षा और जोखिम में न पड़ने की इच्छा रखते हुये कुछ जरूरी सवालों पर उंगली रखी जाती है। सौन्दर्यशास्त्र का सवाल 'नये' की संज्ञा के साथ जुड़ कर सामने आया। 'नये सौन्दर्य शास्त्र की



जुड़ते रहे हैं और सौन्दर्यशास्त्र परिभाषाओं और लक्षणों-संघटकों का अजायबघर बन कर रह गया है, कहीं-कहीं तो सिद्धांतों की इतनी नीरस चीर-फाड़ की गई है कि सामान्य पाठक और सौन्दर्यशास्त्र के जिज्ञासु विद्यार्थी के कुछ भी पल्ले नहीं पड़ेगा। डा० मेघ ने (आलोचना के नवांक ७) लेख 'सौन्दर्य बोध शास्त्र के नये आयाम' में विविध विज्ञानों के बीच फँसे सौन्दर्य बोध को चित्रित किया है। उसे कल से जोड़कर परिभाषित भी किया है। 'कला, कला रचना और कलाकृति का दर्शन, मीमांसा, इतिहास और आशंसा को संयोजित करने वाली विधा और विज्ञान को सौन्दर्य बोध शास्त्र (एस्थेटिक्स) कहा जा सकता है।"[१] वस्तुतः यह विषय इतना व्यापक और विविध है कि 'शास्त्र' को लेकर कुछ निष्कर्ष झट-पट नहीं लिये जा सकते। 'नये' की संज्ञा के साथ केवल इसकी प्रसार वहुल्ल को ही दर्शाया जा सकता है। इसमें मार्क्ससिस्ट वैल्यूज' के 'डिग्रेडेशन' का खतरा ही अधिक है।

शास्त्र' के रूप में सौन्दर्य को विविध दर्शन शास्त्रों से जोड़कर तथा मनोविज्ञान, प्रायोगिक मनोविज्ञान, मनोविज्ञान शास्त्र, मनोविश्लेषण शास्त्र, समाजशास्त्र, जीव विज्ञान भौतिकी, नृतत्वशास्त्र इत्यादि विज्ञानों के जंगल में नहीं खोजा जा सकता। फिलहाल भी दार्शनिक सौन्दर्यशास्त्र और वैज्ञानिक सौन्दर्यशास्त्र के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा हमारे लिये खींचना संभव नहीं। हत्स्य निपुणता, ऊर्जा-उत्पाद और परिरक्षण, नंदतिक प्रज्ञा, प्रति-बोधात्मक सुगढ़ता, रचनात्मक कल्पना और नंदतिक निर्णय, विशिष्ट रूप विधान, अनुकरण, अभिव्यक्तिगत माध्यम, आनन्द, संवेग, रस, अनुभूति, औदात्य, आलम्बन-विधान, अर्थातिशय, मिश्रित ऐंद्रियबोध, श्रम, यथार्थ, रसबोध, प्रत्यक्षीकरण, अभिव्यंजना, भावना प्रभावान्विति, ऊष्मा आदि इतने पारिभाषिक शब्द सौन्दर्य के चारों ओर घूम रहे हैं कि उसे किस विज्ञान से जोड़ें, किस दर्शन से या कला से यह विचार काफी जटिल हो जाता है। दूसरी ओर थोड़ा सरलीकृत रूप से सूत्र खोजें तो कहा जा सकता है, "सौन्दर्य शास्त्र का मुख्य प्रयोजन है ललित कलाओं के तत्वों का सैद्धांतिक निरूपण," इसके लिये कुछ बुनियादी आधारों की ओर जाना होगा।

मनुष्य निरंतर प्रकृति को अपने अनुकूल बनाने के लिये जीवन के सुखद यापन के लिये प्रकृति को जीतने का लम्बे समय से संघर्ष करता आ रहा है अनेक बिन्दुओं पर उसने प्रकृति को पराजित किया है और विषय के रूप में श्रेष्ठतम सभ्यता का विकास और उत्तम जीवन पाया है। इस जीवन के मूल में बौद्धिक परिष्कार का निरंतर होते रहना ही आगे बढ़ाता गया है। चेतना की बनावट जितनी ही पैनी और सूक्ष्म होती गई प्रकृति के सुखद स्रोतों का रहस्य उतना ही खुलता गया। नदियाँ, पहाड़, झीलें, सागर मैदान, हवा-पानी, पेड़-पौधों पर से अन्य जीवों के अधिकार के स्थान पर मनुष्य का अधिकार बढ़ता गया। भौतिक दुनियाँ पर उसको प्रभुता कायम हुई और वह श्रम के निरंतर सम्पर्क में आकर अपनी चेतना का परिमार्जन करता हुआ सौन्दर्य बोधात्मक घटकों से जुड़ गया।

मानव समाज में चेतना के दो ध्रुव प्राप्त होते हैं (१) साधारण चेतना (२) व्यवस्थित सैद्धांतिक चेतना। व्यवस्थित सैद्धांतिक चेतना को बुनियादी तौर से विश्व आत्मीकरण के तीन सम्बन्ध प्राप्त होते हैं। (१) 'मनुष्य और

आशय की ओर मुड़ने हैं कि—'सौंदर्यात्मक विचार और सुरुचि आन्तरिक मानव की सबसे महत्वपूर्ण विशेषताएँ हैं और सौंदर्यचेतना के नियमों के अनुसार रचनात्मक क्रियाक्लाप व्यक्ति के संतुलित विकास का आवश्यक गुण है।" सौंदर्य बोध को हम ललित कलाओं से जोड़कर उसके परम विशिष्ट पहलू कला (साहित्य) के सेंस में प्रयोग कर रहें हैं। सौंदर्य बोध को कला के अध्ययन क्षेत्र में खींचकर विज्ञान जगत की निर्धारित प्रतीकात्मकता से काटकर ही उसे मानवीय विकास की दिशा में प्रयुक्त किया जा सकता है। नये सौंदर्य की आवश्यकता न कह कर स्पष्टता की माँग यही है कि उसे उसके ठोक नाम से पुकारते हुये मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र की आवश्यकता कहा जाये। खासकर कविता-कहानी-नाटकों-नवगीतों की नयी सृजनाओं के अस्तित्व को पुष्ट और उनकी दिशा की सही प्रमाणित करने के लिये। यह मार्क्सवादो सौंदय बोध के अज्ञान का परिणाम ही है कि अधिकांश रचनाएँ मिले-जुले तत्वों सहित, पाठकीय दृष्टि के अभाव, साहित्य की भूमिका की अज्ञता सहित प्रकाश में आ रही हैं। आलोचना में प्रसारित अराजक चिन्तना के मूल में यही सौंदर्यात्मक आधारों की शून्यता ही व्याप्त है। इससे पूर्व कि वाम संरचना के रूप में हम मार्क्सवादो सौंदर्यबोध को परिलक्षित-परिभाषित या व्याख्यायित करें संक्षेप में हम पूँजीवादी कला के लक्षण जान लें—

(१) पूँजीवाद रचना के हेतु निरपेक्ष स्वतंत्रता का नारा देता है जो एक महज़ धूर्तता भरा पाखंड है। बचाव है।

(२) अपने हितों की रक्षा के लिये दूसरे शब्दों में बहु-संख्यक समुदाय का रक्त चूसने के लिये पूँजीवादी पेशेवर कलाकार बार-बार कला को 'पुण्य स्थली' कहकर धीरे से व्यक्तिवाद का पौधा रोपता है जिस पर पूँजीवादी जनघाती वैचारिकी के ज़हरीले फल उगते हैं।

(३) पूँजीवाद निमतिवादी दर्शन के चरम पुराधाओं को विराट जनगण में कुण्ठा, अवसाद निराशा और हतभाग्यता पैदा करने का काम सौंपता है।

(४) पूँजीवादी कला कृतियों के नाम पर निर्मित सौदर्य बोध को उत्पादित द्रव्य के समान व्यवहृत करती है।

(५) घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, जंघा भक्ति, स्तन साधना, अपराध, हताशा, पराजय और असामर्थ्य बोध, धार्मिक पाखण्ड, प्रगति विरोधी मर्यादाओं के जंगल ही पूँजीवादी कला की विशिष्टयाँ हैं।

(६) राजनीति के नाम पर परेशान होकर पूँजीवादी कलाकार दिन रात उससे दूर रहने की चालाकी से भरी हुई अपोल करता है ताकि विराट जनगण अपनी शक्ति को विस्मृत किये रहकर पूँजीवादी समाज और शासन व्यवस्था से पद-दलित होता रहे।

(७) पूँजीवादी कला कृतियाँ लंगड़े और निवीर्य और पराजित नायक जनता को सौपती है।

(८) यह कला सांस्कृतिक चैतन्य के रूप में विकृत, विरूपात्मक, विकास विरोधी सृजन समाज को सौंपकर मस्तिष्क को पंगु बनाने की पूरी चेष्टा करती है।

(९) सबसे बड़ी दुहाई यहाँ शिल्प की होती है जो कन्टेन्ट्स की सजीवता और सशक्तता के अभाव में मृत स्त्री के अंगों में अटके आभूषणों की तरह है।

(१०) [illegible] वर्ग की सत्ता में यह कोशिश रहती है कि वह जनता में [illegible] ऐसे विचारों का प्रचार करे जो हर स्थिति को [illegible] रखे, दमन और उत्पीड़न को सहले, राजा को ईश्वर [illegible] को अभाव को नियति चक्र का [illegible] । [illegible] जड़ [illegible] रहे । इसमें से पूंजीवादी [illegible] महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं । अप्रत्यक्ष रूप से मनुष्य को [illegible] राजनीति को [illegible] करते हुये साहित्य को राज-नीति के [illegible] रखते हैं । इसी के साथ ही साथ कला की कुछ [illegible] इस रूप में देखी जा सकती हैं ।—

(१) [illegible] जनता को बताती है कि पूंजीवाद एक विराट रक्त चूषक [illegible] है और इसके आधार पर की गई सृजनायें मानव को दासता की जंजीरों [illegible] । (२) मिलों की नींव से अंधे होकर या मौन [illegible] के विरुद्ध सदैव आम जनता का पक्ष ग्रहण करती है तथा अपने समस्त बन्धनों को तोड़ डालने के लिये सन्नद्ध करती है । (३) [illegible] मानव की सृजना कला के जनवादी सौन्दर्य बोध की सृष्टि है । (४) जनता के सर्वश्रेष्ठ आदर्शों की स्थापना ही सच्चे सौन्दर्य बोध को पैदा करती है । (५) समाज भौतिक जीवन की सबसे प्रथम सबसे बड़ी और प्रधान, [illegible] शक्ति है, संस्था है, व्यक्ति इसकी इकाई मात्र है और इसी समाज का प्रामाणिक साक्षात्कार कला का मजबूत आधार है । (६) आशा और [illegible], [illegible] की रागात्मक प्रवृत्ति, क्रांतिकारी आस्था, न्यायिक विवेक, [illegible] संज्ञान, [illegible], ईमानदारी, औदात्य, मानव प्रेम, संवेदनाओं आदि का [illegible] कला है । (७) वाणिज्यीकरण के स्थान पर यह समाजो-न्मुख [illegible] अभिव्यक्ति है । व्यवसायी मनोवृत्ति के विरुद्ध सामाजिक [illegible], मानव जाति की [illegible] भावनाओं के उद्देश्य को लेकर क्रियान्वित होती है । इस कला की स्पष्ट घोषणा है—"हमारा साहित्य किसी का निजी रोजगार नहीं है जिसके लिये जरूरी हो कि सभी ग्राहकों का दिल खुश करें । जिन लोगों के [illegible] और रुचि में जनता की नैतिकता और गुणों में जमीन आसमान का फर्क है उनको अपने साहित्य में जगह देने के लिये हम कतई मजबूर नहीं हैं ।"

"मार्क्सवादी लेनिनवादी सौन्दर्यशास्त्र वस्तु जगत से मनुष्य के कलात्मक सम्बन्धों का—[illegible] चेतना की ओर विशेषतया उसकी सर्वोत्तम अभिव्यक्ति के रूप में कला की प्रकृति, सारतत्व और भूमिका का विज्ञान है । [illegible] अपने भीतर तीन प्रकार के तत्वों का समाहार किये रहती है (१) संज्ञा-नात्मक (२) विचारात्मक (३) सौन्दर्य बोधात्मक । सौन्दर्यात्मक तत्व इनमें काफी [illegible] और चेतना के निर्माण में महत्व भूमिका निभाता है ।

"सौन्दर्यशास्त्र का उद्देश्य सौन्दर्य तथा उसकी अनुभूति की व्याख्या करना है । [illegible] सौन्दर्यशास्त्र के [illegible] जिस सौन्दर्य का विवेचन करते हैं वह साहित्य तथा अन्य ललित कलाओं का सौन्दर्य होता है । प्रकृति और मानव जीवन के सौन्दर्य की व्याख्या किये बिना कलात्मक सौन्दर्य का विवेचन करना सम्भव नहीं । इसलिये सौन्दर्यशास्त्र का विषय उस व्यापक सौंदर्य की व्याख्या है जो प्रकृति, मानव जीवन तथा कलाओं में विद्यमान है ।" लेकिन यह सौंदर्य [illegible] बोध से थोड़ा पृथक उन व्याख्याकारी संघटनों की ओर ही इशारा करता

है जिनमें सृजना के मूल्य निर्धारित होते हैं। इससे साफ जाहिर है कि व्याख्याकारी सृजन का रूप और विस्यवस्तु का निर्धारण इसी शास्त्र के आधार पर किया जाना चाहिये। फार्म में काव्य के विविध वर्ण्यों, कल्पना, निम्न, प्रतीक, ध्वन्यात्मकता, नाद, रस, द्वन्द, अलंकार, आदि के माध्यम से सौन्दर्य की उत्पत्ति सामान्यतः स्वीकृत होगी किन्तु यह सौन्दर्य बोध निहायत छूछा और वेकाम होगा। क्योंकि मानव जाति जो प्रत्येक स्रोत के रूप में है उसे इससे कोई गति प्राप्त नहीं होगी जबकि 'सौंदर्य तत्व को मानव जाति का ऐसा सांस्कृतिक कार्य कलाप समझा जाना चाहिये जिसे वह सामाजिक ऐतिहासिक प्रतिक्रियाओं के अंतर्गत मंद प्रगति के रूप में सम्पन्न करता है।''

मार्क्स ने जिस तरह 'फैनौमिना' की परिभाषा देने की जगह एक क्रांतिकारी विचार दिया उसी तरह सौंदर्य शास्त्र की परिभाषाओं की चिन्ता न करके अपने सांस्कृतिक चेतना को समृद्ध और समाज को प्रगतिवान करने के लिये 'सौन्दर्य' को वदल डालने वाले सौंदर्य आधारों की आवश्यकता है। वदलते हुये समाज में जबकि वर्गयुक्त प्रवर्ग वर्गहीन प्रवर्ग में संक्रमित हो रहे हैं 'कला के विकास का प्रच्छन्न अर्थ मानव-सभ्यता के विकास, वर्ग विरोधों के सुदूर परिणाम, अत्याचार-अन्याय और भूख से मुक्ति सम्बन्धी इंसान की अदम्य इच्छा के संदर्भ में प्रकट हुआ। इंसान की इसी अदम्य इच्छा को फिलहाल इस सौन्दर्य बोध का सबसे वलिष्ठ आधार माना माना चाहिये। सौंदर्य सौंदर्यवोध को अनुभूत कराने वाले मुख्य तत्व कला और सौन्दर्य के मध्य कुछ सम्वन्ध हैं। पूर्णतः कला कहने से या सौन्दर्य कहने से अभिप्राय प्रायः खण्डित होते रहे हैं। यहाँ हमें कुछ तकनीकी प्रक्रियाओं पर भी दृष्टिपात करना होगा।

सौन्दर्य बोधात्मक सम तुल्य :—

'मार्क्स और ऐंगेलस के सौदर्न्यशास्त्रीय विचार' नामक लेख में 'स्तेफान मोराव्की' ने कुछ संजटिल अर्थ वाले शब्द प्रयोग कर सौन्दर्य के कई पहलुओं को साफ करने की कोशिश की है किन्तु वे शब्द स्वयं में काफी दुरुह है, साथ ही शास्त्रीय विश्लेषण के लिये आवश्यक भी। सौन्दर्य बोधात्मक समतुल्य भी एक ऐसा ही शब्द है। यह 'ऐस्थेटिक क्लास इक्विवैलेंस' कला की मार्क्सीय दृष्टि से मानविकी महाकाव्यत्मकता का पुनर्सृजन है। इसे अगर गणित के समीकरण की तरह सोचें तो पायेंगे—

सौदर्न्य बोधात्मक सम तुल्य = समाजवादी आचार, + जनवादी यथार्थ चिंतन उसका साहित्य में प्रतिविम्बन + शोषण के विरुद्ध क्रांतिकारी विकल्प + ऐतिहासिक विकास का त्वरण + मार्क्सवादी जीवन दृष्टि।

मापकीय अभिधारणा :—

'माप हर हालत में कला कृति की सघन आन्तरिक संरचना' की द्योतक है। यह सघन संरचनात्मक आम्परारिकता कृति का प्राण है जो फार्म और कान्टेन्ट्स के परस्पर 'स्ट्रोंग डिपेन्डेन्स' पर निर्भर करता है अगर सशक्त कथ्य, सशक्त शिल्प का अनुघातन नहीं कर सका तो यह सघन संरचनात्मकता नष्ट हो जायेगी।

आत्मा की मुक्त क्रीड़ा :—

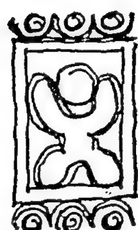
"शिलर" ने पशु-ज्ञानेन्द्रियों और मानव-ज्ञानेन्द्रियों के विवेचन में मानव ज्ञानेन्द्रियों को अधिकतम सूक्ष्म विचारग्राही और सौंदर्यवोधी पाया था। यह

भी विचारणीय है। "हावर्ड फास्ट" ने शब्दों का बहुत सही इस्तेमाल किया है। मुझे सदा ही उसका विवेचन काफी मजबूत, सटीक और आकर्षक लगा है। यहाँ तक कि उसने यथार्थवाद की जगह सोशलिस्टिक रियलिस्टिक मैथड, 'रियलिस्टिक सिचुयेशन्स, 'रिफ्लैक्शन ऑफ रियलिटी' आदि कई शब्दों का सार्थक प्रयोग किया है किन्तु 'रीयलिज्म' को वह 'स्ट्रगल' का "राइप फ्रूट" मानता है। मैं समझता हूँ यह प्रश्न सौन्दर्य शास्त्र पर भी लागू होता है खास कर जब हम मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र कह रहे हों।

कुछ इस प्रकार की तात्विक भूमिकायें हैं जिन्हें व्यवहार की दृष्टि से ही समझा, व्याख्यायित और विश्लेषित किया जा सकता है। कला के कुछ निर्णायिक तत्वों का सूत्रपात आधुनिक पुनर्जागरण युग से हो जाता है। मार्क्स-वाद ने आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक हर क्षेत्र में क्रांति उत्पन्न कर दी। यद्यपि उसका दार्शनिक पक्ष भी इतना प्रौढ़ है किन्तु समाज की प्रगति का प्रश्न मानव जाति के सामने सबसे पहले होने के कारण तथा पाशविकीकरण की क्रियाओं के तीव्रतम होते जाने के कारण राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक व्यवस्थाओं को पलट देने के लिये वह दर्शन पक्ष को पीछे छोड़ गया। संक्रमण के इस युग में—"मानव हमारी समाज-व्यवस्था के भरभरा कर ढह जाने के साथ उत्पन्न होने वाली वाह्य वस्तुगत विभीषिकाओं के खिलाफ, फासिज्मत के खिलाफ, युद्ध के खिलाफ, बेकारी के और कृषि के ह्रास के खिलाफ, मशीन के प्रभुत्व के खिलाफ लड़ने पर बाध्य है। साथ ही उसे अपने मस्तिष्क के अन्दर इन सब चीजों के मनोगत प्रतिविम्ब के खिलाफ भी लड़ना है। उसे लड़ना है दुनियाँ को बदलने के लिये, सभ्यता को बचाने के लिये और साथ ही उसे मानव-आत्मा में पूंजीवादी अराजकता को खत्म करने के लिये भी लड़ना है। इसी के लिये कला वर्ग संघर्ष में क्रांति की पक्षधरता ग्रहण करती है। क्रांतिकारी सर्वहारा वर्ग के मानववाद को आगे लाती है। वर्तमान के गर्भ में समाजवादी व्यवस्था के भ्रूण का संवर्द्धन और पोषण करती है। समस्त प्रकार के शोषण के विरुद्ध एक ऐसा सौंदर्य बोध विकसित करती है जो इंसान को अपने मुक्ति युद्ध का योद्धा करता है जो उसके संघर्ष के लिये विकसित और पुष्ट करता है। इस सौंदर्य बोध की तह में यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि समाज को बदलने वाली, सत्ता पलटने वाली प्रत्येक प्रकार की लूट-खसोट को ध्वंस करने वाली शक्ति एक अग्नि के समान गमगमाती है। इसी संघर्षशील सौंदर्य बोध से युक्त कला मानव के मुक्ति युद्ध को पूरी तरह समर्पित हो जाती है। यद्यपि प्रत्येक कलाकृति सृजना के भिन्न प्रारूपों (उपन्यास, नाटक, कहानी, कविता) में यह सौंदर्य बोध व्यापक और संकुचित सब से प्रतिफलित होगा। यहाँ इस सौंदर्य बोध से लैस वाम लेखन की संरचना के माध्यम से मिश्रित सौंदर्य बोधात्मक समतुल्यों को प्रस्तुत करेंगे जो सौंदर्य बोध की समस्त प्रक्रियाओं को समझने की एक कोशिश मात्र ही समझी जानी चाहिये। इसे स्थानाभाव के कारण व्याख्या के दायरे में ग्रहण कर तथ्यबद्ध ही प्रस्तुत करना संभव है—प्रक्रियाः (१) पलायन-वृत्ति के खिलाफ जीवन के प्रामाणिक साक्षात्कार का प्राण युक्त अभियान है (२) जीवन के सत्य स्वरूप का यथार्थत्मक चित्रण इस कविता का आधेय है (३) वाम-सृजन-सूत्र सर्वहारा तथा अन्य संबद्ध शोषित वर्गों के बीच पनपते हैं (४) तमाम दुनियाँ के निराधार अस्वीकरण और अस्तित्वनाश की लचर दलीलों के

निस्तारक वैज्ञानिक दृष्टि को अख्तियार करती है (६) सच्चाई की निर्ममता से कुचलने वालों के विरुद्ध अपील करती है (७) क्रांति जिस प्रकार पुरानी मानव विरोधी व्यवस्था को बदले बिना नहीं छोड़ती उसी तरह वाम सृजना पुरातन सड़ी गली चैतारिकता और भोंडे सौंदर्य बोध की धज्जियां उड़ा देती है। (८) वस्तु जगत की वस्तुवादी व्याख्या और उस पर मानव की विजय को मूर्त्त करती है (९) वाम कविता या सृजना का ग्रहण किया गया सत्य वैज्ञानिक होता है (१०) इसी सृजन ने यह सिद्ध कर दिया है कि सत्य ऐतिहासिक विकास क्रम और द्वन्द्ववाद की सहायता से देखा जा सकता है (११) सत्य तक वाम क्रियात्मकता द्वारा ही पहुँचा जा सकता है। वाम सृजन सत्य की वैज्ञानिक धारता है। (१२) शाश्वत सत्य जैसी भ्रमात्मकता के चंगुल से मुक्त युगीन ज्वलंत सत्यों की सृजन सौंदर्य बोधी अभिव्यक्ति की शाश्वत सृजन को जन्म देती है। (१३) यह सौंदर्य बोध कला को मानव जाति के और विविध विकासों के बीच एक सेतु बनाता है। (१४) श्रम और सामाजिक क्रियाओं के मंथन से प्रसूत यथार्थ वाम सृजना का आधार है। (१५) सम्पूर्ण जीवन से और जीवन की सम्पूर्णता से सीधा साक्षात्कार वाम सृजना का दाय है। (१६) समस्त ह्रासमान पतनशील टेकों के स्थान पर जुझारू कर्मवाद को प्रस्तुत करती है। (१७) लोकरंजक, लोक शिक्षक, लोक निर्माता तीनों दायित्वों को वाम सृजना पूरा करती है (१८) अन्तर्राष्ट्रीय पारस्परिकता, वाम सृजना को विश्व दृष्टि कोण की देन है। मनुष्यता जहां भी पीड़ित है यातना से छटपटा रही है, मुक्ति संग्राम की स्थिति से गुजर रही है, वाम सृजना उन प्रयासों को बल देती है पोषित और संवर्द्धित करती है। (१९) भाषायी बलात्कार से मुक्त टकसाली भाषा से दूर जन भाषा और यथार्थ को सम्प्रेषित करने वाली सादृश्यवभासकी शक्ति से संपन्न सामर्थ्यवान भाषा से यह सौंदर्य बोध जनमानस की संश्लिष्ट पहचान और परख बन जाता है। (२०) परिवार, स्त्री, बच्चों, के, स्त्री के विशेषकर सम्पत्ति को तरह इस्तेमाल की बुर्जुवा कमीनगी के विरुद्ध उसे गौरव देने वाली यही कला है। (२१) वाम सौंदर्य बोध का सबसे आपत्तिजनक (पूंजीपतियों, मनोगतवादियों, प्रतिक्रियावादियों को) रूप है उसका राजनैतिक संज्ञा से लैस जंगजू-जुझारू क्रियात्मकता का उत्पादन (२२) कहा जा सकता है कि यह सौंदर्य बोध पूर्णता के साथ मनुष्य को अपने निजत्व को पालने वाली अदम्य आकांक्षा को निरंतर बलवान करता है। अन्ततोगत्वा यह सौंदर्य बोध हमारे संघर्ष का, मनुष्य की दासता, जड़ता, जघन्यता से जूझने वाली इच्छा का, कुत्सित पूंजीवादी समाज को ध्वंस करने वाली शक्ति का मानवत्व की सुरक्षा, जीवन यापन की समाजवादी आचार नीति का जबर्दस्त अनुमूल्यात्मक आदर्श है और फिर सामाजिक चेतना के महत्तम पहलू कला, समाज के रूपान्तरण में सक्रिय रचना की भूमिका के मूलाधार स्वरूप जो मनुष्य से अतिरिक्त कुछ नहीं, वह सौंदर्य। स्वयं में बुद्धि के सर्वश्रेष्ठ तत्वों से युक्त, हृदय की सम्पूर्ण भावात्मक उपलब्धियों का समंजन यह सौंदर्य बोध मनुष्य के विकास की अग्रगामी शक्ति है, शायद यह एक यथार्थ और कला के टकराव से उत्पन्न, पूर्व बोधों से उत्प्रेरित गरिमावान उत्पादकता है।

●



साहित्य-कला में आलोचना और मूल्यांकन की समस्या

डा० सदाशिव द्विवेदी

मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र से तात्पर्य है द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण से सौन्दर्य के विज्ञान का विवेचन। सौन्दर्यशास्त्र को लेकर अब तक इतनी भ्रामक बहसें हुई हैं जिनसे ऐसा आज भी संदेह होने लगता है कि मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र भी सौन्दर्य से सम्बन्धित कोई रूढ़ शास्त्र है जिसकी कभी मार्क्स ने रचना की होगी। इससे अलग एक दूसरा प्रश्न यह भी उठाया जाता है कि द्वन्द्वात्मक दृष्टि के सौन्दर्य को समझने की आखिर क्या आवश्यकता है। आवश्यकता है कि पुराणपण्डितों निरूपित भ्रम का निवारण किया जाय और वैज्ञानिक तरीके से सौन्दर्य का विवेचन करते हुये इस लफ्फाजी को समाप्त किया जाय कि 'जो आँखों को सुन्दर न लगे वह असौन्दर्य है और जो सुन्दर लगे वह सौन्दर्य है। 'बिना मार्क्सवाद का नाम लिए भी यदि हम देखें सौन्दर्य और असौन्दर्य द्वन्द्वसदा मौजूद रहता है इसलिए क्यों न द्वन्द्ववाद के आधार पर इसका निपटारा कर लिया जाय।

द्वन्द्ववाद की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसके द्वारा वस्तु को एक विशेष सत्ता या अस्तित्व के रूप में न देखकर वस्तु के अन्तसम्बन्धों तथा अंतर्विरोधों के साथ जाँचा जाता है। इसके विपरीत पराभौतिक दृष्टि में वस्तु को जड़ पदार्थ का रूप मानते हुये इसे एक अलग इकाई मानकर व्याख्या की जाती है। इन दोनों का अन्तर समझाते हुये मारिस कार्नफोर्थ ने मानव प्रकृति का उदाहरण देकर स्पष्ट किया है कि द्वन्द्वात्मक तरीके से मनुष्य की भौतिक जगत का मानकर उसकी प्रकृति को सामाजिकार्थिक परिस्थितियों से प्रभावित माना जाता है जबकि पराभौतिक दृष्टि से मनुष्य को पारलौकिक जगत का मानव (एक वचन) मान कर अलग से उसकी अखिल प्रकृति की चर्चा की जाती है। इसी क्रम में पराभौतिकशास्त्र के विद्वान महापुरुष सौन्दर्य को भी ऐसे ही किसी मानव की सम्पदा मानते हैं और इससे अलग-अलग सब कुछ को असौन्दर्य। हम केवल असौन्दर्य को ही सौन्दर्य का निषेध नहीं, बल्कि सौन्दर्य को भी असौन्दर्य

को भी असौन्दर्य का निषेध मान कर आगे बढ़ेंगे ।

द्वन्द्ववाद के आधार पर यदि देखें तो सौन्दर्य मूलतः रचना है और इसके साथ प्रतिकूलता तथा अनुकूलता का सन्दर्भ जुड़ा हुआ है। यह संवेदन शास्त्र का विषय है और इसका सम्बन्ध अनुभूति व्यापार से होने के कारण अनुभव ही इसका उपभोग है। परन्तु यह कैसी रचना है ? और अधिक स्पष्ट करने के लिए इसे उत्पादन कहा जाय तो बेहतर है। यह उत्पादन है और इसलिये इसका मानदण्ड उपभोग से सम्बन्धित है। द्वन्द्ववाद के नियम के अनुसार कोई भी उत्पादन कार्य-कारण सम्बन्धों तथा अन्तर्विरोधों के कारण होता है। उत्पादन भी इस नियम के अन्तर्गत विकास की प्रक्रिया हुआ करता है। यदि किसी वस्तु का स्वाभाविक विकास सम्पन्न होता है तो उसके ठोस स्वरूप को ही उत्पादन कहा जाता है। यदि यह उत्पादन इसी पृथ्वी अथवा जल में होता है तो प्राकृतिक परिस्थितियों का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है और इस प्रभाव के अनुरूप ही उसका आकार गठित होता है। इस प्रभाव के कारण विभिन्न परिवेश में वस्तु का विकास भिन्न-भिन्न होता है तदनुरान्त उपभोग और मूल्यांकन भी। हो सकता है किसी व्यक्ति को डार्विन के विकासवाद से असहमति हो, तो आप २०वीं सदी में, उदाहरण के बतौर, शिशु के जन्म पर विचार करें। यदि आपमें थोड़ी भी वैज्ञानिक समझ है, अर्थात् आप यह नहीं मानते कि किसी दैवी शक्ति ने अज्ञात माध्यमों से कोई शरीर गर्भ में डाल दिया है, तो आपको शिशु जन्म की प्रक्रिया में अन्तर्सम्बन्धों, अन्तर्विरोधों, प्राकृतिक परिस्थितियों और देश तथा काल के प्रभाव के साक्ष्य पर कोई सन्देह नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि शिशु के जन्म की प्रक्रियाएँ समान होकर भी देश, काल और परिस्थितियों के प्रभाव से शिशु के विकास में काफी होता है। यही स्थिति सौन्दर्य के साथ हम देखेंगे बशर्ते कि सौन्दर्य को भी एक उत्पादन या रचना के बतौर स्वीकार करें। रचना प्रक्रिया देश, काल और अन्य परिस्थितियों के कारण ही इसके अनुभवन व्यापार में वैभिन्न प्राप्त होता है। चूँकि इन्द्रियों के माध्यम से इसका संवेदन होता है इसलिये सौन्दर्य का अनुभव एक जटिल समस्या खड़ी कर देता है। हम भ्रम में पड़कर इन्द्रिय संवेदन को भी अलग रूप में देखते हैं। यह हमारा भ्रम है। द्वन्द्ववाद के अनुसार इन्द्रियाँ स्वतन्त्र नहीं रहतीं। क्योंकि इन्द्रियाँ मनुष्य की होती हैं और मनुष्य इसी भूलोक का होने की वजह से सामाजिक प्राणी है। देश, काल तथा आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप मनुष्य का विकास होता है और इसी के क्रम में उसका इन्द्रिय संवेदन भी। यही कारण है कि विभिन्न परिवेशों का मनुष्य विभिन्न वस्तुओं को विभिन्न रूपों में रखता है।

आजका मानव समाज वर्गों में विभक्त है। ये वर्ग उत्पादन सम्बन्धों के आधार पर एक दूसरे से सम्बन्ध बनाके रखते हैं और इसी के अनुरूप उनका हर वस्तु के प्रति दृष्टिकोण तैयार होता। जैसे-जैसे इन वर्गों की स्थिति बदलती है वैसे-वैसे उनके दृष्टिकोण में भी परिवर्तन घटित होता जाता है।

इस लम्बी भूमिका का तात्पर्य यह है कि द्वन्द्ववाद के आधार पर सौन्दर्य रचना है, संवेदन शास्त्र से इसका सम्बन्ध है, यह संवेदन इन्द्रियों से होता है और ये इन्द्रियाँ मनुष्य की होने के कारण मनुष्य की आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप अपना संवेदन व्यापार गतिशील रखने के लिये बाध्य होती

है। चूँकि सौन्दर्य रचना है इसलिये इसका भी रूप बदलता रहता है। संवेदन व्यापार में अनुभव कर्ता और वस्तु दोनों की अपनी अलग-अलग पराम्परा है ओर अनुभव प्रक्रिया में इस परम्परा का विशेष महत्वपूर्ण स्थान होता है। सौन्दर्य बोध के प्रश्न पर बुर्जुआ विचारधारा में बहुत बड़ा प्रश्न यह उठाया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति के बोध का स्तर क्यों अलग-अलग होता है और इस अलगाव की स्थिति से ही सौन्दर्य का कोई मानक निर्धारित नहीं हो सका है। दोनों हो बातें गलत हैं। न तो सौन्दर्य बोध प्रत्येक व्यक्ति का अलग-अलग होता है और न ही सौन्दर्यका कोई रूढ़ मानक निर्धारित किया जा सकता है। सौन्दर्य का बोध वर्ग दृष्टि के अनुरूप होता है (यहाँ क्षणिक बोध से तात्पर्य नहीं है)। वर्ग दृष्टि के अनुरूप ही सौन्दर्य और असौन्दर्य के निषेध का आपसी अन्तर्विरोध पैंदा होता है। हमें बोध के प्रश्न पर वर्गों के अस्तित्व की सच्चाई सामने रखते हुये विचार करना चाहिये। मानक यदि कोई निर्धारित भी हो तो वर्ग के अनुरूप ही हो सकता है। हर व्यक्ति का अलग-अलग मानक तो हो भी नहीं सकता।

ऊपर के अंशी में मैंने सौन्दर्य को रचना या उत्पादन कहा है। ये शब्द भ्रम पैदा कर सकते हैं इसलिए मैं स्पष्ट करने के लिए कहूँगा कि रचना का अर्थ सजीव वस्तु या जीवन है। जिस वस्तु में जीवन होता है वह वस्तु सुन्दर कही जायेगी। ऐसे ही जीवन के साथ रचना या उत्पादन की संगति बैठायी जा सकतो है। भाववादी विचारक चूंकि तथाकथित शाश्वत सौन्दर्य के उपासक होते हैं उसलिए वे सजीव अथवा भौतिक पदार्थ में प्रर्याप्त सौन्दर्य अनुभव नहो कर पाते। उनकी दलील यह होनी है कि सजीव वस्तु का रूप सर्वदा एक प्रकार का नहीं रहता, उस पर विभिन्न प्रभाव हावी होते हैं और इसलिए उसका रूप किसी समय असौन्दर्य का भी कारण बन सकता है। ऐसे विचारक पदार्थ के केवल बाह्य रूप का ही अनुभव करते हैं। चर्नीशेवस्की ने इसे और स्पष्ट करते हुए भाववाद का विरोध किया है। भाव वाद के अनुसार वास्तविक पदार्थ ठीक इसोलिए सुन्दर नही हो सकता कि वह एक सजीव पदार्थ है जिसे जोने की वास्तविक प्रक्रिया की समूची कुरूपता और दुनिया भर के सौन्दर्यनाशक तत्वों का शिकार होना पड़ता है। सजीव चेहरा क्यों सुन्दर नहीं ? क्या इसलिए कि सजीव चेहरा सदा जीवन की भौतिक प्रक्रिया के चिन्ह लिए रहता है, अणु-वीक्षण यंत्र से देखने पर वह सदा धूल-पसीने के कणों से भरा नजर आता है ? यह एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसका खण्डन करना भी बिल्कुल बेकार और अप्रासंगिक हैं।

जीवन को ही यदि सौन्दर्य माना जाय (वस्तुतः द्वन्द्ववाद के आधार पर यह सही है) तो सौन्दर्य सम्बन्धी तमाम भ्रामक धारणाओं का निराकरण हो सकता है। देश, काल, परिस्थितियों के अनुरूप दृष्टिकोण या जीवन के स्वरूप में अन्तर आ सकता है परन्तु इस मान्यता में कहीं कोई संदेह नहीं दिखाई पड़ेगा कि जीवन ही सौन्दर्य है। यहाँ समाज में सजीव जीवन का अर्थ है, ब्रह्माण्ड में अखिल जीवन का नहीं।

ऊपर कहा जा चुका है कि मनुष्य वर्गों में विभक्त है और इसलिए वर्गों के अनुरूप जीवन ही सौन्दर्य की धारणा विकसित कर सकता है। द्वन्द्ववाद के आधार पर अगले अंशों में इसी क्रम में हम सौन्दर्यशास्त्र का विवेचन करेंगे।

भाववादी सौन्दर्यबोध के अनुसार, सौन्दर्य कालातीत, अखिल जगत में व्याप्त, अनिर्वचनीय और अतुलनीय होता है। ऐसा नहीं है कि यहां किसी सुन्दर के सौन्दर्य का वर्णन है। यह सजीव सौन्दर्य का ही गुण है। परन्तु उस पदार्थ की सजीविता को स्थिर, अपरिवर्तनशील और स्पष्टतः जड़ बना दिया गया है। जिन महामनीषियों ने सौन्दर्य को कालातीत या अनिर्वचनीय बताया होगा वे भी स्वयं कालातीत और अनिर्वचनीय होंगे अर्थात् वर्गबोध के आधार पर उस कोटि के लोगों में होंगे जो उत्पादन की शक्ति न होकर भी उत्पादन साधनों पर नियंत्रण रखने वाले वर्ग से सम्बन्धित होंगे। ये महापुरुष सौन्दर्य की पहचान के लिए सुन्दर पदार्थों को पहले ही शर्त रख देते हैं (हण्टर मीड) और मानते हैं कि सौन्दर्य दृष्टि सर्वथा निर्वैयक्तिक होती है। वैयक्तिक दृष्टि से प्रमाता जहां सुन्दर पदार्थ और कलाकृति को अपने संदर्भ में देखता है, वहां निर्वैयक्तिक दृष्टि पदार्थ के रूप पर ही केन्द्रित रहती है (डा० नगेन्द्र)। पहली बात तो यह कि प्रमाता सुन्दर वस्तु को ही देखकर सौन्दर्य का बोध नहीं करता। उसके समक्ष वस्तु का स्वरूप रहता है और इसे देखकर वस्तु के विकास की प्रक्रियाओं, वस्तु के अन्तर्सम्बन्धों, वस्तु के उपभोग का भी प्रमाता के जीवन, वर्ग और उसकी परम्परा पर पूर्ण प्रभाव पड़ता है और इसके बाद प्रमाता यह निर्धारण करता है कि अमुक वस्तु सुन्दर है या असुन्दर। उदाहरण के तौर पर हम एक गरीब अंधे व्यक्ति को लें। किसी तख्त पर केवल हाथ रख कर ही बिना देखे वह उसे तख्त कहेगा और बिना सोचे समझे टटोलकर उस पर बैठने का उपक्रम करेगा। इस समूची प्रक्रिया में शायद ३० सेकेन्ड भी न लगे परन्तु इसी बीच वह व्यक्ति तख्त के स्वरूप और उसकी उपयोगिता का अनुभव कर लेगा। इसके विपरीत उसे डनलपपिलो स्वरूप और उसकी उपयोगता का अनुभव कर लेगा। इसके विपरीत उसे डनलपपिलो दिया जाय तो वह काफी देर तक उसके स्वरूप का अनुभव करेगा और संदिग्ध मन से उसकी उपयोगिता की जाँच करेगा। किसी धनी व्यक्ति के संदर्भ में तख्त और पिलो—दोनों की प्रतीति यदि विपरीत नहीं तो दूसरे ही ढंग से होगी। तात्पर्य यह है कि केवल रूप देखकर ही प्रमाता सौन्दर्य की प्रतीति नहीं करता। मनुष्य की आँखें हालांकि केवल रूप देखती हैं, परन्तु उसकी समूची चिन्तन प्रक्रिया इस दौर में जागरूक रहती है। भ्रमित अवस्था में ही केवल रूप की प्रतीति के अनुसार प्रतिक्रिया होती है। किसी सिंह को देखकर नागर मनुष्य भयभीत हो जाता है और सिनेमा के पर्दे या पिंजड़े में शेर का कोई भय क्यों नहीं रहता? क्या यहां केवल आंखों और रूप का ही सम्बन्ध है? दूसरा उदाहरण लें। कुछ लोग चांदनी रात में रस्सी को ही सांप समझ कर क्यों भाग खड़े होते हैं? क्या यहां भ्रम की स्थिति नहीं रहती? इस संदर्भ में अजायबघर का एक दूसरा घिसा-पिटा शब्द है 'निर्वैयक्तिकता'। कहा यह जाता है कि सौन्दर्य की प्रतीति के समय व्यक्ति निर्वैयक्तिक हो जाता है। तब वह रह क्या जाता है? निर्वैयक्तिकता का अर्थ सामाजिकता तो है नहीं और व्याकरण को यदि दूर किनारे रख दिया जाय तो इसे 'निरी वैयक्तिकता' कह सकते हैं। इस पर भी गल्ती रह ही जाती है। 'निरी वैयक्तिकता' उपहास का शब्द है, परन्तु इससे भी अधिक उपहासास्पद स्थिति निर्वैयक्तिकता की है:

यह भ्रम हमारे उपनिषदों की देन है—एतु सर्वेषु भूतेषु गूढ़ात्मा न प्रकाशते।

दृश्यते त्वग्र्या बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः (कठोपनिषद, ३–१२) वैदिक काल में लौकिक और अलौकिक दृष्टि निक्षेप का अन्तर्द्वन्द्व सामने आया था। यह अन्तर्विरोध मूलतः पिण्ड और ब्रह्माण्ड का था। रामायण काल में लौकिकता की ओर (सम्पत्ति) विशेष ध्यान दिया गया। कालिदास, वाणभट्ट और भवभूति पुनः उपनिषद काल की ओर प्रवृत्त हुए। आज की स्थिति सबके सामने है कि जिस वर्ग का साहित्य और कला पर तथाकथित नियंत्रण है उसकी दृष्टि में सौन्दर्य का राज 'लक्स ट्वायलेट सोप' है। यात हल्की सी होकर भी अपने आप में एक प्रामाण्य है कि सामाजिकार्थिक संघातों ने सौन्दर्य के प्रतिमानों को कितनी बेमुरौवती से तोड़ा-मरोड़ा है। इसे पश्चिम की देन कह कर बहाना नहीं बनाया जा सकता। सौन्दर्य की इतनी गलत और अवैज्ञानिक व्याख्या की गयी है कि 'निर्वैयक्तिकता' को 'निरी वैयक्तिकता' के सिवा और कुछ समझने की कोशिश गैर प्रासंगिक सी लगती है।

पराभौतिकवाद सौन्दर्य और असौन्दर्य में एक प्रकार से समन्वय का प्रयास करता है जबकि द्वन्द्ववाद इन दोनों में से एक का चयन अनिवार्य बना देता है। उत्पादन सम्बन्धों को समझने से इस चयन में सुविधा होती है। सभी प्रकार के सामाजिक उत्पादन विषय और वस्तु के सम्बन्ध से होते हैं और यह उत्पादन वस्तु को एक गति देता है अर्थात् परिवेश के साथ उसका अन्तर्द्वन्द्व बनाये रखता है। परिणामस्वरूप दोनों ही परिवर्तन की प्रक्रिया से संचालित होते रहते हैं। यह परिवर्तन ही इस बात का निर्धारण करता है कि कौन-सी वस्तु किस व्यक्ति के लिए किस परिवेश में सौन्दर्य या असौन्दर्य का प्रतिमान बन सकती है। सौन्दर्य का प्रतिमान कोई वस्तु उसी समय बन सकती है जबकि वह अपनी गति में अर्थात् अपने विकास की प्रक्रिया में हो। गतिहीन सौन्दर्य नाम की कोई वस्तु इस भौतिक जगत में नहीं है। यहाँ एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि कितनी वस्तुओं की गति हम नहीं देख पाते और उस वस्तु का रूप ही हमें आकर्षित करता है—तो क्या यह सौन्दर्य नहीं है ? सचमुच यह सौन्दर्य नहीं है। उदाहरण के लिए हम गुलाव के फूल को लें। उसी रंग-रूप का कागज का फूल हमें उतना आकर्षित इसलिये नहीं करता कि उसमें सजीवता नहीं है। गंध की बात तो बाद की है गुलाव का फूल दूर से भी अच्छा लगता है। तात्पर्य यह कि हम उसके विकास की प्रक्रिया को देखते हैं। उसकी सजीवता ही यह विकास प्रक्रिया है। उसका रूप इसलिए हमें आकृष्ट करता है।

भाववादी विचारधारा में सौन्दर्य के चार स्तर निर्धारित किए गए हैं—शरीर सौन्दर्य, चेतन सौन्दर्य, नैतिक सौन्दर्य और ज्ञान-विज्ञान का सौन्दर्य। इन स्तरों का आधार जड़ सौन्दर्य का है, चेतन सौन्दर्य का नहीं। ऐसे विचार का जनन निषेध परक दृष्टिकोण के कारण होता है। अर्थात् ऐसे विचारक सौन्दर्य को असौन्दर्य का निषेध तो मानते हैं लेकिन असौन्दर्य को सौन्दर्य का निषेध नहीं मानते। यांत्रिक द्वन्द्ववाद के दृष्टिकोण से विचार करने से भी कुछ ऐसी ही धारणाएँ पैदा होती हैं। ऐसी धारणाओं के अन्तर्गत विकास प्रक्रिया में गति का अस्तित्व तो स्वीकार किया जाता है, परन्तु यह गति अपने अंतर्संबंधों से परिचालित नहीं देखी जाती। परिणाम यह होता है कि चेतन सौन्दर्य का विवेचन करते करते जड़ विचार पैदा हो जाते हैं। सौन्दर्य निर्धारण में ऐसा बहुधा ही होने की आशंका रहती है इसलिए विशेष सावधानी की जरूरत है।

सौन्दर्य के स्तर वर्गों की गति के अनुसार और सामाजिक विकास अन्तर्गत तैयार होते हैं, इससे अलग नहीं।

हमारी गड़बड़ धारणाएँ गलत मान्यताओं के कारण पैदा होती हैं। इस सन्दर्भ में प्रथमतः हमारा ध्यान जीवन में साहित्य और कला के अस्तित्व की ओर जाता है जहाँ साहित्य या कला को जीवन से भी दिव्य मानकर उसकी अलग से सत्ता स्थापित की जाती है। हम यह मानकर चलेंगे कि साहित्य या कला में जीवन की सजीवता से बढ़कर दिव्यता नहीं हुआ करती और यदि किन्हीं परिमाण में वहाँ ऐसा दिखाता है भी तो सजीव जीवन का चित्रण होने के कारण। दिव्यता का सौन्दर्यबोध तो हम समानधर्मा वस्तुओं की तुलना में ही करते हैं और तब कला की तुलना में अनायास भी जीवन का सौन्दर्य हमें अधिक आकृष्ट करता है। जीवन सौन्दर्य के आधार पर कलागत सौन्दर्य की यदि हम परख करें तो कई समस्याएँ बहुत सरलता से हल हो जाती हैं। उदाहरण के लिए हम शरीर सौन्दर्य पर विचार करें। इस संदर्भ में एक तथ्य बहुत सही है, परन्तु साधारणतया इस पर आपत्ति की जाती है और यह तथ्य है—श्रम के आधार पर सौन्दर्य का विकास। आज हम बुर्जुआ वर्ग की सौन्दर्य प्रतियोगिताओं की बात करें या सामान्य तौर पर शरीर सौन्दर्य की, हर जगह स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट-शरीर ही सुन्दर शरीर का एक मापदण्ड बन गया है। यह दूसरी बात है कि भूमिहीन किसान बाला को इन प्रतियोगिताओं में स्थान नहीं मिलता। एक निर्धारित वय तक दोनों वर्गों की युवतियों को सामने रखें तो श्रम सौन्दर्य के विकास पर प्रभाव स्वभावतः ही स्पष्ट हो जाता है। कमनीयता, कोमलता या अन्य चीजें रूपगत अथवा सतही दृष्टि के मानदण्ड हैं और प्राथमिक स्तर पर हमारी दृष्टि भले ही रूप या सतह सौन्दर्य का भेद न करें, मूलतः वह दृष्टि श्रम चेतना की ओर ही उन्मुख रहती है। यही कारण है कि बबूल से अधिक बरगद के पेड़ की छाया या किसी बरसाती गड्ढे से गंगा नदी का जल हमें अधिक आकृष्ट करता है। यह रूपगत या सतही सौंदर्य बोध के कारण नहीं होता। हम जिस किसी भी वस्तु के सौन्दर्य पर विचार करते हैं तो हमारी दृष्टि उस वस्तु के सम्पूर्ण स्वरूप और उसके ऐतिहासिक अस्तित्व के साथ ही गतिशील होती है। इसीलिए हम कई अन्य समानधर्मा वस्तुओं को तुलना में तत्काल रख कर एक मानदण्ड निर्धारित करने लगते हैं। अजन्ता, एलोरा या सिन्धुघाटी की कलाकृतियों को हम सुन्दर कहते हैं तो उस अवधि में कलाकार के श्रम का सौन्दर्य देखते हैं। वह हमें आकृष्ट केवल इसलिए करता है उसमें एक विशेष स्वरूप को जीवंत बनाने के लिए श्रम किया गया है और जीवंतता की आवश्यकता से भरी कला ही 'दिव्य' हुआ करती है।

आलोचना या मूल्यांकन की समस्या प्रत्यक्षतः प्रतिमान या मानदण्डों की समस्या है और इसे बिम्बों तथा प्रतीकों की समस्या मानकर विश्लेषित किया गया है। भाववादी विचारधारा के अंतर्गत प्रतिमानों या मानदण्डों का प्रधान-स्रोत मनुष्य का विवेक है और यह विवेक ही मनुष्य के मन में सौन्दर्यबोध जागृत करता है। दूसरी ओर, द्वन्द्ववाद के आधार पर उत्पादन सम्बन्ध और सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियाँ ही प्रतिमान या मानदण्डों की प्रधान स्रोत हुआ करती हैं जो विभिन्न वस्तुओं की तुलना में उसके स्वरूप और इतिहास का विश्लेषण करते हुए सौन्दर्य का वैज्ञानिक बोध हमारे समक्ष प्रस्तुत कर देती है। और अधिक

स्पष्ट करने के लिए हम देखें तो पता चलता है कि साहित्य या कला में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से वर्गीय मनोविज्ञान ही चित्रित होता है बहुत सी बातें, बहुत सारे वर्ग मिश्रित होकर रचनाकार के मन पर प्रभाव डालते हैं। मनोविज्ञान के आधार पर हम देख सकते हैं कि अमुक वर्ग का जीवन स्पष्ट होता है। यह तो अब प्रायः निश्चित है कि साहित्य या कला में समाजहीन व्यक्ति का चित्रण नहीं हो सकता है और यदि होता है तो वह साहित्य या कला है हो नहीं। हाँ, ऐसा हो सकता है कि कोई एक पात्र या चरित्र अपने पूरे वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। घोर प्रतिक्रियावादी कलाकार भी यदि बन्द कमरे में रचना करता है, बाहर की ढोल की आवाजों से प्रभावित होगा ही। उसे सूर्य की रोशनी, हवा या अन्य चीजों के लिए कमरे से बाहर अवश्य निकालना होगा। तात्पर्य यह है कि रचना की वस्तु मूलतः सामाजिक स्तर की हुआ करती है। रचनाकार रचना से सामाजिक जीवन का सन्दर्भ जोड़ता है और इसके बाद वह रूप का गठन करया है यहाँ पुनः साहित्य और कला के सन्दर्भ में रूपगत या सतही दृष्टि की समस्या सामने आ जाती है। हमें देखना यह चाहिये कि विषय वस्तु पर कृतिकार की वैचारिकता का क्या प्रभाव है, यह नहीं कि स्वरूप पर कृतिकार के भाव का क्या असर है।

कार्ल मार्क्स ने 'दि इकोनामिक एण्ड फिलासफिक मैनुस्क्रिप्टस ऑफ १८४४ और १८५७-५८ तथा 'ए कांट्रिब्यूशन टु ए क्रिटिक ऑफ पालिटिकल इकोनामी' में बताया है कि मनुष्य भी सौन्दर्य नियमों के क्रम में वस्तु की रचना करता है। इन दो ग्रन्थों के अध्ययन से यह साफ हो जाता है कि रचना के दौरान ही सौन्दर्य का विकास होता है। मनुष्य इन नियमों के क्रम में रचना इसलिए करता है कि वह रचनात्मक प्राणी है और कला में वह रचना-क्षमता का भरपूर अनुभव करता है। प्रश्न उठाया जा सकता है कि कला के साथ ऐसी संगति क्यों है? उत्तर के लिए ज्यादा भटकने की आवश्यकता नहीं। मनुष्य की रचनाधर्मिता में कला एक स्वावत्तशासित क्षेत्र है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि इस पर किसी का नियंत्रण नहीं रहता या इसका उपयोग भी निर्बाध है। कला की रचना सामाजिक परिस्थितियों के माध्यम से समाज में ही होता है। तात्पर्य यह है कि कला का जन्म सामाजिक परिस्थितियों 'से' नहीं बल्कि 'में' होता है। समाज का परिप्रेक्ष्य ग्रहण करने से कला सम्भावना का रूप धारण करतो है। यह सम्भावना नये यथार्थ की रचना से संबंधित होती है। कलाकार इस रचना में कला को मानवीय भूमिका प्रदान करता है। 'क्यूबा शोशलिस्त' के ३०वें अंक में क्लाउडिन ने इसी सन्दर्भ में मूल्यांकन किया है। कला के इस चरित्र के कारण पूँजीवाद कलागत उत्पादनों का विरोध करता है अर्थात् पूँजीवाद उस कला के द्वेषभाव रखता है जो स्वायत्त होकर भी सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार विकसित होती है। पूँजीवाद कला की स्वायत्तता बरकरार रखना चाहता है। 'कला कला के लिए' का आंदोलन इसी अन्तर्विरोध से पैदा हुआ था। पूँजीवाद का यह विरोध या द्वेष उत्पादन सम्बन्धों के कारण पैदा होता है।

सौंदर्यशास्त्र के उपर्युक्त वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार साहित्य और कला के मूल्यांकन में महत्वपूर्ण समस्या विषयवस्तु और शिल्प की एकता का है। प्लेखनोव ने इस समस्या पर गंभीरता से विचार किया है, हालांकि कला और सौंदर्यानुभूति के सामाजिक चरित्र को उद्घाटित करने में वे विफल हुये थे।

विषयवस्तु और शिल्प के बारे में हम भी बर्नस्टेन या काउत्सकी के समान भुलावा देते हैं और संकीर्ण दायरे में सोचने लगते हैं कि विषयवस्तु या शिल्प पर आर्थिक परिस्थितियों का क्या प्रभाव पड़ा है। मार्क्सवाद के अनुसार कला या साहित्य की आलोचना करते समय इस प्रभाव को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता, परन्तु यही मुख्य अंतर्विरोध नहीं है। इससे अधिक महत्व की चीज है—रचना और वर्ग संघर्ष का अन्तर्विरोध। इसके बावजूद आलोचना के संदर्भ में वस्तु या शिल्प तथा मूल्यांकन के सन्दर्भ में बिम्ब और प्रतीक ही प्रत्यक्षतः महत्वपूर्ण रहते हैं। वस्तु और शिल्प की संगति ही सौंदर्य बोध पैदा करती है। कारण, सौंदर्य एक रचना है जिसमें श्रम का सर्वाधिक महत्व रहता है। हालांकि बाह्य रूप में रचना का ही रूप ही हमें आकृष्ट करता है, परन्तु इसकी पृष्ठ-भूमि में वस्तु के साथ उसकी संगति भी कार्य करती रहती है। कतिपय संदर्भ में रचना का रूप ही इतना अधिक सशक्त होता कि रूप के दमक में हम यह भूल जाते हैं कि यह रूप किस संगति के आधार पर शोभित हो रहा है। आज के युग के रूप में सौंदर्य को ही अधिक महत्व का विषय माना जा रहा है, क्योंकि श्रम के महत्व ने उत्पादन कौशल को प्रतिस्पर्धा का विषय बना दिया है। परन्तु वैज्ञानिक तरीके से देखने पर हमें रूप के भुलावे में नहीं पड़ना चाहिये। आलोचक वस्तु और शिल्प की संगति को महत्व देना है, नहीं तो वह रूपवादी दृष्टि के भ्रम का खतरा उठा लेगा। उदाहरण के लिये हम किसी तथाकथित ललित सौंदर्य से परिपूर्ण साहित्य रचना पर विचार करें, उदाहरण के लिये, हम कालिदास के लालित्य को सामने रखें। इस तरह के ढेर सारे उदाहरण गिन सकते हैं। घोर प्रतिक्रियावादी या जनविरोधी कथ्य का रूप भी अपने आप में अत्यन्त आकर्षक और हमें अपने मोह में फँसा सकता है। तब हमें यह रेखांकित करना ही पड़ेगा कि अमुक 'कथ्य' अमुक 'कारण, से जन विरोधी है और यहाँ साहित्य की सामाजिकता की अवहेलना की गयी है। आलोचना की विपरीत दृष्टि हीगेल-पंथियों ने उस समय विकसित की थी जब केवल ललित कला को ही सौंदर्य दर्शन का क्षेत्र माना गया था। परन्तु आज भौतिक उत्पादन की वस्तुएँ भी इस दर्शन के क्षेत्र में विचार का विषय बन गई हैं। प्राकृतिक और मानव सौंदर्य के साथ आज भौतिक उत्पादन के सौंदर्य का जुड़ जाना सभ्यता के विकास का इतिहास है और यह विकास अपने आप में स्वयं सौंदर्य का बोध कराता है। यह सौंदर्य विज्ञान से सम्बद्ध है। यहाँ विज्ञान का अर्थ 'विशेष ज्ञान' न होकर 'उत्पादन-विकास की पृष्ठभूमि में बौद्धिक शक्ति' है। सौंदर्य निरूपण के सन्दर्भ में यह एक भ्रामक शब्द है, क्योंकि विज्ञान के विकास में भौतिक उत्पादन की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। पूंजीवाद इसीलिये विज्ञान को सहारा देता है, उस अनुपात में कला को नहीं। कार्ल मार्क्स इसी कारण पूंजीवाद में भौतिक उत्पादन को कला या कविता का विरोधी मानते हैं (थियरिज ऑफ सरप्लस वेल्यू, पृ० २८५)। कला भौतिक उत्पादन से उतना अधिक नियन्त्रित नहीं रहती जितना कि अर्थव्यवस्था से पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में कला व्यवस्था के सम्बन्धों का माध्यम होती है और इसीलिये उसकी वरीयता उत्पादन से निम्न होती है। यह अर्थव्यवस्था उत्पादन के अनुपात में कला को विकसित ही होने देती। हम टॉलस्टाय या पिकासो की उत्कृष्टता की तुलना में उनके जीवनकाल में उत्पादन की उत्कृष्टता को सामने रख कर अपना

अध्ययन आगे बढ़ा सकते हैं।

किसी भी कृति का सौंदर्य-विषय उस वस्तु की स्वतंत्रता और रचनात्मकता में आश्रित रहता है। भारतीय कला और साहित्य का अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि आज जो कुछ भी हमारे संग्रहालयों या पुस्तकालयों में प्राचीन सौंदर्य शुरक्षित है, वह अधिकांशतः मध्यकाल की देन था। मध्यकाल में कला और साहित्य की इतनी उत्कृष्टता का प्रधान कारण यह था कि उस समय चाहे जो व्यक्ति भी कलाकार हो सकता था और इच्छित कलाकृति की रचना कर सकता था। उसका श्रम स्वतंत्र था, इसलिए कि, कला के स्वायत्त क्षेत्र का अस्तित्व था। यह दूसरी बात है कि 'अशोक से स्तंभ' या 'पृथ्वीराज रासो, को राज्याश्रय प्राप्त हुआ। श्रम की स्वतंत्रता से उस अवधि में कलाकार की रुचि और उसकी अनुभूति भी वैशिष्ट्ययुक्त थी। उस समय राजाओं के हाथों वस्तु के रूप में श्रम का विक्रय नहीं होता था। पूंजी (खंड-१) में मार्क्स ने बताया है कि "सूती कपड़े के मिल में मजदूरों को अपनी वैचारिक समृद्धता और परिष्कृत तथा विकसित सौंदर्यानुभूति के बावजूद अपनी 'पंच-अनुभूतियों का भुगतान' कर देना पड़ता है (मास्को, १९६५, पृ० ४२७)। आज पूंजीवादी समाज में यह 'भुगतान' रोजमर्रा की चीज हो गया है। सौंदर्य निर्धारण में हमें बड़ी सावधानी की जरूरत है क्योंकि, जैसाकि मार्क्स ने कहा है," खनिज पदार्थों का व्यापारी इन पदार्थों में व्यापारिक मूल्य देखता है, खनिजों की विशिष्ट प्रकृति और उनके सौंदर्य को नहीं (इकनामिक इंड फिलासफिक मैनुस्क्रिप्टस आफ १८४४, पृ० १०१)।

मार्क्सवाद के अनुसार साहित्य और कला भी तो सामाजिक उत्पादन ही है और इसकी रचना में रचनाकार अपने पूरे कौशल के साथ उपस्थिति रहता है। इस सन्दर्भ में सौन्दर्य भी समाज की नब्ज हो जाता है और तब हमें यह देखना जरूरी हो जाता है कि रचनाकार की अंतदृष्टि वस्तु के सौन्दर्य की धड़कन पहचाने में कहाँ असफल और कहाँ सफल है। वह तो अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा, गहराई और व्यापकता के साथ सौन्दर्य के साथ जुड़ता है। ऐसे भी रचनाकार हैं जो भयावह या बुरे सपनों, मनोविकारों में ही सौन्दर्य सृष्टि करते हैं। उनमें न तो भयावह को बदलने की स्पृहा रहती है और न ही सौन्दर्य का स्वागत करने की। उनका दृष्टिकोण संकीर्ण होता है, क्योंकि उनमें किसी प्रकार की वैचारिकता या जीवन दर्शन नहीं रहता। कला तो अनुबन्ध की अभिव्यक्ति है, अपने अहम् को भूलना है, जीवन के प्रति सजीव संवेदना है। यही सौन्दर्य है और मूल्यांकन के दौरान इसका बराबर ध्यान रखा जाना चाहिए।

एक दूसरी समस्या यह आती है कि साहित्य या कला के सन्दर्भ में सौन्दर्य का मूल्य किन बातों पर निर्भर करता है। मार्क्सवादी दृष्टि से विचार करने पर सामाजिक वर्गों की रुचि और विभिन्न परिस्थितियों में उनके परितोष की भावना से ही मूल्यांकन का कोई निर्णय किया जा सकता है। वर्ग दृष्टि के अनुरूप ही व्यक्ति का परितोष होता हैं। यह परितोष यहाँ पुनः आनन्द और सौन्दर्य का अंतर्द्वन्द उपस्थिति करता है। मूल्य की हमेशा निर्णयात्मक भूमिका हुआ करती है। हीगेलवादियो के अनुसार विभिन्न मूल्यों अर्थात् वैयक्तिक-सामाजिक और आध्यात्मिक-भौतिक का समन्वय होता है जो मूल्यांकन पद्धति को गड्डमड्ड कर देता है। इस दृष्टि से विचार करते समय हमें वस्तु की स्थिति के अंतर्गत

मौजूद अन्तर्विरोध की पहचान नहीं हो पाती है। प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में ये मूल्य प्रयोजन और फल के आधार पर निर्धारित हुआ करते थे। इसी पृष्ठभूमि में वहां स्थाई और अस्थाई मूल्य निश्चित किये गये हैं। परन्तु ऐसा मान लेने से मनुष्य की हर क्षणिक क्रिया का अलग-अलग मूल्य निर्धारण करना पड़ेगा।



